अथर्ववेद-भाष्यम्

(आध्यात्मिक व्याख्या)

काण्ड १८-१९

ओ३म्

ASG
R
२२५
विश्व-अ

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२९५
विषय संख्या विश्व-अ आगत नं० 143867
लेखक विश्वनाथ विद्यालंकार
शीर्षक अथर्ववेद-भाष्यम्
(आध्यात्मिक व्याख्या) काण्ड १८-१९

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

R
२२५
विश्व-अ

143867

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान
आदि न लगायें।

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या..........२१५ विद्व-अ   आगत संख्या 143867

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

215,VIS-A
143867

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड १८,१९ कर आध्यात्मिक व्याख्या]

भाष्यकार-

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

143867

प्रकाशक-

रामलाल कपूर ट्रस्ट

ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क

जि० सोनीपत- १३१००१

(हरियाणा)

215,VIS-A

143867

ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

प्रकाशक-
रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो॰ शाहपुरतुर्क
(सोनीपत, हरियाणा)

R
225
1925-37

द्वितीय वार- ५००. प्रति
फाल्गुन, सं॰ २०६२,
मार्च, सन् २००६

मूल्य- १००.००

मुद्रक-
राधा प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली

भूमिका

काण्ड अठारह

(१) यम-यमी-संवाद

अथर्ववेद के १८ वें काण्ड में ४ महासूक्त हैं। प्रत्येक महासूक्त अनुवाकरूप है। काण्ड के प्रारम्भ के १-१६ मन्त्रों में विवाह और नियोग की चर्चा संवादरूप में हुई है, और काण्ड के शेष भाग में प्रायः पितरों का वर्णन है। पितरों की उत्पत्ति यतः विवाह और नियोग पर निर्भर है, इसलिए १८ वें काण्ड के प्रारम्भ में विवाह और नियोग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन अत्युपयुक्त प्रतीत होता है। यह विवाह और नियोग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन यम और यमी के परस्पर संवादरूप में उपस्थित किया गया है। यम और यमी कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। संवाद के लिये ये काल्पनिक व्यक्ति ही हैं, जैसे कि नाटकों कहानियों और उपन्यासों में "पात्र" (actors) काल्पनिक होते हैं। ऐतिहासिक पक्षवाले भी विवस्वान् अर्थात् सूर्य से यम और यमी की उत्पत्ति मानते हैं। सूर्य अमानुष है, इसलिये सूर्य से मानुषरूप पुत्र और पुत्री की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसलिये ऐतिहासिक पक्ष में भी यम और यमी मानुषरूपवाले व्यक्ति नहीं सिद्ध होते। सम्भवतः ऐतिहासिक पक्ष में यम और यमी—दिन और रात हों, जिन की कि उत्पत्ति सूर्याश्रित है। यम और यमी के संवाद का वर्णन यतः ऐतिहासिक ढंग के शब्दों में प्ररोचनार्थ किया गया है, इसलिये ऐतिहासिक पक्षवालों ने सम्भवतः इस संवाद को ऐतिहासिक कहा हो।

संवाद के मन्त्रों में यम-यमी को भाई और बहिन कहा गया है (१८।१।१२,१४), यह दर्शाने के लिये कि भाई और बहिन में न तो परस्पर विवाह ही होना चाहिये, और न नियोग ही। यम तो ब्रह्मचर्यपूर्वक यम-नियमों का पालन और विद्याध्ययन कर स्नातक हुआ है (१८।१।१), और

यमी अपठिता प्रतीत होती है। इसलिये यमी विवाह और नियोग के वैदिक सिद्धान्तों से अपरिचित है। संवाद में यमी पहिले तो "**सखायं सख्या ववृत्याम्** (१८।१।१) द्वारा "**सखे सप्तपदी भव**" के विधानानुसार, तथा "**पितुर्नपातमादधीत वेधाः**" (१८।१।१) द्वारा पुत्रोत्पादन के निमित्त, यम के प्रति अपने साथ विवाह का प्रस्ताव प्रस्तुत करती है, और तत्पश्चात् नियोग का। परन्तु यम यतः विवाह और नियोग के वैदिक सिद्धान्तों से परिचित है, इसलिये वह इन दोनों प्रस्तावों का प्रत्याख्यान करता है।

१८ वें काण्ड के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र में विवाह का प्रस्ताव है, और मन्त्र ३ में "**जन्युः पतिः**" के रूप में नियोग का प्रस्ताव है।

अथर्ववेद के विवाह-सम्बन्धी मुख्य सूक्तों (१४।१-२) में पति के विशेषण के रूप में कहीं भी "**जन्युः**" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। "**जन्युः**" का अभिप्राय प्रतीत होता है—केवल सन्तानजनन के लिये पति-पत्नी रूप का सम्बन्ध, और सन्तानजनन के पश्चात् इस सम्बन्ध का विच्छेद। इसलिये "**जनयतीति जन्युः**" यह निर्वचन अधिक उचित प्रतीत होता है। "**यजि-मनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्**" (उणा० ३।२०) में यज्यु मन्यु शुन्ध्यु दस्यु—इन सब के निर्वचन कर्तृकारक में हुए हैं, इसलिये "जन्यु" का निर्वचन भी कर्तृकारक में सम्भावित है। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि कोषकारों ने "जन्युः" का अर्थ धाता अर्थात् धारण करनेवाला भी किया है, जो कि कर्तृकारक में उपपन्न होता है। धाता अर्थात् विधाता सभी जनित पदार्थों का जनयिता है, इसलिये वह भी जन्यु है। यमी कुल-परम्परा के बनाए रखने के लिये, पुत्रोत्पादन के निमित्त विवाहार्थ युक्ति देती है कि एक ही मातृगर्भ में सहवास के कारण हम दोनों का दाम्पत्य-सम्बन्ध ईश्वरकृत हो चुका है (१८।१।५)। अतः व्यावहारिक दृष्टि से भी जन्म के उपरान्त हमें विधिपूर्वक विवाह कर लेना उचित है। साथ ही इस सम्बन्ध में यमी, दिन-रात और द्युलोक-पृथिवीलोक के विवाह को दृष्टान्तरूप में भी उपस्थित करती है (१८।१।१०)। दिन-रात भी तो एक ही पिता अर्थात् सूर्य की सन्तानें हैं, और इस नाते भाई-बहिन हैं, तथा विवाह-सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध हैं। और यही स्थिति द्युलोक और पृथिवी की है। ये भी परमेश्वररूपी पिता और प्रकृतिरूपी माता की सन्तानें हैं। "**द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह संभवाव, प्रजामाजनयावहै**"(अथर्व० १४।२।१७) द्वारा द्युलोक और पृथिवी में पति-पत्नी भाव वेदोक्त है। इसलिये यमी अपने आपको और यम को

दार्ष्टान्तरूप में उपस्थित कर परस्पर विवाह-सम्बन्ध चाहती है। यम यतः ब्रह्मचर्याश्रम में यम-नियमों का पालन कर, और ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर, विवाह के वैदिक विधानों को जानता है, इसलिये संवाद-मन्त्रों (१८।१।१-१६) में वह भाई-बहिन के परस्पर विवाह को निषिद्ध मानकर विवाह प्रस्ताव को ठुकरा देता है।

यमी इसलिये "**तन्वमाविविश्याः** (१८।१।३), तथा "**तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि**" (१८।१।१२) द्वारा यम के साथ नियोगरूप में तानविक अर्थात् शारीरिक सम्बन्ध का प्रस्ताव प्रस्तुत करती है, ताकि वह अभिलषित सन्तान प्राप्त कर सके। इसलिये मन्त्र में "**त्यजसम्**" (१८।१।३) पद पठित है। तथा "**काममूता**" (१८।१।१२) द्वारा पुत्रकामना से बंधी हुई यमी का वर्णन हुआ है, और "**त्यजसम्**" द्वारा पुत्र-प्राप्ति का वर्णन हुआ है। सायणाचार्य ने "**त्यजसम्**" का अर्थ किया है—"**त्यागं गर्भात् निर्गमनमुत्पत्तिम्**"। साथ ही "**पितुर्नपातमादधीत वेधाः**" (१८।१।१) द्वारा भी यमी सन्तान की कामना के निमित्त ही विवाह का प्रस्ताव रख रही है, दूषित कामुकता की भावना से नहीं। जगदुत्पत्ति के निमित्त परमेश्वर में भी तो कामना पैदा हुई थी। यथा—"**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि**"॥ (अथर्व० १९।५२।१)। तथा "**सोऽकामयत**" (बृहदा० उप० अ० १। ब्रा० २। खं० ६-७), तथा (अ० १। ब्रा० ४। खं० १७)। विवाह और नियोग द्वारा सन्तान के निमित्त उत्पन्न कामना सात्विक है, और केवल भोग के लिये की गई कामना राजसिक-तामसिक है। इसलिये अथर्व० ९।२।२५ में शिवरूप और पापरूप द्विविध "काम" का वर्णन है।

परन्तु यम, यमी के दोनों प्रस्तावों को, भाई-बहिन के समान रजवीर्य होने के कारण, परस्पर के विवाह और नियोग को निषिद्ध मानता है (१८।१।२) तथा वह यह भी कहता है कि भाई-बहिन का वैवाहिक सम्बन्ध विज्ञान के विरुद्ध (१८।१।२), वैदिक प्रथा के विरुद्ध (१८।१।४), सच्चाई के विरुद्ध (१८।१।६), प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध (१८।१।९), तर्कासम्मत और हार्दिक भावनाओं के विरुद्ध (१८।१।१५), तथा पापकर्म है (१८।१।१४)।

'यमी' शब्द में जो "**पुंयोगादाख्यायाम्**" (अष्टा० ४।१।४८) द्वारा ङीप् प्रत्यय हुआ है, इस का भी कारण यह है कि यमी, एक मातृगर्भ में

सहवास के द्वारा, अपने आप को यम की पत्नी समझती है (१८।१।५), इसलिये पुंयोग उपपन्न हो जाता है। नियोग में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध केवल गर्भाधान के लिये होता है, और विवाह में यह सम्बन्ध स्थिर होता है। उपर्युक्त वर्णन द्वारा यह निश्चय किया गया है कि भाई और बहिन में, तथा रज-वीर्य की समानता में अन्यत्र भी, स्त्री-पुरुष का विवाह और नियोग सर्वथा निषिद्ध है। इस यम-यमी-संवाद में विवाह और नियोग सम्बन्धी प्रस्ताव में कहीं भी अश्लीलता प्रकट नहीं है। यम-यमी के आधिदैविक स्वरूपों के सम्बन्ध में श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक विद्यामार्तण्ड द्वारा रचित ऋग्वेद दशम मण्डल के दसवें सूक्त का भाष्य भी मनन के योग्य है। प्रकाशक है—"परोपकारिणी सभा", अजमेर।

(२) पितरः

संस्कृत-साहित्य में पितृ शब्द के बहुवचन में **"पितरः"** प्रयुक्त होता है। परन्तु हिन्दी में विभक्ति रहित 'पितर' शब्द प्रयुक्त होता है। अथर्ववेद के १८वें काण्ड में मृत-पितरों का वर्णन अल्प है, और जीवित पितरों का वर्णन अधिक हुआ है। पितरः का अर्थ है—"रक्षक = रक्षा करनेवाले"। जीवित पितरों में तो रक्षा करने का सामर्थ्य है, मृत पितरों में नहीं। इस लिये भूतपूर्व संज्ञा द्वारा मृत पितरों को भी 'पितर' कहा गया है। पितरों के सम्बन्ध में निम्नलिखित वर्णन उन की जीवितावस्था का निदर्शक हैं। यथा—पितर बर्हिः अर्थात् कुशा के आसनों पर आकर बैठते हैं,—**"बर्हिषदः"**(१८।१।४५,५१,५९); वे जानु टेककर अर्थात् चौकड़ी लगाकर बैठते हैं,—**"आच्या जानु"** (१८।१।५२); वे गृहस्थी-यजमान के दाहिनी ओर बैठते हैं,—**"दक्षिणतः"** (१८।१।५२); आए हुये पितरों को मैं गृहस्थी-यजमान पहिचानता हूं, वे यहां आए हैं, और कुशासनों पर विद्यमान हैं, उन्होंने अन्न का सेवन किया है,—**"आहं···अवित्सि, इहागमिष्ठाः, बर्हिषदः, भजन्त पित्वः"** (१८।१।४५); हे पितरो! हमारी प्रार्थनाओं को सुनिये,—**"आ शृणोतन"** (१८।३।१९); इन कुशासनों पर बैठकर प्रसन्न हूजिये और हमें प्रसन्न कीजिये,—**"आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम्"** (१८।३।२०); आप वैदिक-सूक्तों का कथन करने-वाले हो,—**"उक्थशासः"** (१८।३।२१); पुत्रों के प्रति अपनी उस सम्पत्ति का विभाग प्रदान करो,—**"पुत्रेभ्यस्तस्य वस्वः प्रयच्छत"** (१८।

३।४३); हे पितरो ! इस घर में आइये और अपने-अपने स्थान पर विराजिये,—"**पितर एह गच्छत सदःसदः सदत**" (१८।३।५४); आप उत्तम स्नेही हैं, सुपथप्रदर्शक हैं, श्रेष्ठ नैतिक जीवनोंवाले हैं,—"**सुप्रणीतयः**" १८।३।५४); आप हविष्यान्नों का भक्षण कीजिये,—"**अत्तो हवींषि**" (१८।३।४४); वे पितर यहां आएं, हमारी प्रार्थनाएं सुनें, और हमें सदुपदेश दें,—"**त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु**" (१८।३।४५); पितरों ने भोजन किया है, वे प्रसन्न हुए हैं, प्रिय गृहस्थों को सदुपदेश देकर उन के अज्ञानों और अवगुणों को निश्चय से झाड़ फैंका है,—"**अक्षन्नमीमदन्त अव प्रियाँ अधूषत, अस्तोषत**" (१८।४।५१); हे पितरो ! जो तुम यहां अर्थात् हमारे घरों में आए हो, जो तुम कि जीवित पितर हो—(१८।४।८६, ८७)। इन तथा ऐसे ही अन्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता है कि ऐसे पितर जीवित हैं, जिनका कि सत्कार पितृयज्ञ में गृहस्थी करते हैं।

तथा इस सम्बन्ध में यह भी जानना चाहिये कि पितरों का आह्वान केवल तीन पीढ़ियों तक के पितरों का किया जाता है, इन से ऊपर की पीढ़ियों का आह्वान नहीं किया जाता। यह क्यों ? कारण यह है कि वेदानुसार मनुष्य की आयु १०० वर्षों की है,—"**शते शरत्सु नो पुरा**" (१८।२।३८-४५); "**शतशारदाय**" (१८।४।५३)। इस से कम या अधिक आयु अपवादरूप है,—"**ज्योग् जीवेम शरदः पुरूचीः**" (१८।२। २९); "**भूयश्च शरदः शतात्**" (संध्या-मन्त्र)। वैदिक दृष्टि में ब्रह्मचर्य को २४वें वर्ष की आयु में समाप्त कर, स्नातक बनकर पुरुष गृहस्थ में प्रवेश करता है, और स्वस्थावस्था में २५वें वर्ष की समाप्ति तक अपत्य के उत्पन्न हो जाने पर उस का पिता या तो वानप्रस्थी हो जाता है,— "**अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्**" (मनु० ६।२), या संन्यासी बन जाता है,—"**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**" (जाबालोपनिषद्), और गृह-त्याग कर देता है। गृहस्थी पुरुष को "**पञ्चमहायज्ञ**" करने होते हैं, जिन में पितृयज्ञ भी एक महायज्ञ है। इस पितृयज्ञ में वनस्थ तथा संन्यस्त पितरों का आह्वान कर उनका अन्नपानादि द्वारा सत्कार किया जाता है। गृहस्थी की जब प्रथम सन्तान पैदा हुई, तब गृहस्थी की आयु लगभग २५ वर्षों की होगी, तदनुसार गृहस्थी के पिता की आयु ५० वर्षों की, पितामह की आयु ७५ वर्षों की, तथा प्रपितामह की आयु १०० वर्षों की सम्भावित है। इसीलिये पितृयज्ञ अर्थात् श्राद्ध में तीन पीढ़ियों के पितरों के

आह्वान और सत्कार का वर्णन उपयुक्त होता है। तीन पीढ़ियों से ऊपर के पितरों का जीवित रह सकना यत्र कुत्रचित् ही सम्भव है, अपवादरूप ही है। इस लिये तीन पीढ़ियों से ऊपर के पितरों का आह्वान वेदों में नहीं मिलता। अतः परिणाम यह हुआ कि १०० वर्षों तक के, अर्थात् जीवित पितरों का ही आह्वान तथा सत्कार वैदिक दृष्टि में यथार्थ है, तथा तर्कसम्मत है। इसीलिये १८वें काण्ड में आह्वान तथा सत्कार जीवित पितरों का ही हुआ है। १८वें काण्ड में तीन पीढ़ियों के जीवित पितरों का ही आह्वान तथा सत्कार वर्णित है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण हैं। यथा—"**ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः**" (१८।३।४६); "**एतत् ते प्रततामह स्वधा**", "**एतत् ते ततामह स्वधा**", "**एतत् ते तत स्वधा**" (१८।४।७५-७७); "**पितरं पितामहान् प्रपितामहान्**" (१८।४।३५)। इन तीनों प्रमाणों में केवल तीन पीढ़ियों के पितरों का ही वर्णन हुआ है, जिन का कि १०० वर्षों की आयु की अवधि तक जीवित रहना सम्भव है। (१८।४।७५-७७) के मन्त्रों में **प्रततामह=प्रपितामह। तता-मह=पितामह। तत=तात=पिता।**[1]

(३) जातवेदाः, जातवेदस

१८ वें काण्ड में यत्र-तत्र **जातवेदाः** और **जातवेदसः** का वर्णन हुआ है। आधिदैविक दृष्टि में 'जातवेदसः' का अर्थ है—आहवनीय गार्हपत्य तथा दक्षिण अग्नियां। मृत-पितरों के अन्त्येष्टि संस्कारों में भाष्यकारों ने इन अग्नियों का प्रयोग किया है, अर्थात् जिस गृहस्थी ने अपने गृहस्थकाल में इन अग्नियों का आधान किया है, उस की मृत्यु हो जाने पर, उसकी इन अग्नियों को, उस के अन्त्येष्टि-संस्कार में प्रयुक्त किया है। परन्तु मन्त्रों का स्वारस्य इस विधि के प्रतिकूल दृष्टिगोचर होता है। इन मन्त्रों में जातवेदाः का आधिभौतिक अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है।

---

१. जीवित-पितरों के आह्वान के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र और अधिक प्रकाश डालता है। यथा—"**ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति**" (१८।२।२८), अर्थात् "विना अग्नि में आहुति डाले भोजन करनेवाले, और हमारी ज्ञातियों के से चेहरोंवाले, जो दस्यु अर्थात् कपटी-पितर बनकर हमारे पितृयज्ञों में आ घुसते हैं।" मृत-पितरों में तो दस्यु-पितरों का प्रवेश सम्भव नहीं। इसलिये आहूत पितर जीवित ही हैं, जिन में कि छिद्मवेशी घुसकर सत्कार पाने की चेष्टा करते हैं।

आधिभौतिक दृष्टि में जातवेदाः का अर्थ है—"**जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः**" (निरु० ७।५।१९), अर्थात् विद्यासम्पन्न, या प्रज्ञासम्पन्न जन । इस अभिप्राय को सूचित करने के लिये "**इहायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्**" (अथर्व० १२।२।८) में 'जातवेदाः' का विशेषण है—"प्रजानन्", अर्थात् जानता हुआ, प्रज्ञावाला। यह मन्त्र यजुर्वेद में भी पठित है (३५।१९)। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में "**जातवेदाः**" का अर्थ किया है—"**धर्मात्मा विद्वान् जन**"। १८वें काण्ड के इस भाष्य में हमने "जातवेदाः" का अर्थ विद्वान् या प्रज्ञावान् कर मन्त्रार्थों को सुसंगत किया है।

(४) स्वर्ग और नाक

१८वें काण्ड के मन्त्रों में "**स्वर्ग**" और "**नाक**" का भी वर्णन हुआ है। स्वर्ग के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि—"**स्वर्ग नाम सुखविशेषभोग और उस की सामग्री की प्राप्ति का है**" (सत्यार्थ-प्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश, नं० ४२)। अभिप्राय यह है कि "**स्वः**" का अर्थ है—"**सुखविशेषभोग**"; और **स्वर्ग** का अर्थ है—**सुखविशेषभोग की सामग्री अर्थात् साधन**। स्वर्ग के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र भी प्रकाश डालता है। यथा—

१. **अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।**
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।। अथर्व १०।२।३१।।

अर्थात्—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि आठ चक्रोंवाली, तथा नासिका (दो छिद्र), कर्ण (दो छिद्र), आंख(दो), मुख, लिङ्गछिद्र, गुदा-छिद्र—इन नौ द्वारोंवाली, इन्द्रिय-देवों की नगरी है। ब्रह्मचर्यादि के पालन द्वारा यह नगरी काम-क्रोधादि शत्रुओं द्वारा अयोध्या अर्थात् अपराजेया है। इस नगरी में एक चमकता कोश अर्थात् हृदय है, इसे 'स्वर्ग' कहते हैं। यह ब्राह्मी-ज्योति से घिरा हुआ है। हृदय को 'स्वर्ग' इसलिये कहा है चूंकि यह सुखविशेषभोग का साधन अर्थात् स्थान है । योगी जब हृदय में ध्यानावस्थित होता है, तब आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि (योग० १।४०)में वह अतिशय आनन्द का अनुभव करता है । इसलिये सुखविशेषभोग का स्थान होने के कारण हृदय को स्वर्ग कहा है। यह आध्यात्मिक स्वर्ग है।

२. आधिभौतिक दृष्टि से स्वर्ग है—"स्वस्थ और सुखी आध्यात्मिक जीवन"। यथा—

तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय ।
स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥ अथर्व० १९।६१।१॥

मन्त्र का देवता है—पूर्णायुः, अर्थात् पूरी १०० वर्षों की आयु प्राप्त करना । मन्त्र में यह इच्छा प्रकट की गई है कि मैं अपनी तनू की दृष्टि से तीनों तनुओं, अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों को संतृप्त तथा संतुष्ट रखूं । दान्तों की पूर्णायु प्राप्त करूं । हे परमेश्वर ! मेरे स्वस्थ तथा सुखी जीवन में आप सदा विराजमान रहें । आप आनन्दरस से पूरित हैं । मुझे भी आनन्दरस द्वारा आप्लावित कीजिये । इस स्वर्गीय जीवन में मैं अपने आप को पवित्र करता हूं ।

ऐसी प्रार्थना जीवित व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है, मृत द्वारा नहीं । जीवित व्यक्ति चाहता है कि खाने के लिये मेरे दान्तों की भी १०० वर्षों की आयु हो, ताकि स्वस्थ तथा शक्तिसम्पन्न होकर मैं आप के आनन्दरस का आस्वादन कर सकूं । मृत का तो शरीर छूट गया. वह अब दान्तों से क्या करेगा । दान्तों की आवश्यकता तो स्थूल शरीर के लिये ही होती है । इस अवस्था में स्वर्ग का वर्णन स्वर्ग के आधिभौतिक स्वरूप पर प्रकाश डालता है । अपने आप को पवित्र करते हुए, सुखी तथा स्वस्थ शरीर में परमेश्वर के आनन्दरस का आस्वादन लेना—यह आधिभौतिक स्वर्ग है । इस आनन्दरस के मिलते तीनों शरीर संतृप्त तथा संतुष्ट रहते हैं ।

सहे=षह् (सह्) **चक्यर्थे=तृप्तौ** । दतः=दत् (दान्त), षष्ठ्येक-वचन । यथा—"**दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमि जम्भयामसि**" (अथर्व० ५।२३।३) । इस मन्त्र में दान्तों में लगे कीड़े को मारने का वर्णन है ।

३. **ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन ।**
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥
अथर्व० ६।१२२।२॥

अर्थात्—कई तो सन्तानार्थ गृहस्थ-यज्ञ करने के पश्चात् निज ऋण से मुक्त हो जाते हैं । अर्थात् जो कि विध्यनुसार पितृ-ऋण को चुका देते हैं । और कई गृहस्थ में न आकर, बिना सन्तानों के, धनदान या सदुपदेश-दान करते हुए—यदि इन दानों को देने की उनमें सामर्थ्य है—देवऋण और ऋषिऋण से अनृण होकर तैर जाते हैं—वह द्विविध प्रकार का जीवन "स्वर्ग" ही है । तन्तुः Offspring, issue, race आपटे) ।

४. स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥
अ० १२।३।१७॥

हे परमेश्वर! आप हमें स्वर्गलोक की ओर ले जाते हैं, ताकि स्वर्ग-लोक में हम जाया और पुत्रों के साथ हों। हे नारी! मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूं; इस गृहस्थ में तू मेरी अनुव्रता बन। ताकि कष्ट और कामादि शत्रु हमारा पराभव न कर सकें।

मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि विवाहपूर्वक गृहस्थ धारण करना—यह स्वर्गलोक है। तारीत्=तॄ प्लवने। प्लवन=Plunging into; a great flood (आपटे)।

५. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥
अथर्व० ६।१२०।३॥

जिस स्वर्ग में, सुस्नेही तथा पवित्र हृदयोंवाले, और श्रेष्ठ कर्मोंवाले अपने शारीरिक रोगों से रहित हुए-हुए न, लंगड़े-लूले, तथा अङ्गों द्वारा अविकृत पति-पत्नी हर्षित तथा प्रसन्नचित्त रहते हैं, उस स्वर्गरूपी परि-वार में हम माता-पिता तथा पुत्रों के दर्शन करते रहें।

इस मन्त्र में भी स्वर्ग से अभिप्राय गृहस्थ-पारिवारिक-जीवन प्रतीत होता है। गृहस्थ पति-पत्नी, अपने पितरों की सेवा, तथा सन्तानों की पालना किया करें, मन्त्र से यह सदुपदेश मिलता है।

अथर्ववेद में अन्य भी कई मन्त्र हैं, जो कि स्वर्ग के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक स्वरूपों पर प्रकाश डालते हैं।

"नाक" है—स्वर्ग से ऊंची अवस्था। यथा—"**स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्**"(अथर्व० ११।१।३७), अर्थात् स्वः(=स्वर्ग) पर आरोहण करके उत्तम नाक की ओर आरोहण हम करें। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद ३१।१६ में "नाकम्" का अर्थ किया है "**सब दुःखरहित मुक्तिसुख**"। यह अर्थ 'नाक' शब्द के अवयवार्थों द्वारा भी सिद्ध होता है। यथा—क=सुख; अक=सुखाभाव; न अक=सुखाभाव का अभाव, अर्थात् दुःखरहित पूर्ण सुख। यही मुक्तिसुख है। नाक की व्याख्या में निरुक्तकार यास्काचार्य

ने लिखा है कि—"**कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत**" (निरु० २।४।१४)। ऊपर दर्शाए आध्यात्मिक और आधिभौतिक स्वर्गों की अपेक्षा नाक अर्थात् मोक्ष की अवस्था वस्तुतः उत्तम है।

(५) ऋषियों के नाम

१८ वें काण्ड में १७ ऋषि-नाम पठित हैं (१८।३।१५, १६, ६३), तथा (१८।४।५४)। पितरों के प्रकरण में, पितरों में किस प्रकार के गुण-कर्म होने चाहियें—यह दर्शाने के लिये ऋषि नामों द्वारा आदर्श गुण-कर्मों को सूचित किया हैं, ताकि आदर्श सामाजिक जीवन का निर्माण हो सके। इन ऋषि-नामों में से वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र इन ४ ऋषि-नामों पर यजुर्वेद में प्रकाश डाला हैं। यथा—(१) "**वसिष्ठ ऋषि··· प्राणं गृह्णामि**" (१३।५४), अर्थात् वसिष्ठ ऋषि है प्राण। अर्थात् प्राण-विद्या के द्वारा प्रजाजन के निवास तथा सुख का अतिशय करके हेतु, अर्थात् कारणभूत व्यक्ति (महर्षि दयानन्द,यजु० १३।५४)। (२)"**भरद्वाज ऋषिः···मनो गृह्णामि**" (यजु० १३।५५), अर्थात् भरद्वाज ऋषि है मन। वाज का अर्थ है बल (निघं० २।९), **बिभर्ति वाजं बलमिति** भरद्वाजः= जिस का मन बलवान् होता हैं, वह विषयों तथा कष्टों पर विजयी होता है। इसलिये भरद्वाज का अर्थ है बलिष्ठ मनवाला व्यक्ति। (३) "**जमदग्निः ऋषिः··· चक्षुः गृह्णामि**" (१३।५६), अर्थात् जमदग्नि ऋषि है चक्षु। **जमदग्निः=प्रज्वलिताग्निः** (निरु० ७।७।२४), अर्थात् जिस की चाक्षुष ज्योति प्रज्वलित है, प्रकाशमान है, अर्थात् दिव्यदृष्टिवाला व्यक्ति। (४) "**विश्वामित्र ऋषिः··· श्रोत्रं गृह्णामि**" (१३।५७)। अर्थात् विश्वामित्र ऋषि है श्रोत्र, अर्थात् जो सर्वभूतमैत्रीवाला है, और सब के दुःख-सुखों को ध्यान से सुनता है, और दिव्य श्रवणशक्तिवाला है, वह व्यक्ति। १८ वें काण्ड में "**विश्वमित्राः**" भी पाठ है (१८।३।६३; तथा १८।४।५४)। "विश्वामित्रः" तो है ऋषि, परन्तु "विश्वमित्राः" ऋषि नहीं हैं। यजु० १३।५७ में "**विश्वामित्र ऋषिः**" पाठ है, परन्तु अथर्व० १८।३।६३ और १८।४।५४ में **विश्वमित्राः** के साथ ऋषि पद पठित नहीं है। विश्वामित्र तो आर्षदृष्टिसम्पन्न है,परन्तु "विश्वमित्राः"आर्षदृष्टि से रहित हैं। इसीलिये "**मित्रे चर्षौ**"(अष्टा०६।३।१३०)के अनुसार विश्वामित्र में पूर्वपद दीर्घ है। "**मित्रे चर्षौ**" का यह अभिप्राय है कि जब ऋषि अर्थ अभिप्रेत हो, और व्यक्ति ऋषि-कोटि का हो,तो उसे विश्वामित्र कहते हैं।तथा ऋषिकोटि

से अतिरिक्त को विश्वमित्र कहते हैं। अथर्व० १८।३।१५-१६ में यद्यपि "विश्वामित्र" के साथ ऋषि पद नहीं,तो भी यजुर्वेद के १३।५७के अनुसार विश्वामित्र को ऋषि ही समझना चाहिये। वैदिकदृष्टि में विश्वामित्र शब्द गुणवाची है, संज्ञा नहीं।

यजुर्वेद १३।५४-५७ के ऋषि-नामों की व्याख्या शतपथ में यजुर्वेद के अनुसार ही उपलब्ध होती है। इसी प्रकार "**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजु० ३४।५५) में कहा है कि "सात ऋषि शरीर में निहित हैं"। तथा "**तदासत ऋषयः सप्त साकम्**" (अथर्व० १०।८।९) में कहा है कि "सात ऋषि सिर में स्थित हैं"। निरुक्तकार ने कहा है कि ये सात ऋषि हैं—६ इन्द्रियां और सातवीं विद्या (१२।४।३७,३८)। ५ ज्ञानेन्द्रियां और १ मन=छः इन्द्रियां हैं; विद्या है बुद्धि। यजुर्वेद में भी ४ इन्द्रियों को ऋषि कहा है। यजुर्वेद में वाक् को विश्वकर्मा ऋषि कहा है (१३।५८), क्योंकि वाणी द्वारा सब व्यवहार हो रहे हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय २, ब्राह्मण २, खण्ड३,४ में निम्नलिखित सन्दर्भ सप्त ऋषियों के स्वरूपों पर विशेष प्रकाश डालता है। यथा—"**अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना**" इति। "**अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" इतीदं तत् शिरः, एष ह्यर्वाग्बिलश्चमसः ऊर्ध्वबुध्नः; "तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपमिति", प्राणा वै यशो विश्वरूपं, प्राणानेतदाह; "तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति", प्राणा वा ऋषयः, प्राणानेतदाह; "वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति", वाग् हि अष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥३॥ इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज, इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः, इमावेव वसिष्ठकश्यपौ अयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः, वागेवात्रिः वाचा ह्यन्नमद्यते अत्ति ह वै नामैतद् यदत्रिरिति॥४॥**

इस सन्दर्भ में "**अर्वाग्बिलश्चमसः**" द्वारा "**शिरः**" का कथन किया गया है, क्योंकि शिर एक ऐसा पात्र है, जिसके नीचे की ओर एक बिल अर्थात् छिद्र है, जहां से कि सुषुम्णा नाड़ी निकलकर पीठ के नीचे तक चली गई है। "**ऊर्ध्वबुध्नः**" भी यही "**शिरः**"है, क्योंकि शिर का पेंदा ऊपर की ओर है। इस में"**यशः**" अर्थात् ज्ञान अर्थात् विद्या या बुद्धि निहित है,जो कि विश्व का निरूपण करतो है। यश के साथ ५ज्ञानेन्द्रियां और १ मन;

या ७छिद्र सिर के, अर्थात् दो आंखें, दो कान, दो नासा छिद्र, और एक मुख निहित हैं। इन्हें **"सप्त ऋषयः"** कहा है, जो कि गोतम आदि हैं। गोतम आदि शब्दों द्वारा कौन-कौनसी इन्द्रियां या छिद्र अभिप्रेत हैं,—यह निश्चयरूप से कहा नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में आठवां ऋषि कहा है वाक् अर्थात् "अत्रि"। **"उच्यते यया सा वाक्"** व्युत्पत्ति द्वारा वाक् का अर्थ है "जिह्वा"। अतः जिह्वा है अत्रि, अर्थात् अदन का साधन। जिह्वा अर्थ के साथ-साथ वाक् द्वारा वाणी का भी यदि ग्रहण किया जाय, तो यह यजुर्वेद १३।५८ द्वारा विश्वकर्मा ऋषि है। वाक्=वक्ति अर्थानिति। "अत्रि" का व्युत्पादन उणा० सूत्र ४।६६ द्वारा अद् धातु से किया गया है, यथा—**"अदेस्त्रिनिश्च"**। बृहदारण्यक के सन्दर्भ द्वारा भी यह परिणाम निकलता है कि वैदिक साहित्य में वेदोक्त ऋषिनाम अमानुष हैं, मानुष नहीं। इसलिये इन ऋषिनामों द्वारा ऐतिहासिक नामों की कल्पना केवल कल्पनामात्र ही है।

काण्ड उन्नीस

अथर्ववेद के १९वें काण्ड में कतिपय विशिष्ट स्थल हैं, जिन का निर्देश यहां किया जाता है। यथा—

(१) १९।७।१-५ में २८ नक्षत्रों का क्रमिक वर्णन है। परन्तु नक्षत्र-गणना अश्विनी से आरम्भ न कर कृत्तिका से की गई है। सम्भवतः इस द्वारा कृत्तिका से नववर्ष के आरम्भ को सूचित किया हो। इसी सूक्त में "आर्द्रा" नक्षत्र की भी गणना है। आर्द्रा नाम द्वारा इस नक्षत्रकाल में वर्षा की सूचना प्रतीत होती है। साथ ही "मघा" में अयन-काल को सूचित किया है। यहां "अयन" का अभिप्राय उत्तरायण में सूर्य के होते, मघा-नक्षत्र में उसकी अन्तिम स्थिति (Solstice) का होना है। solstice का अभिप्राय है क्रान्तिवृत्त (Ecliptice) का वह विन्दु या अंश, जिस में स्थित सूर्य, भूमध्यरेखा या द्युलोकीय मध्यरेखा से दूरतम स्थित हो, और उत्तर में रहता हुआ ही सूर्य जहां से दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करता प्रतीत होता हो।

(२) **"दिविचरा ग्रहाः"** (१६।६।७) द्वारा ग्रहों (Planets) की सूचना, **"भूमिर्वेप्यमाना"** (१६।६।८) द्वारा भूचाल की सूचना, **"उल्का"** (१६।६।८-६) द्वारा रात्रि में टूटते तारात्रों (meteors) की सूचना, **"ग्रहाश्चान्द्रमसाः"** (१६।६।१०) द्वारा चन्द्रमा के ग्रहणों की सूचना, और **"आदित्यश्च राहुणा"** (१६।६।१०) द्वारा आदित्य और तत्सम्बन्वी राहु की सूचना, और **"मृत्युर्धूमकेतुः"** (१६।६।१०) द्वारा पुच्छल-तारे (comet) की सूचना मिलती हैं। चन्द्रमा सम्बन्धी केतु का वर्णन अथर्ववेद में नहीं है।

(३) १६।२७।३-४ में तीन द्युलोकों, तीन पृथिवियों, तीन अन्तरिक्षों, तीन तथा चार समुद्रों, तीन नाकों, तीन मातरिश्वाओं और तीन सूर्यों का वर्णन हुआ है।

(४) १६।२७।१०-१३ में **"त्रयस्त्रिंशद् देवताः"** का कथन कर, **"ये देवा दिव्येकादश स्थ"**, **"ये देवा अन्तरिक्ष एकादशस्थ"** **"ये देवाः पृथिव्यामेकादश स्थ"**—द्वारा ३३ देवताओं को, ग्यारह-ग्यारह के विभाग में, द्युलोक अन्तरिक्ष तथा पृथिवी में स्थित कहा है। ३३ देवता, जो प्रायः आठ वसु ग्यारह रुद्र आदि के रूप में वर्णित किये जाते हैं, उन के ग्यारह-ग्यारह में तीन विभाग नहीं हो सकते, जो कि द्युलोक आदि तीन लोकों में विद्यमान हों। अतः अथर्ववेदोक्त ३३ देवता वसु रुद्र आदि से भिन्न हैं। इनका विवेचन आवश्यक है।

(५) अथर्ववेद—काण्डों, अनुवाकों, सूक्तों, पर्यायों, और बहुधा प्रपाठकों में विभक्त है। इन में से काण्डों की सूचना १६।२३।१८ द्वारा, अनुवाकों की सूचना १६।२२।१ द्वारा, तथा पर्यायों की सूचना १६।२२।७ द्वारा मिलती है।

(६) "देव" पद द्वारा आधिभौतिक दृष्टि में मनुष्यदेवों का भी ग्रहण होता है। यथा—**"देवा द्युराजयो देहिनः"** (१६।२०।३), अर्थात् ज्ञान-द्युतियों से प्रदीप्त देहधारी देव। **"विद्वांसो वै देवाः"** का भी यही अभिप्राय है। तथा **"देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः"** (१६।३५।२) में ब्राह्मणों को देवाः कहा है। इसीलिये ब्राह्मणों को भूदेवाः भी कहते हैं। तथा **"इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम्"** (१६।५८।६) में यज्ञों में पत्नीसहित देवों के आने का वर्णन है। पत्नीसमेत देव आधिभौतिक देव ही हो सकते हैं। इसीलिये मातृदेव पितृदेव आचार्यदेव अतिथिदेव आदि प्रयोग होते हैं।

(७) नवतिर्नव (६६), अशीतिः अष्टा (८८), सप्त सप्ततिः (७७),

षष्टिश्च षट् (६६), पञ्चाशत् पञ्च (५५),चत्वारः चत्वारिंशत् (४४), त्रयः त्रिंशत् (३३),द्वौ च विंशतिः(२२), एकादशावमाः (११) (१६।४७।३-५) । इन संख्याओं पर प्रकाश डालने का यत्न किया है ।

(८) १६।२२।१-२१ में अथर्ववेद के प्रतिपाद्य कतिपय विषयों पर, तथा १६।२३।१-३० में अथर्ववेद के शाब्दिक-संगठन अर्थात् स्वरूप पर प्रकाश डाला है । तथा १६।२२।१ में "आङ्गिरसानाम्", और १६।२३।१ में "आथर्वणानाम्" द्वारा अथर्ववेद के तीन नामों पर प्रकाश डाला है । वे नाम हैं (१) आङ्गिरसवेद (२) अथर्ववेद, तथा(३) अथर्वाङ्गिरसवेद । "अथर्वाङ्गिरस" नाम निम्नलिखित मन्त्र में पठित है । यथा—

"यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्,
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः"।। अथर्व० १०।७।२०।।

इस मन्त्र में साम को लोम कहा है । सामवेद गीतिप्रधान है । उत्तम-भाव-प्रधान गान द्वारा लोमहर्षण हो जाता है । अथर्वाङ्गिरस को मुख कहा है । यह मुखियां है, चूंकि यह वेद विज्ञानप्रधान है । तथा उपरिनिर्दिष्ट दो सूक्तों में पठित "ब्रह्मणे स्वाहा" द्वारा अथर्ववेद का "ब्रह्मवेद" नाम भी सूचित किया है ।

(८) "अङ्गिरा" नाम यौगिक है,रूढि या योगरूढि नहीं,इसमें प्रमाण यह भी है कि १६।३४।६ में "जङ्गिड" औषध को भी अङ्गिरा कहा है । यथा—"तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः (ब्रह्मवेद=अथर्ववेद-वेत्तारः) पूर्व्या विदुः" । यहां अङ्गिरा का अर्थ है । "कृषि से उत्पन्न ओषधियों के अंगों का रस" (अथर्व० २।४।५) ।

अथर्ववेद के १८वें काण्ड के भाष्य के लिये, रायसाहिब श्री प्रतापसिंह जी, करनाल, प्रधान—रा० ब० चौधरी नारायणसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, ने ग्रन्थकार को १२००)रु० पुरस्कृत किये हैं । श्री चौधरी जी एतदर्थ धन्य-वाद के पात्र हैं ।।

६१ कांवली रोड
देहरादून
१-४-१६७७

ग्रन्थकार
विश्वनाथ विद्यालंकार,
विद्यामार्तण्ड

卐 ओ३म् 卐

अथर्ववेद-भाष्यम्

अठारहवां काण्ड

सूक्त १

१-६१ अथर्वा ऋषिः। यमः, मन्त्रोक्ताः, ४० रुद्रः, ४१-४३ सरस्वती, ४४-४६, ५१,५२ पितरः—देवताः।

१. ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥१॥

(सख्या) सखिभाव से (सखायम्) तुझ सखा की ओर (आ ववृत्याम्) मैं आऊं, तुझे प्राप्त होऊं—यह मेरी अभिलाषा है। तू ब्रह्मचर्यरूपी (पुरू अर्णवम् चित्) महान् तथा सद्गुणों से परिपूर्ण समुद्र को (तिरः) तैर (जगन्वान्) चुका है, पार कर चुका है। (वेधाः) इसलिये विधिविधान को तू जानता है। विधिविधान के ज्ञाता को चाहिये कि वह (क्षमि अधि) पृथिवी में अपने भविष्य का (प्रतरं दीध्यानः) पूर्णतया ध्यान कर, (पितुः) निज पिता के (नपातम्) पौत्र को उत्पन्न करने का लक्ष्य बना कर, (आ दधीत) विवाह-पूर्वक गर्भाधान करे[1]।

[१८वें काण्ड में पितरों का वर्णन है। पितरों की सत्ता गृहस्थ धर्म पर आश्रित है। इसलिये १८वें काण्ड के प्रारम्भ में विवाह की चर्चा हुई है। विवाह की चर्चा यमयमी के संवादरूप में की गई है। मन्त्रों में यम-यमी को जोड़िया भाई-बहिन के रूप में उपस्थित किया है। यम तो ब्रह्मचर्याश्रम में यम-नियमों

---

१. यम-यमी के संवाद से पूर्व, एतत्सम्बन्धी भूमिका का पढ़ना आवश्यक प्रतीत होता है।

का पालन कर स्नातक बन कर आया है। इसलिये वह विवाह आदि के विधि-विधानों को जानता है। यमी है युवति, परन्तु विवाह के विधिविधानों से अनभिज्ञ है। वह यम के साथ विवाह चाहती है। इसलिये यम के प्रति विवाह का प्रस्ताव रख रही है। विवाह की सप्तपदी की विधि में "**सखे सप्तपदी भव**" द्वारा विवाह-बन्धन दृढ़ हो जाता है। इसे लक्ष्य में रखकर यमी कहती है यम से कि—मैं सखिभाव की विधि से तुझे अपना विवाहित सखा बनाना चाहती हूं। अनेक प्रकार की उक्तियों और प्रत्युक्तियों के प्रसङ्ग में यम, भाई-बहिन के पारस्परिक विवाह को तर्कासङ्गत, अवैज्ञानिक तथा शिष्टासंमत दर्शाता हुआ विवाह-सम्बन्ध का प्रत्याख्यान करता है। यम-यमी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। अपि तु संवाद के ये कल्पित पात्र हैं। जैसे कि उपन्यासों, कथा-कहानियों, और नाटकों में पात्र कल्पित कर लिये जाते हैं। वेदों में ऐसे संवाद प्ररोचनार्थ यत्र-तत्र मिलते हैं। यथा—उर्वशी और पुरुरवा का संवाद (ऋ० १०।९५); विश्वामित्र और नदियों का संवाद (ऋ० ३।३३); सरमा और पणियों का संवाद (ऋ० १०।१०८)। ऐसे संवादों को निरुक्तकार ने "आख्यान" तथा "आख्यायिकाएं" कहा है।

ओ=आ+उ। "आ" का सम्बन्ध "ववृत्याम्" के साथ है। तिरः का अर्थ है—तैर कर, सफलतापूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर "तॄ संतरणे"। महर्षि दयानन्द ने "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" के ब्रह्मचर्य-प्रकरण में "**स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रम्**" (अथर्व० ११।५।६) का अर्थ किया है—"स ब्रह्मचारी (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात् समुद्रात् (उत्तरम्) गृहाश्रमसमुद्रं शीघ्रं प्राप्नोति"। इसलिये हमने मन्त्र १ में "अर्णवम्" पद का अर्थ "ब्रह्मचर्याश्रम" किया है, और यह अर्थ यहां उपयुक्त भी है। पुरू=महान्, तथा "पृ" (पूरणे)। नपातम=नपात् का अर्थ है "पोता"। यमी "नपात्" और "पितुः" शब्दों का प्रयोग कर यम को "पितृ-ऋण" से मुक्त होने की ओर प्रेरित करती है। यह तभी सम्भव है जब कि यम विवाह करके पुत्र के निमित्त गर्भाधान करे। यमी साथ ही यह भी कहती है कि विना पुत्र के बुढ़ापे तथा बिमारी में जीवन अन्धकारमय हो जाता है। अतः भविष्य का ध्यान करा वह यम को विवाह के किये प्रेरित करती है।]

२. न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥२॥

(ते) तेरा (सखा) समान-ख्यातिवाला, तेरे (एतत्) इस (सख्यम्)

सख्य को, (न) नहीं (वष्टि) चाहता; (यद्) क्योंकि (सलक्ष्मा) तू समान-लक्षणोंवाली है। (विषुरूपा) विवाह के लिये वधू विभिन्न विषम लक्षणोंवाली (भवति) होनी चाहिये। (महः असुरस्य) महाप्रज्ञ और महाबली परमेश्वर के (वीराः पुत्राः) वीर पुत्र, (दिवः धर्तारः) जो कि द्युलोक का भी धारण कर रहे हैं, वे (उर्विया) पृथिवी का भी (परि ख्यन्) पूर्णतया निरीक्षण कर रहे हैं।

[यम कहता है यमी से—रजवीर्य की दृष्टि से हम दोनों समान ख्यातिवाले हैं, चूंकि हम दोनों एक ही माता-पिता की जोड़िया सन्तानें हैं। इसलिये रज-वीर्य के गुणों की दृष्टि से समान हैं। तू विवाह का प्रस्ताव करती हुई, समान लक्षणोंवाली होती हुई भी, विभिन्नलक्षणोंवालीसी अपने आप को दर्शा रही है। समान रज-वीर्यवालों का परस्पर विवाह *"Eugenic-science"* अर्थात् उत्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। ओषधियों, वृक्षों, वनस्पतियों में भी सजातीय, परन्तु विलक्षण गुणोंवाली शाखाओं की कलमें लगाई जाती हैं, तभी इन पर फूल तथा फल उत्कृष्ट गुणोंवाले होते हैं। वैदिक धर्म की दृष्टि से भी, विवाह में माता की सात पीढ़ियां, तथा पिता के गोत्र परित्याज्य कहे गये हैं। देख! हम कहीं छिपकर भी परस्पर विवाह नहीं कर सकते। क्योंकि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के पुत्र अर्थात् नियम, जो कि द्युलोक के अनगिनत तारागणों का धारण कर रहे हैं, वे ही पृथिवी का भी पूर्णतया निरीक्षण कर रहे हैं। वे नियम वीर हैं, हम उन्हें परास्त नहीं कर सकते। वे सुदृढ़ और कठोर हैं। उर्विया=उर्वी+डियाच्। असुर=असु+र (वाला)। असु=प्रज्ञा (निघं० ३।९); असु=प्राण (निरु० ३।२।८)। पुत्रासः वीराः—इन सुदृढ़ नियमों को "पुत्र" कहा है, जो कि सब को "पुनीत" करते, और सब का "त्राण" करते हैं। नियमों में ढीलापन बिगाड़ देता है। अथर्ववेद में इन नियमों को "दिव्यस्पशः" अर्थात् दिव्यगुप्तचर भी कहा है, जो कि इस जगत् में विचर रहे हैं। जो मानों हजारों आंखोंवाले हैं; जो कि भूमि तथा भूमि से परे तक को भी देख रहे हैं। यथा—"**दिवः स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्**" (४।१६।४)।]

३. उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१ मा विविश्याः॥३॥

(ते) वे (अमृतासः) अमर सुदृढ़ नियम (घ) निश्चय से (एतत्) यह

(उशन्ति) चाहते हैं कि (एकस्य) प्रत्येक (मर्त्यस्य चित्) मरणधर्मा प्राणी की (त्यजसम्)[1] सन्तान हो। (ते) हे यम! तेरा (मनः) मन (अस्मे) मेरे (मनसि) मन के अनुकूल (नि धायि) हो जाय, तू (जन्युः पतिः) केवल जन्मदाता नियुक्त पति होकर (तन्वम्) मेरे शरीर पर (आ विविश्याः) अधिकार कर।

[यमी यम से कहती है कि—स्त्री और पुरुष अर्थात् मादा और नर का भेद, तथा इन में निष्ठ पारस्परिक पुत्रोत्पादन-निमित्त कामवासना—यह अमर सुदृढ़ नियमों के ही कारण हैं, जो कि सन्तानोत्पादन के लिये प्रत्येक मरणधर्मा प्राणी में निहित किये गए हैं। इसलिये मेरी इच्छा के अनुकूल तू अपनी इच्छा बना ले, और मेरे शरीर का स्वामी बन कर सन्तानोत्पादन कर। मन्त्र में "जन्युः" पद, यम में जननशक्ति की विद्यमानता और उसकी नियोग द्वारा सन्तानोत्पादकता का सूचक है।]

४. न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥४॥

यम कहता है यमी से कि—(यत्) जो काम (पुरा) पुरा काल की सृष्टियों में (न चकृम) हम मनुष्यों ने नहीं किया, (कत् ह) कैसे उसे अब हम करें? (ऋतं वदन्तः) सत्य बोलते हुए हम (कत् ह) कैसे (अनृतम्) असत्य (रपेम) बोलें। (गन्धर्वः) वेदवाणी का धारण करनेवाला मैं (अप्सु) उन्हीं रज-वीर्य के जलों से पैदा हुआ हूं, (अप्या च) और उन्हीं रज-वीर्य के जलों में तू स्त्रीरूप में पैदा हुई है। (नौ) हम दोनों का भाई-बहिन का (सा नाभिः) वह ही दृढ़ बन्धन है। (नौ) हम दोनों का (तत्) वह ही (परमं जामि) जन्मकृत परम सम्बन्ध है।

[नूनम्=विचिकित्सार्थीयः (निरु० १।२।६)। विचिकित्सा=शंकित विवेचना। रपेम=रप व्यक्तायां वाचि। गन्धर्वः=गाम्=वाणीं (निघं० १।११) धरति। इसके द्वारा यम कहता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में मैंने वेदवाणी का मनन किया है। मैं वेदवाणी के विरुद्ध कैसे चलूं? अप्सु, अप्या=अप् या आपः शब्द जलवाचक हैं। परन्तु यहां "अप्" द्वारा सामान्य जल का वर्णन अभीष्ट नहीं। मन्त्र में उन जलों का वर्णन है, जिन से गन्धर्व और योषा की उत्पत्ति हुई है। वे जल हैं रक्तरूप। पुरुष के रक्त में वीर्यकणों

१. त्यजसम्=त्यागं गर्भान्निर्गमनम्, उत्पत्तिम् (सायण)।

(male cells sperm cells, या spermatozoa) का निवास होता है, और स्त्री के रक्त में female cells या ova का निवास होता है। इन दोनों के मेल से सन्तानोत्पत्ति होती है । ova को Egg-cells भी कहते हैं । अथर्ववेद में रक्त को "आपः" कहा है । यथा—

को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥
अथर्व० १०।२।११॥

मन्त्र में "पुरुषे" शब्द द्वारा "आपः" की सत्ता स्त्री-पुरुष साधारण में दर्शाई है, जिन का कि सरण हृदय-समुद्र से और हृदय-समुद्र की ओर होता है । जो कि स्वाद में तीव्र हैं । लाल, ईषत्-लाल, और ताम्बे की vapour (धूम्र) के सदृश नील वर्ण के हैं । और जो शरीर में ऊपर की ओर, नीचे की ओर, तथा पार्श्वों की ओर सदा गति करते रहते हैं । योषा का अर्थ है स्त्री । योषा शब्द "यु" धातु से बनता है, जिस का अर्थ है "मिश्रण" । चूंकि वीर्यकण और रजः कण का मिश्रण स्त्री में होता है, इसलिये स्त्री को योषा कहते हैं । "यौतीति योषा" (उणा० ३।६२) बाहुलकात् ।]

५. गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ।५॥

(जनिता) जन्मदाता, (त्वष्टा) नानारूपों और आकृतियों के निर्माता, (सविता) सर्वप्रेरक तथा (विश्वरूपः) विश्व को रूप देनेवाले परमेश्वर ने, (नु) निश्चय से, (गर्भे) मातृगर्भ में ही (नौ) हम दोनों को (दम्पती) जाया और पति (कः) कर दिया है ।(देवः) वह दिव्य गुणोंवाला है, अतः हम दोनों को दम्पती करना उस की दिव्यता का ही परिणाम है (अस्य) इस परमेश्वर के (व्रतानि) किये कर्मों को (नकिः) नहीं कोई (प्र मिनन्ति) टाल सकते हैं । (नौ) हम दोनों के (अस्य) इस दाम्पत्यभाव को (पृथिवी उत द्यौः) पृथिवीलोक भी और द्युलोक भी (वेद) जानता है ।

[यम और यमी यतः जोड़िया भाई-बहिन हैं, अतः इन दोनों ने एक ही मातृगर्भ में सहवास किया है। इस हेतु यमी कहती है यम को कि हमारे जन्मदाता परमेश्वर ने ही हमें दम्पती रूप में कर दिया है । पृथिवी द्यौः= कवितारूप में पृथिवी और द्यौः को चेतन माना है । अथवा इन का अर्थ है पृथिवीवासी तथा द्युवासी ।"तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्" यथा मञ्चाः क्रोशन्ति ।

अथवा गृहस्थ स्त्री तथा पुरुष। यथा—द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥(अथर्व० १४।२।७१)। इस मन्त्र में "वर" अपने आप को द्यौः, तथा 'वधू" को पृथिवी कहता है।]

६. को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्॥

यम कहता है यमी को कि—(कः) कौन है (अद्य) इस समय जो कि (ऋतस्य) सत्य की गाड़ी की (धुरि) धुरा में (गाः) अपनी वाणियों को (युङ्क्ते) जोतता है? सत्य-वाणियां जो कि (शिमीवतः) क्रिया अर्थात् कर्म में समन्वित हों, जिनके अनुरूप कर्म हों, (भामिनः) प्रकाशवालीं अर्थात् स्पष्ट, (दुर्हृणायून्) जिनके कथन में लज्जा तथा संकोच न करना चाहिये, ऐसी (आसन् इषून्) जो कि मुख से निकली हुई बाण के समान होती हैं, (हृत्सु असः) जो हृदयों में जा लगती हैं, (मयोभून्) परन्तु परिणाम में कल्याणकारिणी होती हैं। (यः) जो कोई (एषाम्) इन सत्यवाणियों का (भृत्याम्) भृत्य बनकर इनकी (ऋणधत्) परिचर्या करता है, (सः) वह ही मानो (जीवात्) जीवित है।

७. को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥७॥

यमी कहती है यम को कि—(अस्य) इस जगत् के (प्रथमस्य अह्नः) प्रथम दिन को (कः वेद) कौन जानता है? (ईम्) इस प्रथम दिन को (कः ददर्श) किस ने कभी देखा है? (इह) इस जीवन में (कः) किस ने इस तत्त्व का (प्रवोचत्) प्रवचन किया है? (मित्रस्य वरुणस्य) सब के मित्र और साथ ही सब को फन्दे से घेरनेवाले का (बृहत् धाम) बड़ा तेज है, (कद् उ ब्रवः) यह तू कैसे कहता है? (आहनः) हे हृदय पर चोट पहुंचानेवाले यम! मैं तो (नॄन्) पुरुषों को (वीच्या) धोखेबाज (ब्रवे) कहती हूं।

[वीच्या=वीच्यान्। व्यच् व्याजीकरणे। यमी कहती है कि तू धर्म के बारे में बड़ी-बड़ी बातें करता है। देख, जगत् के प्रथम दिन तक को तो कोई जानता नहीं, तो धर्म के तत्त्व को कौन जान सकता है? तू परमेश्वर को सब का मित्र कहता हैं, परन्तु वरुणरूप में उसने सब को अपने फन्दों में क्यों जकड़ रखा है? (मन्त्रसंख्या २,६)।]

८. यमस्यं मा युम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौं सहशेय्याय ।
जायेव पत्यें तुन्वं॑ रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥८॥

(समाने) एक ही (योनौ) घर में हम दोनों सदा (सहशेय्याय) इकट्ठे सोया करें, इसलिये (मा) मुझ (यम्यम्) यमी को (यमस्य कामः) यम-सम्बन्धी सन्तान-निमित्त कामना (आगन्) प्राप्त हुई है, जागृत हुई है। (जाया इव) जाया जैसे (पत्ये) पति के लिये, वैसे मैं तेरे लिये (तन्वम्) अपने शरीर को (रिरिच्याम्) सुपुर्द कर दूं, अनाच्छादित कर दूं—यह मेरी अभिलाषा है। ताकि (रथ्या चक्रा इव) रथ के दो चक्रों के सदृश हम दोनों (चिद्) भी (वि वृहेव) गृहस्थ-पथ में उद्यम करें।

[योनि=गृहनाम (निघं० ३।४)। वृहेव=वृह् उद्यमने।]

९. न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥९॥

यम कहता हैं यमी से कि—(देवानां एते स्पशः) देवों के ये गुप्तचर, (ये) जो कि (इह) इस संसार में (चरन्ति) विचर रहे हैं, वे (न तिष्ठन्ति) न तो विश्राम करते हैं, और (न निमिषन्ति) आंखें बन्द करते हैं, अर्थात् सब को देखते रहते हैं। (आहनः) हे हृदय पर चोट करनेवाली ! (मत्) मुझ से (अन्येन) भिन्न पुरुष के साथ तू (तूयम्) शीघ्र (याहि) चली जा। (तेन) उस के साथ (विवृह) तू उद्यम कर, गृहस्थ मार्ग पर चल, (इव) जैसे कि (रथ्या चक्रा) रथ के दो चक्र परस्पर बन्धे हुए मार्ग पर चलते हैं।

[आहनः=मन्त्र ७ के अनुसार यमी ने "वीच्या नॄन्" पदों द्वारा पुरुषों पर चोट लगाई है। देवानां स्पशः=देवों के स्पश हैं प्राकृतिक और सदाचार के सुदृढ़ कठोर नियम, जो मानो विश्राम नहीं पाते, और सदा जागरूक रहकर सब के कर्मों को मानो देख रहे हैं, (देखो—मन्त्रसंख्या २)।]

१०. रात्रींभिरस्मा अहंभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि॥१०॥

(रात्रीभिः) रात्रियों के साथ रहनेवाले दिन, और (अहभिः) दिनों के साथ रहनेवाली रात्रियां, इन दृष्टान्तों द्वारा, (अस्मै) इस यम के लिये, परमे-

श्वर (दशस्येत्) मार्ग का निर्देश करे । देख, (सूर्यस्य चक्षुः) सूर्य जो इन दोनों का अर्थात् रात और दिन का पिता है, उसकी आंख (मुहुः) बार-बार (उन्मिमीयात्) इन घटनाओं को देख रही है । और देख, द्युलोक के साथ पृथिवी, और (पृथिव्या) पृथिवी के साथ द्युलोक (मिथुना) ये भी दो मिथुन हैं, पति-पत्नीरूप जोड़े हैं, (सबन्धू) और एक ही परमेश्वर इन का समान रूप में बन्धु है, पिता है । परन्तु (यमीः) यमी ही (यमस्य) यम के (अजामि) बन्धुत्व के विना (विवृहात्) इस जगत् में उद्यमशील बनी रहे । [दशस्येत्=दश् भाषार्थः ।]

११. आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥११॥

(घ) निश्चय से (ता) वे (उत्तरा युगानि) अगले युग (आ गच्छान्) आएंगे, (यत्र) जिन में कि (जामयः) स्त्रियाँ (कृण्वन्) वे काम करेंगी, (अजामि) जो कि स्त्रियों को नहीं करने चाहियें । इसलिये हे यमी ! तू किसी (वृषभाय) वीर्यवान् पुरुष के लिये (बाहुम्) अपनी बाहु को, पाणि-ग्रहण के लिये अपने हाथ को, (उपबर्बृहि) पुरुष के हाथ के समीप ऊंचा कर, उद्यत कर । (सुभगे) हे सौभाग्यवती ! (मत् अन्यम्) मुझ से भिन्न को (पतिम् इच्छस्व) पतिरूप में चाह ।

[सत्ययुग या कृतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग—इन का क्रम बन्धा हुआ है । सृष्टि-नियम के अनुसार एक युग के पश्चात् अगला-अगला युग आता रहता है । और युगानुसार विचारों तथा आचरणों में भी परिवर्त्तन आता रहता है । मन्त्र में कलियुग की ओर निर्देश किया है । युग-परिवर्त्तन का यह सामान्य नियम है । भूमण्डल की जनता के सामूहिक प्रयत्न, इस सामान्य नियम के अपवाद हैं । [बर्बृहि=बृह् उद्यमने ऊंचा करना ।]

यम भाई होने के कारण असमर्थ है यमी से सन्तानोत्पत्ति करने में । इसलिये वह यमी को प्रेरित करता है कि यमी यम से अन्य किसी वीर्यवान् और श्रेष्ठ पुरुष को पाणिग्रहण द्वारा पतिरूप में स्वीकार करे । इससे यह भावना द्योतित होती है कि विवाहित पति भी यदि अपने आप को सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ पाए, और पत्नी यदि सन्तान की कामनावाली हो, तो पति अपनी पत्नी को स्वीकृति देवे कि वह अन्य किसी वीर्यवान् श्रेष्ठ पुरुष के द्वारा, उसे पतिरूप में स्वीकार कर, सन्तान प्राप्त कर ले । इसीलिये महर्षि

दयानन्द ने, सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ४ के नियोग-प्रकरण में **"अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्"** की व्याख्या में लिखा है कि—"जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री! तू मुझ से दूसरे पति की इच्छा कर, क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे।"

ऊपर के मन्त्रों में "जन्युः पतिः" (संख्या ३); तथा "जायेव पत्ये" (संख्या ८) इस उपमा द्वारा यमी, यम के साथ सन्तानोत्पत्ति के लिये केवल तानविक अर्थात् शारीरिक सम्बन्ध चाहती है, जो कि नियोग की विधि का सूचक है। यमी ने मन्त्र (१) द्वारा पहिले तो विवाह का प्रस्ताव किया, परन्तु यम द्वारा यह प्रस्ताव अस्वीकृत होने पर, यमी उस के सामने नियोग का प्रस्ताव प्रस्तुत करती है। यमी मन्त्र (५) द्वारा एक मातृगर्भ में निवास के कारण, यम और अपने में दाम्पत्यभाव को मानकर उसे पति स्वीकार कर चुकी है। इसलिये एक प्रकार से यम, पतिरूप में, यमी को नियोग की आज्ञा दे रहा है—यह माना जा सकता है।]

१२. किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि ॥१२॥

(किम्) क्या (असत्) है (भ्राता) भाई, (यत्) जिस के होते बहिन (अनाथं भवाति) अनाथ होती है, और (किम् उ) क्या है (स्वसा) बहिन, (यत्) जिस के होते भाई को (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति (निगच्छात्) प्राप्त होती है। हे भाई! (काममूता) पुत्र की कामना से बन्धी हुई मैं (एतत् बहु) यह बहुत (रपामि) स्पष्ट कथन कर रही हूं। तू (तन्वा) निज तनू द्वारा, (मे तन्वम्) मेरी तनू के साथ, (सं पिपृग्धि) सम्यक् सम्पर्क कर।

[मूता=मू बन्धने। निर्ऋतिः=भाई अकेला रह जाय, और कष्ट भोगे—यह भी बहिन के होते ठीक नहीं। इस प्रकार यमी यम को यह सुझाती है कि हमारा परस्पर विवाह हो जाने पर न मैं अनाथ रहूंगी, और न तुम ही कष्ट भोगते रहोगे। अनाथम्=भवाति का क्रियाविशेषण।]

१३. न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्याम्।
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥१३॥

(यमि) हे यमी ! (अत्र) इस विवाह-प्रस्ताव में (अहम्) मैं (ते) तेरा (नाथम्) स्वामी (न अस्मि) नहीं हूं । (तन्वा) अपनी तनू द्वारा (ते तनूम्) तेरी तनू के साथ (न सं पपृच्याम्) संपर्क नहीं करूंगा । (मत्) मुझ से (अन्येन) भिन्न पुरुष के साथ (प्रमुदः) मोद-प्रमोद (कल्पयस्व) कर । (सुभगे) हे सौभाग्यवती ! (ते) तेरा (भ्राता) भाई (एतत्) इस सम्पर्क को, या विवाह को (न वष्टि) नहीं चाहता ।

१४. न वा उ ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥१४॥

(वै उ) निश्चय ही (तन्वा) अपनी तनू के साथ मैं (ते तनूम्) तेरी तनू का (सं पपृच्यां न) सम्पर्क नहीं करूंगा । (यः) जो (स्वसारम्) बहिन के साथ (नि गच्छात्) संगम करता हैं, उसे (पापम्) पापी (आहुः) कहते हैं । (मे) मेरे (मनसः) मन के और (हृदः) हृदय के (असंयत्) प्रतिकूल (एतत्) यह है कि (यत्) जो (भ्राता) भाई होकर (स्वसुः) बहिन की (शयने) शय्या में (शयीय) मैं सोऊं । [असंयत्=संयमरहित ।]

१५. बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥१५॥

(बत) हे दुर्बल! (बतः असि) तू वस्तुतः दुर्बल है । (यम) हे यम! (ते) तेरे (मनः) मन (च) और (हृदयम्) हृदय को (न अविदाम) मैं नहीं जान पाई । (किल) निश्चय ही (अन्या) और कोई है तेरे मन और हृदय में, जो (त्वाम्) तुझे (परि ष्वजातै) आलिङ्गन करेगी; (इव) जैसे कि (कक्ष्या) अश्व की बगलों अर्थात् छाती पर लिपटी पेटी (युक्तम्) रथ में जुते अश्व का आलिङ्गन करती है, और (इव) जैसे (लिबुजा) बेल (वृक्षम्) वृक्ष का आलिङ्गन करती है । [बतः=बलात् अतीतः (निरु० ६।५।२८) ।]

१६. अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥१६॥

(यमि) हे यमी ! (उ) निश्चय से (अन्यम्) दूसरे पुरुष को तू, (उ) और निश्चय से (अन्यः) दूसरा पुरुष (त्वाम्) तुझे (सु परिष्वजातै)

अच्छी तरह आलिङ्गित करेगा, (इव) जैसे कि (लिबुजा) बेल या लता (वृक्षम्) वृक्ष का आलिङ्गन करती है। (तस्य) उस पुरुष के (मनः) मन को (त्वं वा इच्छ) या तू चाह,(वा) या वह (तव) तेरे मन को चाहे। (अधा) तदनन्तर तू(सुभद्राम्) सुखदायी और कल्याणकारी(संविदम्) सहानुभूति वा ऐकमत्य उस के साथ (कृणुष्व) प्रकट कर।

(२)

१७. त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥१७॥

(कवयः) मेधावी मनुष्य (छन्दांसि) आह्लादकारी (त्रीणि) तीन तत्त्वों की (वि येतिरे) विशेषशुद्धि के लिये यत्न करते हैं,(पुरुरूपम्) नाना रूप परिवर्तन करनेवाले शरीर की, (दर्शतम्) विषयों को दर्शानेवाली इन्द्रियों की, तथा (विश्वचक्षणम्) विश्व के और जगत में व्यापक विश्वनामक परमेश्वर के द्रष्टा जीवात्मा की विशेष शुद्धि के लिये यत्न करते हैं। साथ ही जीवन के साधनभूत (आपः, वाताः,ओषधयः) जल, वायु, अन्न तथा स्वास्थ्यवर्धक ओषधियों की भी विशेषशुद्धि के लिये यत्न करते हैं। (तानि) वे तत्त्व परमेश्वर ने (भुवने) इस भूमि में (अर्पितानि) अर्पित किये हैं।

[अर्थात् इस पृथिवी में ही मानुष जीवन, और उस जीवन के लिये जल आदि साधन प्रदान किये हैं। वृद्धावस्था तक पहुंचते-पहुंचते नवोत्पन्न बालक के शरीर के नाना रूप बदलते रहते हैं। इसलिये इस शरीर को "पुरुरूपम्" कहा है।"दर्शतः" का अभिप्राय है—"इन्द्रियां"; पश्यति येन स दर्शतः (उणा० ३।११०) दयानन्दभाष्य। विश्वचक्षणम्=जीवात्मा, जो कि विश्व को देखता है। विश्व का अर्थ परमेश्वर भी है (सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास)। संसार को वा परमेश्वर को देखने की योग्यता जीवात्मा में ही है। छन्दांसि=चदि आह्लादने (उणा० ४।२२०)। येतिरे=यत उपस्कारे; यत्ने।]

१८. वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून् ॥

(वृषा) भक्तिरस की वर्षा करनेवाला, (अदाभ्यः) कामादि द्वारा न दबनेवाला, (यह्वः) महा व्यक्ति, (दोहसा) दोहनविधि द्वारा, (अदितेः) अनश्वर वेदवाणीरूपी गौ से (दिवः पयांसि) दिव्य ज्ञान-दुग्ध(दुदुहे) दोहता

है । और उस ज्ञान-दुग्ध को (वृष्णे) आनन्दरसवर्षी परमेश्वर के लिये समर्पित कर देता है । (यथा) जैसे (वरुणः) वरण करनेवाला श्रेष्ठ परमेश्वर (विश्वम्) जगत् के रहस्यों को (वेद) जानता है, वैसे (सः) वह भक्तिरसवर्षी भी (धिया) वैदिक प्रज्ञा प्राप्त कर (विश्वं वेद) जगत् के रहस्यों को जान लेता है । (सः) वह भक्तिरसवर्षी (यज्ञियः) पूजा सत्संग तथा दान का पात्र बनकर, (ऋतून्)सब ऋतुओं में (यज्ञियान्) यज्ञिय-विचारों और यज्ञिय-कर्मों को (यजति) यज्ञभावना से करता रहता है ।[अदिति=वाक्(निघं० १।११);तथा गौ(निघं० २।११)। यह्वः= महन्नाम (निघं० ३।३) । यज्ञियः=यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । ऋतून्= ऋतून् लक्ष्यीकृत्य ।]

१९. रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः ।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति ॥

(गन्धर्वी) वेदवाणी के धारक परमेश्वर की वेदवाणी (रपद्=रपत्) हमें जीवनीय तत्त्वों का कथन करती है, जैसे कि (अप्या) प्राणप्रिया या जलवत्शीतलस्वभावा (योषणा) पत्नी, अपने पति को परामर्शों का कथन करती है । (नदस्य) वेदों का अन्तर्नाद करनेवाले परमेश्वर का वैदिक अन्तर्नाद होने पर वह परमेश्वर (नः) हमारी (मनः) मननशक्ति की (परि पातु) सब प्रकार से रक्षा करता है । (इष्टस्य मध्ये) जीवन में वस्तुतः अभीष्ट मार्ग क्या है, इसके निर्णय में (अदितिः) अनश्वर नित्या वेदवाणी (नः) हमें (नि धातु) यथार्थ मार्ग में स्थापित करे । तदनन्तर (भ्राता) सब सब का भरण-पोषण करनेवाला (प्रथमः ज्येष्ठः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (नः) हमें (वि वोचति) विशेषतया जीवनमार्ग का उपदेश करता है ।

[गन्धर्वः=गां वेदवाणीं धरति=परमेश्वरः; तस्य वाणी गन्धर्वी । गान्धर्वी=वाक् (निघं० १।११), ह्रस्वः छान्दसः । अप्या=आपः प्राणाः, तत्-प्रिया । अदितिः=(मन्त्र १८) । च=पादपूरणार्थः (आपटे) ।]

२०. सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥२०॥

(चित्) ज्ञानमयी, (क्षुमती) मन्त्र-शब्दोंवाली, (भद्रा) कल्याणकारिणी, (उशस्वती) सब का कल्याण चाहनेवाली (सा) वह अदिति (१९)

(नु) निश्चय से, और (उ) अवश्य, (मनवे) मनुष्यमात्र के लिये (उवास) अज्ञानान्धकार को दूर करती है। जैसे कि (स्वर्वती) द्युलोक में रहनेवाली (उषा) प्रातःकालीन उषा, मनुष्यमात्र के लिये, रात्री के अन्धकार को दूर करती है, (यद्) जब कि (उशताम्) परमेश्वर को चाहनेवालों के (क्रतुम्) संकल्पों और कर्मों के (अनु) अनुसार, उन्हें (उशन्तम्) चाहते हुए, (होतारम्) शक्तिप्रदाता (ईम् अग्निम्) इस ज्योतिर्मय प्रभु को—चाहनेवाले उपासक,—(विदथाय) साक्षात्कार के लिये, (जीजनन्) प्रकट कर लेते हैं।

[अदिति=अनश्वर नित्या वेदवाणी। अभिप्राय यह है कि उपासक जब परमेश्वर का साक्षात्कार कर लेते हैं,तब ज्ञानमयी-प्रभुवाणी उनके अज्ञानान्धकार को विनष्ट कर देती है। अर्थात् जब तक परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं होता,तब तक वैदिक रहस्य उन्हें प्रकट नहीं हो सकते।"वेद" शब्द का अर्थ है "ज्ञान"। इसी भाव को "चित्" द्वारा स्पष्ट किया है। उवास=(वस् अपहरणे,चुरादि)।]

२१. अध॒ त्यं द्र॒प्सं वि॒भ्वं᳖ विचक्ष॒णं विराभ॑रदिषि॒रः श्ये॒नो अ॑ध्व॒रे।
यदी॒ विशो॑ वृ॒णते॑ द॒स्ममार्या॑ अ॒ग्निं होता॑र॒मध॒ धीर॑जायत॥२१॥

(यद् ई) जब ही (आर्याः) ईश्वर के पुत्र, अर्थात् ईश्वर को अपना पिता जाननेवाले (विशः) प्रजाजन,—(दस्मम्) अविद्याक्षयकारी तथा दर्शनीय, (होतारम्) ज्ञानप्रदाता (अग्निम्) ज्ञानमय प्रभु को (वृणते) अपना लेते हैं, (अध) तदनन्तर (धीः) ऋतम्भरा-प्रज्ञा (अजायत) प्रकट होती है,(अध)तदनन्तर(इषिरः)ईश्वर को चाहनेवाला (श्येनः)ज्ञानी (विः) जीवात्म-पक्षी (अध्वरे) हिंसारहित योगध्यानरूपी यज्ञ में, (द्रप्सम्) सूर्य-सम, अज्ञानान्धकारविनाशी (विभ्वम्) विभु, (विचक्षणम्) विविध जगत् के द्रष्टा, (त्यम्) उस ज्योतिर्मय ईश्वर को (आ भरत्) अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

[द्रप्स=सूर्य; दृ विदारणे; प्सा=भक्षणे; अन्धकार को विदीर्ण करनेवाला, उसे खा जानेवाला। **"असौ वा आदित्यो द्रप्सः"** (श०७।४।१।२०) विः=जीवात्मा, यथा—**"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** (अथर्व० ९।९।२०) सुपर्ण=पक्षी। आभरत्=आहरत्। इषिरः=इष् इच्छायाम्। श्येनः= **श्येन आत्मा भवति, श्यायतेः ज्ञानकर्मणः**(निरु० १३ (१४), पा० २ (१),

खं० ७२ (१४) । आर्याः=ईश्वरपुत्राः (निरु० ६।५।२६) । दस्म=दस् उपक्षये; दस् (दर्शने) । विश्वः=विशति सर्वत्र सः (उणा० १।१५१)।]

२२. सदा॑सि र॒ण्वो यव॑सेव॒ पुष्य॑ते॒ होत्रा॑भिरग्ने॒ मनु॑षः स्वध्व॒रः ।
विप्र॑स्य वा॒ यच्छ॑शमा॒न उ॒क्थ्यो॒३ वाजं॑ सस॒वाँ उ॑पया॒सि॒ भूरि॑भिः॥

(अग्ने)हे ज्योतिर्मय! (मनुषः)मननाभ्यासी की (होत्राभिः)आत्मसमर्पण की आहुतियों द्वारा (स्वध्वरः) आप उस के अहिंसामय-उपासनायज्ञ को सफल तथा सुफल कर देते हैं, इसलिये उसे आप (सदा रण्वः असि) सदा रमणीय लगते हैं, (इव) जैसे कि (पुष्यते) शारीरिक-पुष्टि करनेवाले के लिये (यवसा) खाद्य-पदार्थ रमणीय लगते हैं। (वा) तथा (उक्थ्यः) वैदिक सूत्रों द्वारा प्रशंसनीय आप, (यत्) जब (विप्रस्य) मेधावी उपासक की (वाजम्) भेंट को (ससवान्) स्वीकार कर लेते हैं, तब आप (शशमानः) मानो प्लुतगतिमान् होकर, मेधावी उपासक को (भूरिभिः) नानाविध और प्रभूत सम्पत्तियों के साथ (उपयासि) प्राप्त होते हैं।

[शशमानः=शश प्लुतगतौ। ससवान्=सन् संभक्तौ। संभक्ति= sharing in (आपटे)।]

२३. उदी॑रय पि॒तरा॑ जा॒र आ भग॒मिय॑क्षति हर्य॒तो हृ॒त्त इ॑ष्यति ।
विव॑क्ति॒ वह्निः॑ स्वप॒स्यते॑ म॒खस्त॑वि॒ष्यते॒ असु॑रो॒ वेप॑ते म॒ती॥२३॥

हे परमेश्वर! (पितरा) जगत् में माताओं और पिताओं को धर्मकार्य में (उदीरय) समुन्नत कीजिये, (आ) जैसे कि (जारः) स्तुतियां करने-वाला (भगम्) निज भाग्य को समुन्नत करता है, या (जारः) आदित्य जैसे (भगम्)जगत् में श्री शोभा को समुन्नत करता है।(हर्यतः)आपकी कामना करनेवाला (इयक्षति) आप के यजन की इच्छा करता है, (हृत्तः) हृदय से (इष्यति) इच्छा करता है। (वह्निः)आप के सदुपदेशों का वहन करनेवाला (विवक्ति) विवेकज्ञान का उपदेश करता है, (स्वपस्यते) प्रजाजनों के कर्मों को उत्तम करता है,(मखः)और उसके द्वारा यज्ञकर्म(तविष्यते) बढ़ाया जाता है। परन्तु (असुरः) आसुरी-प्रवृत्तियोंवाला व्यक्ति (मती) निज दुर्मति के कारण (वेपते) भयभीत होकर काम्पता रहता है।

[जारः=जरति अर्चतिकर्मा; जरिता स्तोता (निघं० ३।१४; ३।१६)। जारः=आदित्यः (निरु० ३।३।१६)। स्वपस्यते=सु+अपः= कर्म(निघं० २।१)।]

२४. यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत् सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे ।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान् भूषति द्यून् ॥२४॥

(अग्ने) हे ज्योतिर्मय ! (सहसः सूनो) हे बल के प्रेरक ! (यः) जो (मर्तः) मनुष्य (ते) आप की दी हुई (सुमतिम्) सुमति का (अख्यत्) सब के प्रति कथन करता है, (सः) वह (अति प्र शृण्वे) अति प्रसिद्ध हो जाता है, या लोग वहुत श्रद्धापूर्वक उस के कथन को सुनते हैं । (इषम्) आप की इच्छा को (दधानः) धारण करता हुआ, (अश्वैः) अश्वों से जुते रथ द्वारा वह सत्कारपूर्वक (वहमानः) ले जाया जाता है । (द्युमान्) शोभावाला, (अमवान्) तथा बलसम्पन्न (सः) वह (द्यून्) दिनों को (आभूषति) विभूषित करता है । [अमम्=बलम् (निरु० १०।२।२१) । अख्यत्=ख्या प्रकथने । सहस्=बल (निघं० २।६) । सूनो=सू प्रेरणे ।]

२५. श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम् ।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥२५॥

(अग्ने) हे ज्योतिर्मय ! (सधस्थे) जीवात्मा के साथ मिलकर बैठने के (सदने) घर में, अर्थात् हृदय में, आप (नः) हमारी स्तुतियों और प्रार्थनाओं को (श्रुधि) सुनिये । (अमृतस्य) मोक्ष तक पहुंचानेवाले (रथम्) हमारे शरीर रथ को (युङ्क्ष्व) जोतिये, इसे आप ही चलाइये । और इसे (द्रवित्नुम्) मोक्षरूपी लक्ष्य तक पहुंचाने में शीघ्रगतिवाला कीजिये । (देवपुत्रे) आप-देव के पुत्ररूप जो (रोदसी) भूलोक और द्युलोक हैं, उन्हें हमारे उद्देश्य में, (नः) हमारे (आ वह) अनुकूल बना दीजिये । (देवानाम्) हम दिव्य उपासकों में आप सदा विराजमान रहिये, (माकिः अप भूः) कभी हम से दूर न हूजिये । (इह) हम दिव्य उपासकों के इन हृदयों में (स्याः) सदा बसे रहिये ।

२६. यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र ।
रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात् ॥

(अग्ने) हे ज्योतिर्मय ! (देवेषु) हम दिव्य उपासकों में आप का (यद्) जो (एषा) यह (देवी) दिव्य (समितिः) पारस्परिक मेल (भवाति) होता है,—(यजत्र) हे पारस्परिक मेल करनेवाले ! (यजता) उस पार-

स्परिक मेल को आप ही स्वयं करनेवाले हैं। (स्वधावः) हे अपना धारण स्वयं करनेवाले स्वयंभू ! (यद्) जो (रत्ना) आध्यात्मिक रत्न (विभजासि) आप हमें प्रदान करते हैं, (अत्र) इस जीवन में (नः) हमारे उस (वसुमन्तं भागम्) रत्नोंवाले हिस्से को (वोतात्) कृपया समर्पणरूप में स्वीकार कीजिये। [समितिः=सम्+इतिः। यजता=यज्=संगति, परस्पर-मेल; यज्+अतच् (उणा० ३।११०)।]

२७. अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥२७॥

(प्रथमः) अनादि, (जातवेदाः) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान, प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का ज्ञाता, वेदप्रदाता (अग्निः) ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर कभी तो उपासक को (उषसाम्) उषाकालों के (अग्रम् अनु) प्रारम्भ के पश्चात् (अख्यत्) प्रत्यक्ष हो जाता है, कभी (अहानि अनु) दिनों के समाप्ति काल में प्रत्यक्ष हो जाता है। (सूर्यः) सूर्यों का सूर्य वह कभी (उषसः अनु) उषा-काल के पश्चात्, और कभी (रश्मीन् अनु) रश्मियों की केवल चमक के पश्चात् प्रकट हो जाता है। वह (द्यावापृथिवी अनु) द्युलोक और भूलोक में निरन्तर (आ विवेश) व्याप्त है।

[अभिप्राय यह कि परमेश्वर की भक्ति में सदा निरत रहना चाहिये, कुछ पता नहीं कि वह कब दर्शन दे दे।]

२८. प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥

(प्रथमः) अनादि, (जातवेदाः) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान, प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का ज्ञाता, वेदप्रदाता (अग्निः) ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर, कभी तो (उषसामग्रम्) उषाकालों के प्रारम्भ में (प्रति अख्यत्) प्रत्यक्ष हो जाता है, कभी (अहानि) दिनों को लक्ष्य कर (प्रति) प्रत्यक्ष हो जाता है, कभी (सूर्यस्य पुरुधा रश्मीन्) नाना दिशाओं में फैली सूर्य की रश्मियों को लक्ष्य कर (प्रति) प्रत्यक्ष हो जाता है। उस परमेश्वर ने (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (प्रति आ ततान) प्रत्यक्ष रूप में सर्वत्र फैलाया है।

२९. द्यावा॑ ह॒ क्षामा॑ प्रथ॒मे ऋ॒तेना॑भिश्रा॒वे भ॑वतः सत्य॒वाचा॑ ।
दे॒वो यन्मर्ता॑न् य॒जथा॑य कृ॒ण्वन्त्सीद॒द्धोता॑ प्र॒त्यङ् स्वमसुं॒ यन् ॥२९॥

(ऋतेन) सृष्टि के नियमानुसार, (सत्यवाचा) परमेश्वरीय सत्येच्छा के शब्दों के द्वारा, (प्रथमे) विस्तृत (द्यावा क्षामा) द्युलोक और भूलोक (अभिश्रावे भवतः) प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं, अर्थात् उत्पन्न होते हैं । तदनन्तर (स्वम् असुम्) निज स्वाभाविक प्रज्ञान को (यन्) प्राप्त होता हुआ, (प्रत्यङ्) जगत् के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हुआ, (देवः) वह देवाधिदेव, (यत्) जब (मर्तान्) मनुष्यों को (यजथाय) यज्ञिय कर्मों के करने के लिये (कृण्वन्) पैदा करता है, तब वह (सीदत्) मनुष्यों के हृदयों में स्थित होकर (होता) उन्हें शक्तियां प्रदान करता है ।

[सत्यवाचा="**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय**" (छा० अ० ६, खं० २), सर्जन के प्रारम्भ में परमेश्वर में यह इच्छा प्रकट होती है कि मैं जगत् के नानारूपों में "प्रकट होऊं" तब जगत् का सर्जन होता है । "प्रकट होऊं"— यह इच्छा मानसिक शब्द हैं, मानसिक वाणी है, जो कि सत्यस्वरूपा है, जो कि प्रत्येक सृष्टयारम्भ में प्रकट होती है। इस इच्छामयी वाणी के पश्चात् परमेश्वरीय ईक्षण होता है । इसे मन्त्र में "असु" कहा है । निघण्टु में असु का अर्थ दिया है "प्रज्ञा" (३।९) । यह प्रज्ञा या प्रज्ञान "ईक्षण" रूप है । यथा—"**तदैक्षत**" (छान्दो० अ० ६।२), तथा "**ईक्षतेर्नाशब्दम्**" (वेदान्त १।१।५) । मनुष्यों में भी किसी कार्य के आरम्भ में पहिले इच्छा पैदा होती है । तदनन्तर इच्छा को कार्यान्वित करने के लिये तदुपयोगी साधनों का निरीक्षण होता है । मन्त्र में यह भी कहा है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है—यज्ञिय कर्मों का करना। इस निमित्त परमेश्वर मनुष्यों के हृदयों में स्थित है, और उन्हें यज्ञिय कर्मों के करने का मार्ग दर्शाता रहता है ।]

३०. दे॒वो दे॒वान् परि॒भूर्ऋ॒तेन॒ वहा॑ नो ह॒व्यं प्र॑थ॒मश्चि॑कि॒त्वान् ।
धू॒मके॑तुः स॒मिधा॒ भाऋ॑जीको म॒न्द्रो होता॒ नित्यो॑ वा॒चा यजी॑यान् ॥३०॥

हे परमेश्वर ! आप (देवः) देवाधिदेव हैं। (ऋतेन) अनादि नियमों के अनुसार आप (देवान्) दिव्य-जनों की (परिभूः) रक्षा के लिये उन पर घेरा डाले रहते हैं । आप (नः) हमारी श्रद्धामय (हव्यम्) हवियों को (वह)

स्वीकार कीजिये । आप (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ और अनादि हैं, (चिकित्वान्) यथार्थवेत्ता हैं । (समिधा) समिधा द्वारा (धूमकेतुः) यज्ञियाग्नि के सदृश प्रकाशमान हैं, (भाऋजीकः) प्रभा में आप सूर्यसदृश हैं, (मन्द्रः) हर्षप्रदाता, (होता) शक्तिप्रदाता, (नित्यः) सदा सत्, तथा (वाचा) निज वाणी द्वारा (यजीयाम्) हमारे यज्ञिय कर्मों को सफल कर देते हैं ।

[ऋजीकः=सूर्यः (उणादि ५।५१), दयानन्दभाष्य ।]

३१. अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे ।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥३१॥

हे माता-पिता ! (वाम्) आप दोनों की (अर्चामि) मैं पूजा करता हूं, ताकि (अपः) मेरे सत्कर्मों का (वर्धाय) वृद्धि हो सके । (घृतस्नू) आप दोनों मेरे लिये घृत आदि पदार्थों को प्रवाहित करते हैं, (द्यावापृथिवी) आप दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक के सदृश मेरे जन्मदाता हैं, (रोदसी) कष्टों और दुःखों के कारण प्रकट हुए मेरे रुदन को आप दूर करते हैं । (शृणुतम्) आप मेरी प्रार्थना को सुनिये कि (देवाः) अतिथि देव तथा आचार्य देव आदि (यद् अहा) जिन-जिन दिनों हमें (असुनीतिम्) प्रज्ञा और प्राणशक्ति, तथा बल की नीति का (आयन्) उपदेश दिया करें, उस-उस दिन (पितरा) हे मेरे माता-पिता ! (अत्र) इस घर में, आप (नः) हमें (मध्वा) उन के मधुर उपदेशों की (शिशीताम्) सदा शिक्षा देते रहें ।

[रोदसी=रुद् (रोदन)+अस् (प्रक्षेपे) । शिशीताम्=शिशीतिः दानकर्मा (निरु० ५।४।२३) ।]

३२. स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥३२॥

(यद् ई) जब उपासक (देवस्य) परमेश्वर देव की (गोः) वेदवाणी से (स्वावृग्) निज पापों का वर्जन कर लेते, और (अमृतम्) मोक्ष को या अनश्वर प्रभु को पा लेते हैं, तब (अतः) इस वेदवाणी से (जातासः) द्विजन्मारूप में पैदा हुए उपासक, (उर्वी धारयन्ते) समग्र पृथिवी का धारण अपने सदुपदेशों द्वारा करते हैं । हे परमेश्वर ! तब वे (विश्व देवाः) सब देव (ते) आप के (यजुः) यज्ञकर्म के (अनु गुः) अनुगामी बन जाते हैं । (यद्)

जब कि (एनी) विचित्रवर्णा अर्थात् विविध ज्ञानों का वर्णन करनेवाली वेदवाणी, उनके लिये (दिव्यं घृतं वाः) दिव्य घी, और दिव्य जल (दुहे) दोहरूप में प्रदान करती है।

[स्वावृग्=स्वावृक्=स्व+आ+वृज् (वर्जने)। गौ.=वाक् (निघं० १।११)। यजुः=परमेश्वर का यज्ञकर्म है परोपकारार्थ सृष्टि का पालन। एनी=गौ। "दुहे" पद द्वारा भी एनी का अर्थ गौ प्रतीत होता है। दिव्यं घृतं वाः=वेदवाणी उपासक के वीर्य और रस-रक्त को दिव्य बना देती है, सात्विक बना देती है। घृत=रेतः, वीर्य। यथा—"रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्" (अथर्व० ११।८।२९)। वाः=आपः=रस-रक्त (अथर्व० १०।२।११)।]

३३. किं स्विन्नो राजा जगृहे कदुस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति॥३३॥

(किं स्वित्) क्यों (राजा) जगत् के राजा ने (नः) हमें (जगृहे) जन्म-मरण के बन्धन में जकड़ा हुआ है? (कत्=कद्) कब (अस्य) इस राजा के (व्रतम्) नियमव्यवस्था का हम ने (अति चकृम) अतिक्रमण=उल्लंघन किया है? (कः वि वेद) कौन विवेकपूर्वक इसे जानता है? (मित्रः चिद् हि) वह निश्चय से हमारा मित्र है, (स्म=स्मः) और हम उस के मित्र हैं। (देवान्) वह तो देवकोटि के लोगों को (जुहुराणः) चन्द्रसम आह्लाद प्रदान करता है। वह (याताम्) धर्ममार्ग पर चलनेवालों का (वाजः) बलरूप (अस्ति) है, (श्लोकः न) जैसे कि वैदिक मन्त्र स्वाध्यायशील के लिये बलरूप हैं। [जुहुराणः=चन्द्रमा (उणा० २।९२)।]

३४. दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन्॥३४॥

(अत्र) इस जीवन में (अमृतस्य) अमर परमात्मा का (नाम) ओ३म् नाम, मनन किया भी (दुर्मन्तु) दुर्मनन हो जाता है, (यद्) जब कि (सलक्ष्मा) समान लक्षणोंवाली चितिशक्ति (विषुरूपा) विभिन्न लक्षणोंवाली (भवाति) हो जाती है। (यः) जो मनुष्य (यमस्य) अमर नियन्ता के "ओ३म्" नाम का (मनवते) सलक्ष्म होकर मनन करता है, उस का मनन

(सुमन्तु) सुमनन होता है। (ऋष्व) हे महान् (अग्ने) ज्योतिर्मय परमात्मन्! (तम्) ऐसे मननकर्ता की आप (अप्रयुच्छन्) लगातार सदा (पाहि) रक्षा कीजिये।

[सलक्ष्मा=चितिशक्ति अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा के सदृश लक्षणोंवाला है। दोनों आत्मरूप हैं, दोनों चिद्रूप हैं, दोनों नित्य सद्रूप हैं। दोनों साथ-साथ रहनेवाले सखा हैं=**सयुजा सखाया**। परन्तु अज्ञानवश जब चितिशक्ति अर्थात् जीवात्मा अपने आप को देहरूप या मनरूप समझकर देहादि के पालन में रत हो जाता है, या मानसिक संकल्प-विकल्पों को निज ध्येय समझ लेता है, तब यह चितिशक्ति "विषुरूपा" होजाती है। विषुरूपा में "ओ३म्" का मनन वास्तविक मनन नहीं होता। यह किया मनन भी वास्तव में दुर्मनन ही रहता है। इसलिये "सलक्ष्म" होकर "ओ३म्" नाम का मनन करना ही सुमनन है। ऋष्व=महन्नाम (निघं० ३।३)। अप्रयुच्छन्=विना प्रमाद के।]

३५. यस्मि॑न् दे॒वा वि॒दथे॑ मा॒दय॑न्ते वि॒वस्व॑तः॒ सद॑ने धा॒रय॑न्ते।
सूर्ये॒ ज्योति॒रद॑धुर्मा॒स्य१क्तून् परि॑ द्योत॒निं चर॑तो॒ अज॑स्रा ॥३५॥

(यस्मिन् विदथे) जिस विवेक-ज्ञान के प्रकट हो जाने पर, (देवाः) परमेश्वरीय दिव्य शक्तियां, हमें (मादयन्ते) तृप्त प्रमुदित कर देती हैं, और (विवस्वतः सदने) अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले परमेश्वर के आश्रय में (धारयन्ते) हमें स्थापित कर देतीं हैं, उन्हीं दिव्यशक्तियों ने (सूर्ये) सूर्य में (ज्योतिः) द्युति (अदधुः) स्थापित की है। और (मासि) चन्द्रमा में (अक्तून्) रात्रियां या अभिव्यक्त तारागण स्थापित किये हैं, जो (अजस्रा=अजस्रौ) मानो न क्षीण होते हुए सूर्य और चन्द्रमा, (द्योतनिम्) ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर की मानो (परि चरतः) परिचर्या कर रहे हैं।

[विवस्वान्=विवासनवान् (निरु० ७।७।२७)=अज्ञानान्धकारनाशनवान्।]

३६. यस्मि॑न् दे॒वा मन्म॑नि सं॒ चर॑न्त्यपी॒च्ये॒३ न व॒यम॑स्य वि॒द्म।
मि॒त्रो नो॒ अत्रादि॑ति॒रना॑गान्त्सवि॒ता दे॒वो वरु॑णाय वोचत् ॥३६॥

(यस्मिन्) जिस (मन्मनि) ज्ञानवान् (अपीच्ये) परन्तु अन्तर्हित परमेश्वर में, (देवाः) जीवन्मुक्त दिव्य योगी (संचरन्ति) सम्यक् विचरते

हैं, (अस्य) इस परमेश्वर के विधिविधान को (वयम्) हम संसारी लोग (न विद्म) नहीं जानते । (मित्रः) मित्रजन, (अदितिः) माता, तथा (सविता देवः) पितृदेव इन में से प्रत्येक (नः) हमें, (अत्र) इस जीवन में, (अनागान्) पापरहित (वोचत्) कहे, उद्घोषित करे । ताकि हम भी (वरुणाय) वरण करनेवाले श्रेष्ठ परमेश्वर की प्राप्ति के योग्य हो सकें ।

२
२२५
विश्व-अ

३७. सखा॑य॒ आ शि॑षामहे॒ ब्रह्मेन्द्रा॑य व॒ज्रिणे॑ ।
स्तु॒ष ऊ॒ षु नृत॑माय धृ॒ष्णवे॑ ॥३७॥

(सखायः) हे उपासक मित्रो ! (स्तुषे) स्तवन के लिये, (वज्रिणे) न्यायवज्रधारी, (नृतमाम) सब के नेता, (धृष्णवे) पापों के पराभवकर्त्ता (इन्द्राय) परमेश्वर के प्रति (ब्रह्म) तत्प्रतिपादक महास्तोत्र (आशिषामहे) हम प्रारम्भ करते हैं ।

[स्तुषे=स्तोतुम्, स्तौमि (सायण) ।]

143867
... कांगड़ी विश्वविद्यालय

३८. शव॑सा॒ ह्यसि॑ श्रु॒तो वृ॑त्र॒हत्ये॑न वृत्र॒हा ।
म॒घैर्म॒घोनो॒ अति॑ शूर दाशसि ॥३८॥

हे परमेश्वर ! आप (हि) निश्चय से, (शवसा) बल के कारण (श्रुतः असि) विश्रुत हैं, और (वृत्रहत्येन) पापों के हनन के कारण (वृत्रहा) पाप-हन्ता नाम से विश्रुत हैं । (शूर) हे दानशूर ! आप (मघैः) धनदान की दृष्टि से (मघोनः) धनदाताओं से (अति दाशसि) बढ़ चढ़कर महादान कर रहे हैं ।

३९. स्ते॒गो न क्षाम॒त्ये॑षि पृथि॒वीं म॒ही नो॒ वाता॑ इ॒ह वा॑न्तु॒ भूमौ॑ ।
मि॒त्रो नो॒ अत्र॒ वरु॑णो यु॒ज्यमा॑नो अ॒ग्निर्वने॒ न व्यसृ॑ष्ट॒ शोक॑म् ॥३९॥

(स्तेगः न) हरिण जैसे (अति) बाधाओं का अतिक्रमण करके (क्षां पृथिवीम्) निज निवासस्थान को प्राप्त करता है, वैसे आप हमारे अन्तरायों का (अति) अतिक्रमण करके (एषि) हमें प्राप्त हों । आप की कृपा से (नः) हमारे लिये, (इह) इस (मही भूमौ) महाभूमि में (वाताः) सुखकर वायुएं (वान्तु) बहें । (युज्यमानः) योगविधि द्वारा युक्त किया गया (मित्रः) सर्व-मित्र और (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर, (नः) हमारे (अत्र) इन जीवनों में, (शोकम्) निज प्रकाश का (व्यसृष्ट) विसर्जन करे, (नः) जैसे कि (अग्निः)

आग (वने) वन में (शोकं व्यसृष्ट) प्रकाश का विसर्जन करती है [स्तेग= stag (हरिण)। व्यसृष्ट=विसर्जन, विशेष सर्जन।]

४०. स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहन्तुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥४०॥

हे उपासक ! (श्रुतम्) विश्रुत, (जनानाम्) जनों की (गर्तसदम्) हृदय-गुहाओं में स्थित, (भीमम्) पापियों के लिये भयानक, (उपहन्तुम्) उन के हन्ता, (उग्रम) अपने नियमों में उग्ररूप, (राजानम्) जगत् के राजा की (स्तुहि) तू स्तुति कर। (रुद्र) हे रौद्ररूप परमेश्वर ! (जरित्रे) स्तोता के लिये (स्तवानः) सन्मार्ग का स्तवन करते हुए आप (मृड) उसे सुखी कीजिये। हे परमेश्वर ! (ते) आप की सेनाएं (सेन्यम्) सेना द्वारा आक्रमणीय, (अस्मत् अन्यम्) हम स्तोताओं से भिन्न अस्तोताओं को (निवपन्तु) छिन्न-भिन्न करें। [वपन्तु=वप (छेदने)। परमेश्वर की सेनाएं हैं "उस के उग्र सुदृढ़ नियम"।]

(३)

४१. सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥४१॥

(देवयन्तः) परमेश्वर देव की कामनावाले (सरस्वतीम्) ज्ञानप्रदायिनी वेदवाणियों का (हवन्ते) उच्चारण वा जप करते हैं। (अध्वरे) अहिंसामय यज्ञों के (तायमाने) किये जाते (सरस्वतीम्) याज्ञिक लोग ज्ञानप्रदा वेदवाणी का उच्चारण करते है। (सुकृतः) सुकर्मों के करनेवाले (सरस्वतीम्) सुकर्मों के ज्ञान के लिये ज्ञानप्रदा वेदवाणी का (हवन्ते) उच्चारणपूर्वक स्वाध्याय करते हैं। (सरस्वती) ज्ञानमयी वेदवाणी (दाशुषे) ब्रह्मदान करनेवाले के लिये, (वार्यम्) उसे अभिलषित फल (दात्) देती है।

[सरस्वती=सरः ज्ञानम् (उणा० ४।१९० दयानन्द भाष्य)+वती। सरस्वती अर्थात् वेदवाणी के सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्काचार्य लिखते हैं कि—"**अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा** (१।६।२०)। अर्थात् वेदवाणी के फल तीन हैं—यज्ञप्रक्रिया का ज्ञान, तथा अग्नि वायु सूर्य सोम आदि दिव्यतत्त्वों का ज्ञान, तथा अध्यात्मतत्त्वों का

ज्ञान, अर्थात् शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, जीवात्मा, परमात्मा, जन्म-मरण, मोक्ष तथा कर्मव्यवस्था और परमेश्वर के स्वरूप आदि का ज्ञान। सरस्वती =वाक् (निघं० १।११); तथा (उणा० ४।१६०)।]

४२. सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥४२॥

(दक्षिणा=दक्षिणावन्तः) दक्षिणाएं देते हुए, और (यज्ञम्) यज्ञों में (अभि नक्षमाणाः) व्याप्त रहते हुए (पितरः) गृहस्थी माता-पिता या पति-पत्नी, (सरस्वतीं हवन्ते) तदनुकूल वेदवाणियों का उच्चारण करते हैं। हे पितरो! (अस्मिन् बर्हिषि) इस वृद्धिकारक यज्ञकर्म में (आसद्य) निष्ठावान् होकर आप (मादयध्वम्) स्वयं भी आनन्दित रहिये, और अन्यों को भी आनन्दित कीजिये। हे सरस्वती=ज्ञानप्रदा वेदवाणी! तू (अस्मे) हम में (अनमीवाः वाः) नीरोग (इषः) इच्छाओं का (आ धेहि) आधान कर, । अर्थात् तेरे स्वाध्याय द्वारा हमारी इच्छाएं सात्विक हो जायें।

[बर्हि,=बृंहति वर्द्धते तद् बर्हिः (उणा० २।१११), दयानन्दभाष्य। नक्षति व्याप्तिकर्मा (निघं० २।१८)।]

४३. सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥४३॥

(देवि) हे ज्ञानप्रदायिनी! (सरस्वति) ज्ञानमयी वेदवाणी! (पितृभिः) माता-पिता आचार्य आदि पितरों द्वारा (मदन्ती) ज्ञान-विज्ञान का स्तवन करती हुई (या) जो तू, (उक्थैः) निज सूक्तों के साथ, और (स्वधाभिः) विविध लौकिक और परलौकिक अन्नों का ज्ञान देती हुई, (सरथम्) और इन ज्ञानों के साथ रमण करती हुई (ययाथ) हमें प्राप्त हुई है, वह तू (अत्र) इस जीवन में, (यजमानाय) तेरा यजन अर्थात् स्वाध्याय सङ्ग, तथा ब्रह्म-दान करनेवाले के लिये, (इडः) मन्त्रों में स्तुत (सहस्रार्घम्) बहुमूल्य (भागम्) सेवनीय भाग, तथा (रायस्पोषम्) लौकिक और परलौकिक सम्पत्तियों का परिपोषण, (धेहि) स्थापित कर, प्रदान कर।

[सरथम्=मानो एक रथ में सवार; *in company with*। ययाथ=या प्रापणे। पितृभिः="जनको जननी चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति।

अन्नदाता भयत्राता पंचैते पितरः स्मृताः"। मदन्ती=मद स्तुतौ। इडः=इळः=ईट्टे स्तुतिकर्मणः (निरु० ८।२।८)।]

(४)

४४. उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥४४॥

(अवरे) कम आयु के, (मध्यमाः) मध्यम आयु के, (परासः) तथा इन से बड़ी आयु के, (सोम्यासः) सोम्यस्वभाववाले (पितरः) पितर (उदीरताम्) हमें सदुपदेशों का कथन करें। (ये) जो पितर (असुम्) यथार्थ प्रज्ञा =यथार्थ ज्ञान (ईयुः) प्राप्त कर चुके हैं, (अवृकाः) भेड़िये की सी हिंस्रवृत्ति और क्रोधी स्वभाव से रहित, तथा (ऋतज्ञाः) ऋत और अनृत के विवेकी हैं, (ते पितरः) वे पितर (हवेषु) हमारे श्रद्धापूर्वक आह्वानों पर (नः अवन्तु) हमें प्राप्त हों, और अपने सदुपदेशों द्वारा हमारी रक्षा करें।

[उदीरताम्=उद्+ईर्=कथन। यथा—"उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते"। मनु के अनुसार पितृश्राद्ध गृहस्थ का धर्म है। पंचमहायज्ञों में पितृ-यज्ञ का भी विधान है। ज्येष्ठ पुत्र की प्रथम सन्तान के हो जाने पर गृहस्थी का पिता लगभग ५० वर्षों का होकर धर्मानुसार वानप्रस्थी हो जाता है। उस समय गृहस्थी का पितामह लगभग ७५ वर्षों का, तथा प्रपितामह १०० वर्षों की आयु का होता है। वैदिक सिद्धान्तानुसार मनुष्य की आयु १०० वर्षों की कही है। इसीलिये मनुष्य को शतायु कहते हैं। ब्रह्मचारी २५वें वर्ष के आरम्भ में विवाह कर लगभग एक वर्ष के भीतर सन्तानवाला हो सकता है। इस प्रकार इस गृहस्थी के लिये "पितृयज्ञ" या पितृश्राद्ध में आह्वानयोग्य इस के पिता पितामह और प्रपितामह का जीवित रहना प्राय सम्भावित है। इन में से गृहस्थी के पिता को "अवर", पितामह को "मध्यम", तथा "प्रपितामह" को "पर" पितर कहा है। श्राद्ध भी केवल इन तीन पीढ़ियों तक ही सीमित होता है। इसलिये मन्त्र ४४ में जीवित पितरों का ही वर्णन जानना चाहिये। जीवित पितर ही उपदेश दे सकते हैं, प्रज्ञासम्पन्न, सौम्यस्वभाव तथा ऋतानृत विवेकी होकर तथा गृहस्थियों को प्राप्त होकर निज सदुपदेशों द्वारा उन की रक्षा कर सकते हैं। उत्=तीनों कोटि के पितरों के साथ "उत्+ईरताम्" का अन्वय होता है। इसीलिये "उत्" का प्रयोग तीन बार हुआ है। अवन्तु में "अव्"=प्राप्ति तथा रक्षा। "असुम् ईयुः" का अर्थ

"जीवनप्राप्त या प्राणों को प्राप्त"—ऐसा प्रायः करते हैं। जो मृतपितर नए जीवन और नए प्राणों को प्राप्त हो गये हैं, उनका आह्वान असम्भव है। वे तो नए शरीरों में चले गये।]

४५. आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥४५॥

श्रद्धावान् गृहस्थी कहता है कि मेरे दिये निमन्त्रण पर (अहम्) मैंने (सुविदत्रान्) सुविज्ञ (पितॄन्) पितरों को (आ अवित्सि)प्राप्त किया है। और उन के सदुपदेशों द्वारा मैंने (विष्णोः) सर्वव्यापक परमेश्वर की उन नियम-व्यवस्थाओं को (न पातम्) जिन से कि मनुष्य का पतन नहीं होता, तथा (विक्रमण च) सर्वव्यापक परमेश्वर के विक्रम और पराक्रम को मैंने जान लिया है। (ये) जो पितर कि (बर्हिषदः) कुशासनों पर बैठ कर, (स्वधया) अपनी-अपनी धारणा के अनुसार, (सुतस्य) पुत्र के (पित्वः) अन्न का (भजन्त) सेवन करते हैं, (ते) वे पितर (इह) इस मेरे घर में (आ गमिष्ठाः) आ पधारे हैं।

[नपातम् का अर्थ कइयों ने "पोता" किया है। क्या विष्णु का भी कोई "पोता" है ? स्वधा=स्व+धा (धारणा)। पितुः=अन्न (निघं० २।७); पित्वः षष्ठ्येकवचन। विक्रमणम्=सर्वव्यापक परमेश्वर बड़ा पराक्रमी है। उस की नियम-व्यवस्थाओं का उल्लंघन कर दण्ड से वञ्चित कोई नहीं हो सकता।]

४६. इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥४६॥

(अद्य) आज पितृयज्ञ में (पितृभ्यः) पितरों के लिये (इदम्) यह (नमः) नमस्कार तथा अन्न (अस्तु) हो, (ये) जो पितर कि (पूर्वासः) पूर्वकाल के, अर्थात् बड़ी आयु के पितामह तथा प्रपितामह हैं, (ये) जो (अपरासः) अपर काल के, अर्थात् उन से छोटी आयु के पिता आदि हैं, जो कि (ईयुः) मेरे घर आए हैं। पितर (ये) जो कि (पार्थिवे रजसि) पृथिवी लोक में (निषत्ताः) स्थित है, (वा) और (ये) जो (नूनम्) निश्चय से

(सुवृजनासु) चोर उचक्कों तथा पापकर्मों से वर्जित (दिक्षु) दिग्-दिगन्तरों में स्थित हैं। [वा=समुच्चयार्थे (नि० १।२।५)।]

४७. मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ।।४७।।

(कव्यैः) वेदकाव्य के कवि परमेश्वर के उपासकों समेत (मातली) मातृरूप परमेश्वर में लीन होनेवाला योगेश्वर; (अङ्गिरोभिः) प्राणायामाभ्यासी शिष्यों समेत (यमः) यम-नियमों में सिद्ध संयमी; (ऋक्वभिः) ऋचाओं का स्वाध्याय करनेवाले शिष्यों समेत (बृहस्पतिः) बृहती=वेदवाणी का आचार्य; (वावृधानः) इन में से प्रत्येक, जो कि अपने शिष्यवर्ग की वृद्धि करता है, उन-उन विषयों की दृष्टि से उन्हें बढ़ाता है; तथा (देवाः) देवकोटि के प्रजाजन (यान्) जिन इन उपर्युक्त साधकों को बढ़ाते; (च) और (ये) जो ये साधक (देवान्) प्रजाजनों में देवकोटि के लोगों की वृद्धि निज सदुपदेशों द्वारा करते हैं,—(ते) वे ऐसे (पितरः) पितर (हवेषु) हमारे निमन्त्रणों पर (नः) हमें (अवन्तु) प्राप्त हों, और सदुपदेशों द्वारा हमारी रक्षा करें।

[अङ्गिराः=**प्राणः**, "**अङ्गानां रसः**" (बृहदारण्यक० १।३।८।३)। बृहस्पतिः=बृहती=वाक्, तस्याः पतिः। कवि=परमेश्वरः—"**कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः**" (यजु० ४०।८)। मातली=**मातरि जगन्मातरि लीयते इति, विभक्तिलोपः छान्दसः**। "मातली" शब्द पर निम्नलिखित मन्त्र विशेष प्रकाश डालते हैं। यथा—

१. माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ।। (अथर्व० ८।९।५)

(माया) अर्थात् प्रज्ञा। निघं० ३।९ (मायायाः) अर्थात् प्रज्ञान ब्रह्म की प्रज्ञा से (जज्ञे) प्रकट हुई। और इस प्रकट हुई (मायायाः परि) प्रज्ञा से (मातली) मातली प्रकट हुआ। अभिप्राय यह कि योगी की प्रज्ञा, प्रज्ञानमय ब्रह्म के अनुग्रह से प्रकट होती है। और यौगिक प्रज्ञा से जगन्माता में लीन होनेवाला योगेश्वर प्रकट होता है।

२. यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम् ।
तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ।। (अथर्व० ११।६।२३)

(मातली) मातली ने (यत्) जिस (अमृतम्) अमर ब्रह्म को (रथक्रीतम्) अपने शरीर-रथ और मनोरथ के मूल्य द्वारा खरीदा, उसे मातली

ने (भेषजम्) भेषजरूप (वेद) जाना। (इन्द्रः) तदनन्तर प्रबुद्ध जीवात्मा ने (तत्) उस भेषज को (अप्सु) अपने रस-रक्त और कर्मों में (प्रावेशयत्) प्रविष्ट कर दिया। (आपः) तदनन्तर कर्मों ने (तद्) वह (भेषजम्) भेषज (दत्त) अन्यों को भी प्रदान किया।

इस मन्त्र द्वारा भी 'मातली" जगन्माता में ध्यानप्रकर्ष द्वारा लीन योगी ही प्रतीत होता है। योगाभ्यासी जब अपनी शारीरिक चेष्टाओं और मानसिक संकल्प-विकल्पों को परमेश्वर के प्रति भेंटरूप में चढ़ा देता है, तब वह परमेश्वर के भेषजरूप को जान पाता है। इस भेषज द्वारा उस के सब अन्तराय और अविद्यारूपी रोग नष्ट होने लगते हैं। योगी इस भेषज को अपने जीवन के साधनभूत रस-रक्त में तथा कर्मों में प्रविष्ट कर, अपने रस-रक्त और कर्मों के रोगों की निवृत्ति करता है। तत्पश्चात् निज कर्मों द्वारा उस भेषज का ज्ञान अन्यों को भी देता है। [आपः; आः =उदकम् (निघं० १।१२); तथा कर्म (निघं० २।१)।]

४८. स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥४८॥

(स्वादुः) स्वादवाला (किल) निश्चय से (अयम्) यह रस, (उत) और (मधुमान्) मधुवाला या मधुर (अयम्) यह रस, (किल) निश्चय से (तीव्रः) ओषधियों का तीखा (अयम्) यह रस, (उत) और (रसवान्) नाना रसों से मिश्रित (अयम्) यह रस है। (उत उ नु) और निश्चय से (अस्य) ऐसे रस के (पपिवांसम्) पीनेवाले (इन्द्रम्) जीवात्मा को, (आहवेषु) देवासुर संग्रामों में, (कश्चन) कोई भी आसुरी कर्म या आसुरी भाव (न सहते) नहीं पराभूत कर पाता।

[आध्यात्मिक उन्नति के लिये नानाविध रसीले पदार्थों का सेवन करना चाहिये, जो कि सात्विक और सुपाच्य हों, और औषधगुणों से युक्त हों। इस से व्यक्ति सात्विक और नीरोग होकर पापों पर विजय पाता है। इन्द्रः = जीवात्मा। यथा—इन्द्रियम् = इन्द्रलिङ्गम्। मन्त्र में आनन्दरसरूप परमेश्वर का बर्णन भी अभिप्रेत है।]

४९. परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥४९॥

(प्रवनः) दूर-दूर के (महीः) महालोकलोकान्तरों में (परेयिवांसम्) पहुंचे हुए, (बहुभ्यः) नाना उपासकों को (पन्थाम्, अनु पस्पशानम्)[1] निरन्तर मार्ग दर्शाते हुए, (वैवस्वतम्) सूर्याधिपति (जनानाम्) उपासकजनों को (संगमनम्) निज संगति में लानेवाले, (यमम्) जगन्नियन्ता, (राजानम्) जगत् के महाराज परमेश्वर की, (हविषा) आत्मसमर्पण की हवियों द्वारा, (सपर्यत) परिचर्या किया करो।

५०. यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः ॥५०॥

(प्रथमः) अनादि सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ने, (नः) हमें (गातुम्) जीवन-मार्ग, वेदों द्वारा (विवेद) विवेकपूर्वक दर्शाया है। (एषा) यह (गव्यूतिः) जीवनमार्ग (उ) निश्चय ही (अपभर्तवै) अपभरण अर्थात् अपहरण के लिये, त्याग के लिये (न) नहीं है। (यत्र) जिस मार्ग में (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्व के (पितरः) पिता पितामह तथा प्रपितामह (परेताः) चले हैं, अर्थात् वानप्रस्थ-संन्यास धारण कर दूर-दूर चले गये हैं, (जज्ञानाः) उन से उत्पन्न ज्ञानी हम गृहस्थी भी, (एनाः) इन (स्वाः) अपनाए (पथ्याः) हितकर मार्गों पर, (अनु) उनके पश्चात्, निरन्तर चलते रहें।

[अप+भृ=अप+हृ। हृग्रहोः भः छन्दसि। परेताः="परा+इताः" शब्द "मृत्यु" अर्थ का वाचक नहीं। सूर्या सूक्त के विवाह-प्रकरण में नव-विवाहित वधू को कहा है कि—'**एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य**" (अथर्व० १४।१।४३)। में "परेत्य" शब्द का अर्थ है "जाकर", न कि मर कर। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के निम्ननिर्दिष्ट मन्त्र द्रष्टव्य हैं। ५।२२।८; ४।३२।५; २।२६।१; १२।२।२९।]

५१. बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शंतमेनाधा नः शं योररपो दधात ॥५१॥

(बर्हिषदः) उत्तम कुशासनों पर बैठनेवाले (पितरः) हे पितरो! आप (ऊती) हमारी रक्षा के निमित्त (अर्वाक्) हमारे समीप पधारे हैं, (वः) आपके लिये (इमा) इन (हव्या) भोजन के योग्य पदार्थों को (चकृम) हमने

१: "पस्पशाह्निक" (महाभाष्य पतञ्जलि) तथा "स्पशः" शब्दों में स्पश धातु दर्शनार्थक प्रतीत होती है। अंग्रेजी के "*spy*" शब्द में भी इसी "स्पश" का प्रयोग है। यह वैदिक धातु है।

तैय्यार किया है, (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक उन का सेवन कीजिये। (ते) वे आप (शंतमेन) अत्यन्त कल्याणकारक (अवसा) हमारी रक्षा के निमित्त (आ गत) आए हैं। (अधा) भोजनानन्तर (नः) हमारे जीवनों में (शम्) सुखशान्ति (अरपः) और पापरहित सत्याचरण (दधात) स्थापित कीजिये, तथा दुःखों को हम से (योः) पृथक् कीजिये। [शं योः="शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्" (निरु० ४।३।२१)।]

५२. आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद् व आगः पुरुषता कराम॥५२॥

हे पितरो! (जानु) घुटने (आच्य) टेककर, अर्थात् चौकड़ी लगा कर, और (दक्षिणतः) यजमान के दाहिनी ओर (निषद्य) बैठ कर, (विश्वे) आप सब (नः) हमारे समर्पित (हविः) भोज्यान्नों के गुण दोष का (अभि गृणन्तु) कथन कीजिये, या भोज्यान्न को स्वीकार कर हमें ज्ञान-विज्ञान का उपदेश दीजिये। (पितरः) हे पितरो! सेवाशुश्रूषा में (केनचित्) किसी भी कमी अर्थात् अपराध द्वारा आप (नः) हमारी (मा हिंसिष्ट) हिंसा न कीजिये। (यद्) जिस अपराध को, (वः) आप के प्रति, (पुरुषता) मानुष-सुलभ अज्ञान के कारण (कराम) हमने कर दिया हो।

[चौकड़ी लगाकर बैठना, भोज्यान्न को स्वीकार करना, उपदेशादि का कथन—ये जीवित पितरों में ही सम्भव हैं, मृतों में नहीं। हिंसिष्ट—सेवा में कमी के कारण भावी निमन्त्रणों पर न आना, और इस से यजमान का दुःखी होना—यह ही हिंसा है, मानसिक हिंसा है। गृणन्तु=गृशब्दे, विज्ञाने च।]

५३. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥५३॥

(त्वष्टा) उषा के रूप का निर्माण करनेवाला अनुदित सूर्य, (दुहित्रे) उषारूपी दुहिता के लिये (वहतुम्) विवाह (कृणोति) रचाता है, (तेन) इस कारण (विश्वं भुवनम्) समग्र प्राणी और अप्राणी जगत् (समेति) मानो इकट्ठा होता है। (यमस्य) दिन और रात के जोड़े का (माता) निर्माण करनेवाली उषा (पर्युह्यमाना) जब चली जा रही होती है, तब (महः) तेजस्वी चमकते (विवस्वतः) सूर्य की (जाया) जायारात्री (ननाश) विनष्ट हो जाती है, अदृष्ट हो जाती है।

[त्वष्टा="त्वष्टा वै रूपाणि करोति" (तै० २।७।२।१)। त्वष्टा से अभिप्राय अनुदित सूर्य का है। उस काल में सूर्य की रङ्ग-बिरङ्गी रश्मियां उषा के रूप में पूर्वी आकाश में चमकने लगती हैं। यह मानो उषा का पूर्वी आकाश से विवाह है। इस समय प्राणी जगत् जाग उठा होता है, और अप्राणी जगत् भी चमकने लगता है, मानो वह उषा के विवाह में सम्मिलित हुआ है। तदनन्तर तेजस्वी सूर्य चमकने लगता है तब सूर्य की जाया अर्थात् रात्री अदृष्ट हो जाती है। पितृ-प्रकरण में इस मन्त्र का उल्लेख यह दर्शाने के लिये है कि पितृयज्ञ इस काल में होना चाहिये, रात्रीकाल में नहीं।]

५४. प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥५४॥

वानप्रस्थ धारण करनेवाले को कहा जाता है कि (प्रेहि) जा, (पूर्याणैः) नागरिक-रथों द्वारा (पथिभिः) तथा नागरिक मार्गों द्वारा (प्रेहि) जा, (येन) जिस या जिन मार्गों द्वारा (ते) तेरे (पूर्वे पितरः) पिता पितामह आदि अगले-अगले आश्रमों में (परेताः) गए हैं। वहां तू (यमं देवम्) यम देव का (च) और (वरुणं देवम्) वरुणदेव का (पश्यासि) दर्शन करेगा, जो (उभा) दोनों कि (राजानौ) उस-उस आश्रम के राजा हैं, और (स्वधया) अपने-अपने स्वाभाविक धारण-सामर्थ्य द्वारा (मदन्तौ) कान्तिमान् हैं, शोभायमान हैं।

[परेताः=देखो मन्त्रसंख्या (५०)। राजानौ=प्रत्येक आश्रम के राजा, अर्थात् अपने-अपने आश्रम के कुलपति। स्वधया=स्व+धा (धारणे) —तृतीयैकवचन। मदन्तौ=मद कान्ति (शोभा)। यमं वरुणम्=अथर्ववेद ब्रह्मचर्य सूक्त में आचार्य को "मृत्यु और वरुण" कहा है। यथा—**आचार्यो मृत्युर्वरुणः**" (अ० ११।५।१४)। मन्त्र में 'मृत्यु" शब्द द्वारा "यम" अर्थ अभिप्रेत है। और "वरुण" शब्द द्वारा "वरण करनेवाला परमेश्वर" अभिप्रेत है। यथा—**अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद् यदैच्छत् प्रजापतौ**" (अथर्व ११।५।१५)। अर्थात् "वरुण" आचार्य बनकर ब्रह्मचर्याश्रम रूपी घर (अमा=गृह, निघं० ३।४) में ब्रह्मचारी को वह ज्ञान-घृत पिलाता है, जो कि उसे गृहस्थाश्रम में अपेक्षित है।" मृत्यु अर्थात् यम—आचार्य का निज स्वाभाविक रूप है, और वरुण परमेश्वर का रूप है। मृत्यु का अभिप्राय है कि आचार्य अपने आश्रम के कड़े नियमों द्वारा ब्रह्मचारी में आमूलचूल परिवर्त्तन कर, उसके पूर्वरूप को विनष्ट कर उसे दूसरा

जन्म देकर द्विजन्मा बना देता है। तदनन्तर ब्रह्मचारी आचार्य में स्थित जो वरुणरूप है उसका दर्शन पा लेता है। प्रत्येक आश्रम में कोई न कोई आचार्य होता है, और प्रत्येक आश्रम के आचार्य के दो रूप होने चाहियें—मृत्युरूप और वरुणरूप। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के भी आचार्यों के ये दो रूप होने चाहियें। ये दो रूप उस-उस आश्रम के राजा हैं, कुलपति हैं। परमेश्वर निज वरुणरूप में आचार्य में विद्यमान है, जो कि द्विजन्मा का "वरण" करके उसे निज स्वरूप का प्रत्यक्ष करवाता है। यथा—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्" (कठ० १।२।२२; मुण्डक ४।२।३)। वृणुते इति वरुणः।]

५५. अपे॑त॒ वी॑त॒ वि च॑ सर्प॒तातो॑ऽस्मा ए॒तं पि॒तरो॑ लो॒कम॑क्रन्।
अहो॑भिर॒द्भिर॒क्तुभि॒र्व्य॑क्तं य॒मो द॑दात्यव॒सान॑मस्मै ॥५५॥

हे पुरातन आश्रमवासियो ! जो तुम इस आश्रम के समय को समाप्त कर चुके हो, वे तुम (अतः अपेत) इस आश्रम से पृथक् होओ, (वीत) अगले अगले विविध आश्रमों में चले जाओ, (वि सर्पत)अलग-अलग आश्रमों में फैल जाओ। (पितरः) इस आश्रम के पितृ लोगों ने (अस्मै) इन नवागत आश्रमियों के लिये (लोकम्) स्थान (अक्रन्) नियत कर दिये हैं। (यमः) यम-नियमों तथा नियन्त्रण के आचार्य ने (अस्मै) इन नवागतों के लिये (अवसानम्) निवासस्थान (ददातु) नियत करे, जो निवासस्थान कि (अहोभिः अक्तुभिः) दिनों और रात्रियों की दृष्टि से (व्यक्तम्) अभिव्यक्त अर्थात् सुखदायी हों, और जो (अद्भिः) जल-प्रबन्ध की दृष्टि से सुखदायी हों।

[अस्मै=इस नवागत शिष्यसमूह के लिये। वि+सृप्=To go about in different diriection (आपटे)। अवसानम्=place, स्थान (आपटे)। एक श्रेणी के विद्यार्थी पास होकर जब अगली श्रेणी में चले जाते हैं, तो उन की पहली श्रेणी में नव विद्यार्थी प्रविष्ट कर लिये जाते हैं, इसी प्रकार की आश्रमव्यवस्था का वर्णन इस मन्त्र में प्रतीत होता है।]

(५)

५६. उ॒शन्त॑स्त्वेधीमह्यु॒शन्तः॒ समि॑धीमहि।
उ॒शन्नु॑श॒त आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥५६॥

हे यज्ञियाग्नि ! (उशन्तः) पितरों का भोजन सत्कार चाहते हुए हम गृहस्थी, (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रदीप्त करते हैं, (उशन्तः) इस निमित्त पितृयज्ञ के लिये (समिधीमहि) तुझे हम समिधाधान द्वारा प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) हे कान्ति-सम्पन्न यज्ञियाग्नि ! (उशतः) इच्छुक (पितृन्) पितरों को तू (आ वह) हमें प्राप्त करा। ताकि वे (हविषे) प्रदत्त अन्न (अत्तवे) आकर खा सकें।

[पितरों को निमन्त्रण देकर, पितृयज्ञ करना चाहिये। यज्ञशील गृहस्थी के अन्न को ही पितर स्वीकार करते हैं। हवि=अर्थात् सत्कारार्थ सिद्ध किया अन्न। यतः अन्न के खाने का वर्णन है, इसलिये पितर जीवित हैं, जिन्हें कि निमन्त्रण दिया गया है। यज्ञियाग्नि का सम्बोधन कविशैली के अनुरूप है। उशन्=वश कान्तौ (=दीप्तौ), उशन्तः = कामयमानाः। उशतः=कामयमानान्।]

५७. द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥५७॥

हे पितृयज्ञ सम्बन्धी अग्नि ! (द्युमन्तः) तेजस्वी हम (त्वा) तुझे (सम् इधीमहि) सम्यक् या मिलकर प्रदीप्त करते हैं, (द्युमन्तः) तेजस्वी हम (समिधीमहि) तुझे समिदाधान द्वारा संदीप्त करते हैं। (द्युमान्) हे यज्ञियाग्नि ! तू तेजसम्पन्न है, (द्युमतः) तेजस्वी (पितृन्) पितरों को (आ वह) वहां प्राप्त करा (हविषे) इस भोज्यान्न को (अत्तवे) खाने के लिये।

[मन्त्र में पितृन् पद द्वारा पितृयज्ञकर्त्ता के रक्तसम्बन्धी पितर ही अभिप्रेत नहीं, अपितु वनस्थ और संन्यस्त अन्य पितर भी अभिप्रेत हैं। शेष के लिये देखो मन्त्र (संख्या ५६)।]

५८. अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥५८॥

(अङ्गिरसः) सब विद्याओं के अङ्गों के जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन-नवीन ज्ञानों के सदुपदेशक, (अथर्वाणः) हिंसा आदि से रहित, (भृगवः) परिपक्वबुद्धियुक्त, (सोम्यासः) सोम्यस्वभाववाले, जो (नः) हमारे (पितरः) पिता आदि ज्ञानी लोग हैं, (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) पूजनीय, सत्संगति के योग्य, तथा दान के पात्र पितरों की (सुमतौ) सुमतियों में,

(अपि) तथा (भद्रे) सुखदायी और कल्याणकारी (सौमनसे) उन के मन की प्रसन्नता-सम्पादन में, या उनके द्वारा प्राप्त श्रेष्ठ बोध में (स्याम) हम सदा रहें।

[मन्त्रार्थ महर्षि दयानन्द के भाष्य के आधार पर किया है। (यजुर्वेद १९।५०)।]

५९. अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।

विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥५९॥

(यम) हे आश्रम के नियन्ता ! आप, (यज्ञियैः) पूजनीय, (अङ्गिरोभिः) नाना विद्याओं के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को जाननेवाले, (वैरूपैः) ज्ञानों या रूप रङ्ग की दृष्टि से विविध रूपोंवाले महात्माओं समेत, (इह) इस पितृयज्ञ में (आ गहि) आइये, पधारिये, और (मादयस्व) प्रस्तुत अन्नों द्वारा अपने आप को संतृप्त तथा संतुष्ट कीजिये। मैं गृहस्थी ने (विस्वन्तम्) अन्धकार-विनाशक सूर्य के सदृश अज्ञानान्धकार-विनाशक विज्ञानी को भी (हुवे) निमन्त्रित किया है, (यः) जो कि (पिता) हम सब का ज्ञानदाता पिता है। (ते) वे आप सब, (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) पितृयज्ञ में कुशासनों पर (आ निषद्य) विराजमान होकर अपने आप को संतृप्त तथा सन्तुष्ट कीजिये।

६०. इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।

आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषो मादयस्व ॥६०॥

(यम) हे आश्रम के नियामक आचार्य ! आप (अङ्गिरोभिः) नाना विद्याओं के अङ्गों-प्रत्यङ्गों को जाननेवाले (पितृभिः) पितरों के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त हैं। आप (इमम्) इस ऊंची (प्रस्तरम्) गद्दी पर (आ रोह) आरोहण कीजिये। (कविशस्ताः) कवियों द्वारा प्रशस्तिरूप में उच्चारित किये गये (मन्त्राः) मन्त्र, (त्वा) आप को (आ वहन्तु) इस गद्दी पर बैठने के लिये प्रेरित करें। (राजन्) हे अङ्गिरा आदि पितरों के राजा ! (एना) इस प्रस्तुत (हविषा उ) भोज्यान्न द्वारा (मादयस्व) सन्तृप्त तथा सन्तुष्ट हूजिये। [अङ्गिरोभिः का अर्थ महर्षि दयानन्द के भाष्य के आधार पर किया है। देखो मन्त्र (संख्या ५८) की टिप्पणी।]

६१. इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।

प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥६१॥

(इतः) यहां से (एते) ये अङ्गिरा आदि (उद् आरुहन्) ऊपर को चढ़े । (दिवः) द्युलोक की (पृष्ठानि) पीठों पर (आरुहन्) चढ़ गए । (भूर्जयः) रजोगुण और तमोयुण का भर्जन करनेवाले योगी (यथा) जैसे (पथा) योगमार्ग से (द्याम्) द्युलोक तक (प्रययुः) पहुंचे, इसी प्रकार (अङ्गिरसः) नानाविद्याओं के अङ्गों-प्रत्यङ्गों के जाननेवाले वैज्ञानिक, विज्ञानमार्ग से द्युलोक तक पहुंचे।

[मन्त्र के दो अभिप्राय है—आध्यात्मिक और आधिदैविक । योग की दृष्टि से ऊपर चढ़ने का अभिप्राय है—शारीरिक चक्रों में से नीचे के चक्र से लेकर ऊपर के अन्तिम चक्र सहस्रारचक्र पर चढ़ना, और तदनन्तर मुक्त हो जाना । ये चक्र निम्नलिखित हैं । मूलाधारचक्र गुदा के समीप, स्वाधिष्ठानचक्र कूल्हों में, मणिपूरचक्र नाभि के पीछे, अनाहतचक्र हृदय के समीप, विशुद्धचक्र कण्ठ के पीछे, आज्ञाचक्र दो भ्रुवों के मध्यस्थान में, सहस्रारचक्र मस्तिष्क में । ये सारे चक्र पृष्ठवंश की सुषुम्णा नाड़ी में हैं । प्रायः इन सात चक्रों का वर्णन मिलता है । अथर्ववेद में ८ चक्र कहे हैं- "**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**" (१०।२।३१) । आठवां चक्र, चक ६ और ७ के मध्य स्थान में है । योगी इन चक्रों में ध्यान-प्रकर्ष द्वारा ऊपर-ऊपर के चक्रों पर आरोहण करता है। और अन्त में "दिव" अर्थात् मस्तिष्क के सहस्रारचक्र में स्थित होकर, कालानुसार इस सूर्य द्वारा मुक्त होकर परमेश्वर में विचरता है । दिव्=मस्तिष्क या मूर्धा—"**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०।७।३२)। दिवस्पृष्ठानि=दिव् का अभिप्राय मस्तिष्क अर्थात् मूर्धा है । इस में तीन चक्र हैं—आज्ञाचक्र सहस्रारचक्र और इन दोनों के मध्य में विशुद्धचक्र; या विशुद्धचक्र आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र । इन में से प्रत्येक की पीठ पर सवार हो, अगले-अगले चक्रों की पीठों पर चढ़ता जाता है योगी । मूर्धा के तीन चक्रों की दृष्टि से उसे "**तिस्रः दिवः**" भी कहा जाता है । यह 'मूर्धा' लोकविभाग की दृष्टि से तृतीय-लोक भी कहा गया है । यथा—'**शीर्षलोकं तृतीयकम्**" (अथर्व० १९।३९।१०) । सुषुम्णा नाड़ी की दृष्टि से गुदा से लेकर छाती के नीचे तक है पृथिवीलोक; छाती में है अन्तरिक्षलोक, जिस में कि वायु तथा रक्तजल रहता है; और छाती के ऊपर का भाग है द्युलोक, जिस में कि ज्ञान का दिव्यप्रकाश निवास करता है ।

आधिदैविक दृष्टि से "आङ्गिरस" अर्थात् वैज्ञानिक लोग विज्ञान द्वारा इस भूमि से उठकर द्युलोक के लोकों तक आरोहण करते हैं । चन्द्र ग्रहों तथा

नक्षत्रों तक प्रयाण करते हैं। द्याम्=आधिदैविक दृष्टि से प्रकाशमान द्युलोक, और आध्यात्मिक दृष्टि से सिर या मस्तिष्क–'शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत' (यजु० ३१।१३)।

अगले मन्त्रों में अन्तरिक्षसद् पृथिवीषद् तथा दिविषद् पितरों का वर्णन है। आध्यात्मिक दृष्टि में पृथिवीषद् पितर हैं सामान्य पितर, जो खान-पान आदि सांसारिक व्यवहारों से ऊपर नहीं उठ सके। अन्तरिक्षसद् पितर वे हैं, जो कि प्राणायामाभ्यासी हृदय में ध्यान लगाने का अभ्यास कर रहे हैं। तथा दिविषद् पितर वे हैं, जो कि आज्ञाचक्र तथा सहस्रारचक्र की ऊंचाई तक पहुंच गये हैं। इसी प्रकार आधिदैविक दृष्टि से पृथिवीषद् पितर पृथिवी में विहार करनेवाले; अन्तरिक्षसद् विमान आदि द्वारा अन्तरिक्ष में आने-जानेवाले; तथा दिविषद् चन्द्र आदि लोकों तक प्रयाण करनेवाले हैं ॥

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त २

१-६० अथर्वा ऋषि। ४,३४ अग्निः, ५ जातवेदाः, २९ पितरः, शेषे यमः, मन्त्रोक्ताः देवताः।

(१)

६२. यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥१॥

(यमाय) जगन्नियामक परमेश्वर के लिये (सोमः) गौओं से दूध (पवते) क्षरित होता है। (यमाय) जगन्नियामक के लिये (हविः) हवि (क्रियते) तैय्यार की जाती है। (अग्निदूतः) अग्नि जिस यज्ञकार्य का साधक है, वह (यज्ञः) यज्ञ, (अरंकृतः) अलंकृत किया गया, (ह) निश्चय से (यमम्) जगन्नियामक को (गच्छति) पहुंचता है।

[सोमः=सोमो दुग्धाभिरक्षाः" (ऋ० ९।१०७।९) में कहा है कि जब गौएं दुही जाती हैं, तब उनसे सोम क्षरित होता है, प्रवाहित होता है। अतः सोम का अभिप्राय है "दुग्ध"। अग्निहोत्र में दुग्धाहुति भी अभिमत है। तथा यज्ञ का साधन घृत भी दुग्ध से उत्पन्न होता है। इसलिये सोम द्वारा "दुग्ध

श्रौर घृत" दोनों अभिमत हैं। देखो मन्त्र संख्या (६४); तथा "**पयसा सर्वकामस्य**" (श्रौतवैतानसूत्र ८।५[४३]६)।]

६३. यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥२॥

(यमाय) जगन्नियामक परमेश्वर के लिये (मधुमत्तमम्) सर्वाधिक-मधुर हवि (जुहोत) आहुतिरूप में समर्पित करो। (च) और इस आहुति के कारण (प्र तिष्ठत) अपने अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की ओर प्रस्थान करो। (इदम्) यह आहुति (नमः) नमस्काररूप है, जिसे कि हम (पूर्वजेभ्यः) ज्ञान-विचार-आचार में परिपूर्णरूप से उत्पन्न (पूर्वेभ्यः) तथा ज्ञान आदि की दृष्टि से सर्वथा परिपूर्ण, (पथिकृद्भ्यः) जीवनमार्ग दर्शानेवाले (ऋषिभ्यः) अनादि ऋषियों के प्रति भी समर्पित करते हैं।

[नमः=नमस्कारपूर्वक आत्मसमर्पण;—यह आहुति सर्वाधिक मधुर है। यज्ञ में चार प्रकार की सामग्री होती है—सुगन्धित, पुष्टिकारक, मिष्ट अर्थात् मधुर, और रोगनाशक। उपासना-यज्ञ में सर्वाधिक मधुर सामग्री है—"नमस्कारपूर्वक आत्मसमर्पण। आरम्भ में चार वेदों का ज्ञान चार ऋषियों द्वारा दिया गया था, जो कि परमेश्वर के मानसिक पुत्र थे, और वे ज्ञान आदि की दृष्टि से परिपूर्ण थे। पूर्व=पुर्व पूरणे, या पूरी आप्यायने। इन ऋषियों का निर्देश निम्नलिखित मन्त्र में भी हुआ है। यथा—"**यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही**"।(अथर्व०१०।७।१४)।]

६४. यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमेद् दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥३॥

(यमाय) जगन्नियामक परमेश्वर (राज्ञे) जो कि जगत् का राजा है, उसके प्रति (घृतवत् पयः) घीवाला दूध (हविः) हविरूप से (जुहोतन) आहुतिरूप में समर्पित करो। (सः) वह जगन्नियामक जगद्राजा, (नः) हम (जीवेषु) जीवों में, (प्र जीवसे) अधिक जीने के लिये, (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (आ यमेत्) प्रदान करे।

अथवा

[मन्त्र-संख्या ५४, ५६, ६० में वर्णित "यम" की दृष्टि से यदि मन्त्र-

संख्या ६२-६४ में भी आचार्यरूप यम अभिप्रेत हो, तब ६२-६४ मन्त्रों के निम्न अर्थ होंगे। यथा—"मण्डलीसमेत यमाचार्य को सत्कार के निमित्त दूध समर्पित करो, और हवि अर्थात् उत्तमोत्तम भोजन तैय्यार करो, तथा सत्कारार्थ आग्नेय यज्ञ करो" ॥१॥ "अत्यन्त मधुर भोज्यान्न प्रदान करो, और इन के प्रति अभ्युत्थान के लिये आगे बढ़ो, तथा ऋषियों समेत यमाचार्य को नमस्कार करो" ॥२॥ मण्डलीसमेत यमाचार्य के प्रति ऐसा दूध दो, जिसमें कि घृत की मात्रा अधिक हो। वे सदुपदेशों द्वारा तुम्हें दीर्घजीवन के उपायों का निर्देश करें ॥ ३ ॥ कठोपनिषद् में भी यम का वर्णन आचार्यरूप में हुआ है।]

(२)

६५. मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितॄँरुप ॥४॥

(अग्ने) शिष्य को सुपथ पर चलानेवाले हे आचार्य! (एनम्) इस शिष्य को आप (मा विदहः) दुःखित मत कीजिये, (मा) न (अभि शूशुचः) शोकान्वित कीजिये। (अस्य) इस की (त्वचम्) त्वचा को, दण्डप्रहार द्वारा (मा चिक्षिपः) खण्डित न कीजिये, (मा) और न इसके (शरीरम्) शरीर का अङ्ग भङ्ग कीजिये। (जातवेदः) हे वेदविद् आचार्य (यदा) जब आप (शृतम्) शिष्य को ब्रह्मचर्याश्रम में परिपक्व (करसि) कर दें, (अथ) तदनन्तर (एनम्, ईम्) इस शिष्य को (पितॄन् उप) इसके माता-पिता आदि सम्बन्धियों के (उप) पास (प्र हिणुतात्) सत्कारपूर्वक प्रेषित कीजिये।

[मन्त्र में दाहकर्म का वर्णन नहीं। दाहकर्म करते हुए यह कहना कि 'इसे विदग्ध आदि न कर', अनुपपन्न है। आचार्य अग्निरूप होना चाहिये, जो कि शिष्य का सुपथ पर नयन कर उसे आगे-आगे ले चले। यथा—**"अग्ने नय सुपथा"** (यजु० ४०।१६)। **अग्निः=अग्रे नयति**। तथा **'अग्निराचार्यस्तव"** (मं० ब्रा० १।६।२५), तथा **"अग्निराचार्यस्तव, अहमाचार्यस्तव"**। (पार० कां० २। कं० २। १८-२०) में आचार्य को अग्नि कहा है। (देखो संस्कारविधि, उपनयन प्रकरण)।]

६६. यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥५॥

(जातवेदः) हे वेदाचार्य ! (यदा) जब आप इस ब्रह्मचारी को (शृतम्) परिपक्व तथा परिपक्वायुवाला (कृणवः) कर दें, (अथ) तदनन्तर (एनम्, ईम्) इस ब्रह्मचारी को स्नातक बनाकर, (पितृभ्यः परि दत्तात्) इसके माता-पिता के प्रति सुपुर्द करें। (यदा उ) जब ही यह ब्रह्मचारी (एताम् असुनीतिम्) इस प्रज्ञा तथा प्राणशक्ति को (गच्छाति) प्राप्त कर ले, (अथ) तदनन्तर ही यह, (देवानाम्) इन्द्रियों को (वशनीः) अपने वश में रख सकनेवाला (भवाति) हो सकेगा। [असु=प्रज्ञा (निघं० ३।९); असु= प्राण (उणा० १।१०)।]

६७. त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुप् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥६॥

(एकम् इत्) एक ही (बृहत्) महा ब्रह्म, (त्रिकद्रुकेभिः) पृथिवी-सम्बन्धी तीन साधनों द्वारा, (षट् उर्वीः) पृथिवी के ६ भूखण्डों को (पवते) पवित्र कर रहा है। और उसी (यमे) जगन्नियामक में, (त्रिष्टुप्, गायत्री) त्रिष्टुप् और गायत्री, तथा (ता) वे अन्य (सर्वा छन्दांसि) सब छन्द (आर्पिता) समर्पित हैं।

[कद्रूः=इयं पृथिवी कद्रूः (श० ब्रा० ३।६।२।२), त्रि=जल, वायु, सूर्य। षट् उर्वीः=भूमध्यरेखा के उत्तर तथा दक्षिण की ओर तीन-तीन खण्ड=उष्णखण्ड,शीतोष्णखण्ड तथा शीतखण्ड। इन खण्डों को भूगोलशास्त्र में "कटिबन्ध" कहते है। त्रिष्टुप् आदि छन्दों का वर्णन यह दर्शाने के लिये किया है कि ये हमारे व्यावहारिक नैतिक तथा आत्मिक जीवनों को पवित्र करते हैं।]

(३)

६८. सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥७॥

(चक्षुषा) निज दिव्यदृष्टि के कारण तू (सूर्यम्) सूर्य को (गच्छ) प्राप्त हो। (आत्मना) दिव्यदृष्टि से रहित केवल आत्मस्वरूप द्वारा तू (वातम्) वायुमण्डल को प्राप्त हो, (धर्मभिः) किये धर्मकर्मों के अनुसार तू (दिवं च) द्युलोक और (पृथिवीं च) पृथिवीलोक को (गच्छ) प्राप्त हो। (वा) अथवा (अपः) समुद्रादिरूप जलों को (गच्छ) प्राप्त हो।

(यदि) अगर (तत्र) वहां (ते) तेरा (हितम्) हित सम्पादन हो, या (शरीरैः) शरीरों की दृष्टि से तू (ओषधीषु) ओषधियों में(प्रति तिष्ठ)स्थिति प्राप्त कर।

[योगाभ्यास द्वारा जिन में दिव्यदृष्टि उत्पन्न हो गई है, वे मृत्यु के पश्चात् सूर्य को प्राप्त होते हैं, और दिव्यदृष्टिरहित आत्मा वायुमण्डल को प्राप्त होते हैं। योगज उत्कृष्ट धर्मों द्वारा मुक्तात्मा द्युलोक को, और इष्टा-पूर्त्त धर्मों के करनेवाले पृथिवी में ही विचरते रहते हैं। कई आत्मा जलों में जलचर प्राणी बन जाते हैं, और अधर्मकर्मी जीवात्मा ओषधि-वृक्षों में जाते हैं। यह आवागमन जीवात्माओं के हित के लिये होता है, ताकि वे कर्मफल भोगकर शनैः-शनैः मोक्ष के अधिकारी होते जाँय। शरीरैः=बहुवचन का या तो यह अभिप्राय है कि नीचकर्मों के करनेवालों को ओषधि आदि में बार-बार जन्म लेने होते हैं, ताकि उनके बुरे संस्कार दग्धबीजवत् हो जाँय, या यह अभिप्राय है कि वे तीनों शरीरों समेत ओषधि जीवन व्यतीत करते हैं। तीन शरीर=स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, तथा कारणशरीर।]

६९. अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥८॥

(जातवेदः) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! जीवन में जो (अजः) अनुत्पन्न अर्थात् नित्य (भागः) भाग जीवात्मा है, (तम्) उसे आप (तपसः) निज ज्ञान से (तपस्व) ज्ञानवान् कर दीजिये। (ते) आप की (शोचिः) शुचिता या चमक (तम्) उसे (तपतु) पवित्र कर दे और चमका दे, (ते) आप की (अर्चिः) अर्चनाएं (तम्) उसे (तपतु) ऐश्वर्ययुक्त कर दें। इसलिये हे परमेश्वर ! (ते) आप के (याः) जो (शिवाः) कल्याणकारी (तन्वः) उपकार या उपकारों के साधन हैं, (ताभिः) उनके द्वारा आप (एनम्)इस अनुत्पन्न=नित्य जीवात्मा को (सुकृताम् लोकम्) सुकर्मी लोगों में (वह) ले चलिये।

[तपसः="**यस्य ज्ञानमयं तपः**" (मुण्डक १।१।९)। तप ऐश्वर्ये। तन्वः=तनु उपकरणे। अन्त्येष्टि में चिता की अग्नि में विद्यमान परमेश्वराग्नि को सम्बोधित कर प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद में यथा—"**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः**" (४।३९।९),अर्थात् प्राकृतिक अग्नि में आध्यात्मिक अग्नि प्रविष्ट हुई विचर रही है।]

७०. यास्ते शुचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि ॥९॥

(जातवेदः) हे समग्र पदार्थों में विद्यमान सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (ते) आप की (याः) जो (शुचयः) पवित्र करनेवाली (रंहयः) अनुग्रहात्मक प्रवृत्तियां हैं, (याभिः) जिनके द्वारा आप (दिवम्) द्युलोक को और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक को (आपृणासि) परिपालित तथा परिपूर्ण कर रहे हैं, (ताः) आप की वे अनुग्रहात्मक प्रवृत्तियां (यन्तम्) मोक्ष की ओर जाते हुए (अजम्) अजन्मा जीवात्मा के (अनु) अनुकूल (सम् ऋण्वताम्) सुसङ्गत हो जाँय। और यदि जीवात्मा ने पुनर्जन्म ग्रहण करना हो, तब आप की (इतराभिः शिवतमाभिः) अनुग्रहात्मक प्रवृत्तियों से भिन्न जो निग्रहात्मक अत्यन्त कल्याणकारिणी प्रवृत्तियाँ हैं, उनके द्वारा, (शृतम्) इस जीवात्मा को जन्म देकर आप मोक्ष के निमित्त इसका परिपाक (कृधि) कीजिये।

[अन्त्येष्टि के पश्चात् या मृत्यु के पश्चात्, अज जीवात्मा की दो गतियां हो सकती हैं—या तो जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त हो और परमेश्वर की अनुग्रहात्मक प्रवृत्तियों का पात्र बने, या कर्मानुसार पुनः जन्म ग्रहण करे और अपने कर्मों का परिपाक प्राप्त करे। परमेश्वर की यह निग्रहात्मक प्रवृत्तियां भी जीवात्मा का कल्याण करनेवाली होती हैं। कर्मों का परिपाक भुगतकर जीवात्मा पवित्र होकर मोक्ष के अधिकारी बन सकते हैं। कर्म-परिपाक = सुख और दुःख।]

७१. अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् ।
आयुर्वसान उप यातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥१०॥

(अग्ने) हे जगदग्रणी परमेश्वर ! (यः) जिसने अपने आप को (ते) आप के प्रति (आहुतः) समर्पित कर दिया था, और जो अब (स्वधावान्) निज धारणाशक्ति से सम्पन्न हुआ, मोक्ष पाकर (चरति) आप में विचर रहा है, उसे (पितृभ्यः) मातृशक्ति और पितृशक्ति के प्रति (पुनः) फिर (अवसृज) भेजिये। (शेषः) शरीर के पश्चात् शेष रहा वह अजन्मा जीवात्मा, (आयुः वसानः) आयु धारण कर, (उप यातु) हमारे पास प्राप्त हो। (तन्वा) शरीर के साथ (सं गच्छताम्) संगत हो, (सुवर्चाः) और उत्तम वर्चस्वी हो।

[मुक्ति के पश्चात् पुनर्जन्म का वर्णन इस मन्त्र में है। मन्त्र में अल्पकालिक मुक्ति का वर्णन है। अल्पकालिक मुक्ति में लिङ्ग शरीर जीवात्मा के साथ रहता है, जो कि पुनर्जन्म के लिये बीजरूप होता है। स्वधावान्=उणा० ४।१७६ में "स्वधा" का व्युत्पादन बाहुलकात् "स्वद्" धातु से किया है, जिस का अर्थ है "आस्वादन"। इस अर्थ में "स्वधावान्" का अर्थ होगा—"आनन्द-रस का आस्वादन करनेवाला"।]

(४)

७२. अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अधा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥११॥

हे आत्मोन्नति चाहनेवाले! तू (साधुना पथा) सुपथ द्वारा, (सारमेयौ) चञ्चल लक्ष्मी के मानो पुत्रों को,—अर्थात् (चतुरक्षौ) चार-चार आंखोंवाले, तथा (शबलौ) संस्काररूप में शयनकारी और बलशाली (श्वानौ) दो कुत्तों को (अति द्रव) द्रुतगति से अतिक्रमण कर जा, लांघ जा। (अधा) तदनन्तर तू (सुविदत्रान्) सुविज्ञ (पितॄन्) पितरों को (अपीहि) प्राप्त हो, (ये) जो पितर कि (यमेन) जगन्नियामक परमेश्वर के साथ (सधमादं मदन्ति) पारस्परिक मोद अर्थात् हर्ष में हर्षित रहते हैं।

[सारमेयौ=सरमापुत्रौ। सरमा=सर(=सरण करनेवाली, चञ्चल) +मा (=लक्ष्मी)। शबलौ=श(=शयन)+बल। श्वानौ=' **रजःप्रधान तमस्**" और "**तमःप्रधान रजस्**"—ये दो कुत्ते हैं। "**रजःप्रधान तमस्**" अर्थोन्मुखी होता है, और "**तमःप्रधान रजस्**" कामोन्मुखी होता है। वस्तुतः ये दोनों ही "अर्थ और कामप्रधान" होते हैं। लक्ष्मी के लालची पुत्र हैं— "**रजःप्रधान तमोगुणी**" व्यक्ति, तथा "**तमःप्रधान रजोगुणी**" व्यक्ति। ये दोनों दो कुत्तों के सदृश हैं। कुत्ते लोभी और कामी होते हैं। अंग्रेजी शब्द "conine-appetite—कुत्ते के लोभ को दर्शाता है। तथा "**श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः। प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता**" (अथर्व० ४।३७।११) में श्व-वृत्ति व्यक्ति को स्त्रीभोगी अर्थात् कामी कहा है। चतुरक्षौ=श्व-प्रवृत्तिवाले दो प्रकार के व्यक्ति अर्थात् रजःप्रधान तमोगुणी व्यक्ति और तमःप्रधान रजोगुणी व्यक्ति यद्यपि होते हैं—अर्थोन्मुखी और कामोन्मुखी, तब भी इन की दृष्टियों में धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों रहते हैं। इस दृष्टि से इन्हें चतुरक्षौ कहा है।

"साधुना पथा"—इन कुत्तों से बचने का उपाय है "सुपथ" का अवलम्बन। अर्थात् धर्मानुसार अर्थ कमाना, और त्यागपूर्वक उस का भोग करना। यथा—"**अग्ने नय सुपथा रायेऽ अस्मान्**" (यजु० ४०।१६); तथा "**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" (यजु० ४०।१)। सुपथ के अवलम्बन का परिणाम यह होता है कि सुपथगामी भी उस स्थान को पाने का अधिकारी बन जाता है, जिस स्थान को "सुविदत्र" पितरों ने प्राप्त किया हुआ है।

७३. यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा।
ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि ॥१२॥

(यम) हे जगन्नियामक ! (चतुरक्षौ) चार-चार आंखोंवाले, (पथिषदी) आत्मिकोन्नति के मार्ग में रुकावटरूप में स्थित, (नृचक्षसा) आगे न बढ़ने देने के लिये नर-नारियों पर दृष्टि रखनेवाले, (ते) आपके (यौ श्वानौ)जो दो कुत्ते हैं,(रक्षितारौ)जो मानो नर-नारियों के रक्षक बने हुए हैं, (राजन्) हे जगत्स्वामिन् ! (ताभ्याम्)उन कुत्तों के द्वारा, आप ने इस के कर्मानुसार, (एनम्) इस नर-नारी जगत् पर (परि धेहि) घेरा डाल रखा है। (अस्मै) इस नर-नारी जगत् का हे प्रभो ! (स्वस्ति) आप कल्याण (धेहि) कीजिये, (अनमीवं च) और इसे अज्ञान के रोग से रहित कीजिये।

७४. उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥१३॥

(यमस्य) जगन्नियामक के (दूतौ) दो दूत, अर्थात् दो परितापक कुत्ते,—जो कि(उरूणसौ)महानासिकावाले वा महाविनाशी,(असुतृपौ) प्राण-भक्षण करके तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) महाबली हैं, जो कि (जनान् अनु) सर्वसाधारण जनों में निरन्तर (चरतः) विचर रहे हैं, (तौ) वे दो कुत्ते, (अद्य इह) आज इस जगत् में(अस्मभ्यम्)हमें(भद्रम्)सांसारिक सुखदायक (असुम्) प्राण प्रज्ञा बल (पुनः) फिर (दाताम्) प्रदान करें, (सूर्याय दृशये) ताकि हम सूर्य का दर्शन कर सकें।

[संसारी लोग सांसारिक-जीवन से विमुख नहीं होना चाहते, चाहे वे जानते हैं कि रजःप्रधान तमोमय जीवन, तथा तमःप्रधान रजोमय जीवन

महाविनाशी तथा प्राणभक्षक हैं। सूर्यास्त होने पर भोगमय जीवन के पश्चात् भोगी जब निद्रा की गोद में विश्राम पाने लगते हैं, तो वे परमेश्वर से प्रार्थनाएं करते हैं कि आज की रात्रि के पश्चात् हमें फिर प्राण प्रज्ञा और बल प्रदान कीजिये, ताकि जागरित होकर हम पुनः सूर्य का दर्शन कर निज सुखमय जीवन व्यतीत कर सकें। उरूणसौ=उरु+नस (=नासिका, तथा नस् कौटिल्ये)। महानासिका द्वारा कुत्तों की तेज सूंघने की शक्ति का वर्णन किया है। ये दो कुत्ते अपनी भोगसामग्री को सूंघ कर सर्वसाधारण को भोगों में प्रवृत्त करते रहते हैं, और व्यक्तियों को कुटिल मार्ग पर चलाते रहते हैं। उदुम्बलौ=तैत्तिरीय आरण्यक ६।३।२ की ऋचा में **उलुम्बलौ** पाठ है,और इस का अर्थ किया है—"**प्रभूतबलयुक्तौ**"। सम्भवतः उलुम्= उरुम्। अतः उदुम्=उलुम्=उरुम्, अर्थात् "उरु"। दूतौ=दू उपतापे।]

(५)

७८. सोम॒ एके॑भ्यः पवते घृ॒तमेक॒ उपा॑सते।
येभ्यो॒ मधु॑ प्र॒धाव॑ति॒ तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥१४॥

(एकेभ्यः) कईयों से (सोमः) भक्तिरस (पवते) प्रवाहित होता है, (एके) कई (घृतम्[1]=घृतमाश्रित्य) घृत का आश्रय लेकर घृताहुतियों द्वारा (उपासते) परमेश्वर की उपासना करते हैं। कई ऐसे हैं (येभ्यः) जिन से कि (मधु) मिठास (प्रधावति) प्रवाहित होती है—(तान् चिद् एव) उन ही व्यक्तियों को सत्सङ्ग के लिये (अपि गच्छतात्) हे सद्गृहस्थ! तू प्राप्त हुआ कर।

[मधु=जिनका जीवन मधुमय होता है, उन के विचार भाषण आचार और व्यवहार मधुर होते हैं,मीठे और प्रिय लगते हैं। इस मधुविद्या के लिये देखो (अथर्ववेद १।३४।१—५)।]

७९. ये चि॒त् पूर्व॑ ऋ॒तसा॑ता ऋ॒तजा॑ता ऋ॒ता॒वृध॑ः।
ऋषी॒न् तप॑स्वतो यम तपो॒जाँ अपि॑ गच्छतात् ॥१५॥

(ये चित्) जो भी (पूर्वे) सद्गुणों से परिपूर्ण, (ऋतसाताः) सत्यज्ञान

---

१. अथवा कई वीर्यरक्षा द्वारा पूर्ण ब्रह्मचारी बनते हैं। "**रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्**" (अथर्व० ११।८।२९)।

के दाता, (ऋतजाताः) सत्य के वायु-मण्डल में उत्पन्न, (ऋतावृधः) तथा सत्य के बढ़ानेवाले हैं उन्हें, (ऋषीन्) तथा ऋषियों, और (तपोजान्) तप के वायु-मण्डल में जन्मे (तपस्वतः) जो तपस्वी महात्मा हैं उन्हें, (यम) हे यम-नियमों के पालक सद्गृहस्थ ! तू शिक्षार्थ (अपि गच्छतात्) प्राप्त हुआ कर।

[ऋतसाताः=ऋत (=सत्य)+साताः (=षणु दाने, कर्तरि क्तः)।]

७७. तप॑सा॒ ये अ॑नाधृ॒ष्यास्तप॑सा॒ ये स्व॑र्य॒युः ।
तपो॒ ये च॑क्रि॒रे मह॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥१६॥

(तपसा) तपश्चर्या के कारण (ये) जो (अनाधृष्याः) पापों द्वारा पराभूत नहीं हो सकते, (तपसा) तपश्चर्या के कारण (ये) जो (स्वः) सुखों को (ययुः) प्राप्त होते हैं, (महः तपः) महातप (ये) जिन्होंने (चक्रिरे) किया है, (तान् चिद् एव) उन्हें ही हे सद् गृहस्थ ! तू शिक्षार्थ (अपि गच्छतात्) प्राप्त हुआ कर।

७८. ये युध्य॑न्ते प्र॒धने॑षु शूरा॑सो॒ ये त॑नू॒त्यजः॑ ।
ये वा॑ स॒हस्र॑दक्षिणा॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥१७॥

(ये) जो लोग (प्रधनेषु) धर्मयुद्धों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, (ये) जो (शूरासः) शूरवीर इन धर्मयुद्धों में (तनूत्यजः) शरीर त्याग करते हैं, (वा) या (ये) जो (सहस्रदक्षिणाः) हजारों की दक्षिणाएं देनेवाले यजमान हैं, (तान् चिद् एव) उन्हें ही हे सद्गृहस्थ ! (अपि गच्छतात्) तू शिक्षार्थ प्राप्त हुआ कर।

७९. स॒हस्र॑नीथाः क॒वयो॒ ये गो॑पा॒यन्ति॒ सूर्य॑म् ।
ऋषी॒न् तप॑स्वतो यम त॒पोजाँ॒ अपि॑ गच्छतात् ॥१८॥

(सहस्रनीथाः) हजारों को सन्मार्ग पर ले जानेवाले, चलानेवाले (कवयः) वैदिक कवि या मेधावी लोग, (ये) जो कि (सूर्यम्) सूर्यों के सूर्य को (गोपायन्ति) हृदयों में सुगुप्त सुरक्षित किये हुए हैं उन्हें, तथा (ऋषीन्) ऋषियों को, (तपोजान्) तथा तपश्चर्या के वायुमण्डल में जन्मे (तपस्वतो)

तपस्वियों को, (यम) हे यमनियमपालक सद्गृहस्थ ! (अपि गच्छतात्) तू शिक्षार्थ प्राप्त हुआ कर ।

(६)

८०. स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥१९॥

(पृथिवी) हे पृथिवी ! (अस्मै) इस प्रजाजन के लिये तू (स्योना) सुखप्रदा, (अनृक्षरा) कण्टकों तथा रीछ आदि हिंस्र प्राणियों से रहित, (निवेशनी) निवासयोग्या (भव) हो । और (अस्मै) इस प्रजाजन के लिये (सप्रथाः) विस्तारवाली तू (शर्म) निवासस्थान, शान्ति तथा सुख (यच्छ) प्रदान कर ।

८१. असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥२०॥

हे प्रजाजन ! (पृथिव्याः) पृथिवी के (असंबाधे) विघ्न-बाधाओं तथा जमघट से रहित, (उरौ लोके) विस्तृत प्रदेश में, तू (नि धीयस्व) मकान की नींव डाल । (जीवन्) हे प्रजाजन ! जीवनकाल में तू ने (याः स्वधाः) जो स्वादु-भोज्य (चकृषे) अतिथि आदि के लिये तय्यार किये, और दिये हैं, (ताः) वे सब (ते) तेरे लिये (मधुश्चुतः) मधुर फलवाले (सन्तु) हों ।

८२. ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि ।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः॥२१॥

हे प्रजाजन ! (इह) इस गृहस्थाश्रम में, (मनसा) निज मननशक्ति द्वारा (ते मनः) तेरी मननशक्ति को (ह्वयामि) मैं जागरित करता हूं । (जुजुषाणः) इस गृहस्थाश्रम का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ, तू (इमान् गृहान्) इन गृहों को (उप एहि) प्राप्त हो । और (पितृभिः) माता-पिता आदि बन्धुओं की (सं गच्छस्व) संगति प्राप्त कर, तथा (यमेन) यम नियमों-वाले आचार्य की (सम्) सङ्गति प्राप्त कर । (त्वा) तेरे प्रति (स्योनाः) सुखकारी तथा (शग्माः) शान्तिकर (वाताः) वायुएं (उप वान्तु) बहा करें । [यमेन=देखो मन्त्र संख्या (५४) ।]

८३. उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः ।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥२२॥

हे प्रजाजन ! (उदवाहाः) जलवाही, (उदप्रुतः) जलों से उछलती हुई अर्थात् जलभरी (मरुतः) मानसून वायुएं (त्वा) तुझे (उद वहन्तु) समुन्नत करें। वे मानसून वायुएं (अजेन) अन्नों द्वारा (शीतम्) तेरी भूख को शान्त करें, या तेरी वृद्धि करें। और (वर्षेण) वर्षा द्वारा (बाः) जल (उक्षन्तु) सींचें। [अजेन="अजसंज्ञानि बीजानि" (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ३३७। शीतम्=भूख अथवा "श्यैङ्" वृद्धौ। बाः=वाः=वारि, जल।]

८४. उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितॄँरुप द्रव ॥२३॥

हे प्रजाजन ! (क्रत्वे) तेरी कर्मशक्ति प्रज्ञा या यज्ञ के लिये, (दक्षाय) प्रगति और वृद्धि के लिये, (जीवसे) जीने के लिये, तथा (आयुषे) सम्पूर्ण आयुकाल भोगने के लिये—मैं परमेश्वर ने (आयुः) तेरी १०० वर्षों की आयु (उद् अह्वम्) वेदों में कही है। इसलिये (ते मनः) तेरा मन (स्वान्) निज सन्तति के पालन-पोषण में (गच्छतु) लगे, (अधा) तदनन्तर अर्थात् गृहस्थ काल के पश्चात् तू (पितॄन्) वनस्थ तथा संन्यस्त पितरों के (उप) समीप (द्रव) जा, अर्थात् वानप्रस्थी वा संन्यासी बन।

८५. मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।
मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥२४॥

हे सद्गृहस्थी ! (इह) इस गृहस्थ जीवनकाल में (ते) तेरी (मनः) मानसिक शक्तियां (मा हास्त) तेरा परित्याग न करें, (असोः) प्राणशक्ति-प्रज्ञाशक्ति तथा शारीरिक बल का (किंचन) कोई अंश (मा हास्त) तेरा परित्याग न करे, (अङ्गानाम्) तेरे अङ्गों में से कोई अङ्ग (मा हास्त) तेरा परित्याग न करे, (ते) तेरे (रसस्य) शारीरिक रसों में से कोई रस (मा हस्त) तेरा परित्याग न करे। (ते) तेरे (तन्वः) शरीर का कोई भी तत्त्व अर्थात् अङ्ग रस आदि (मा हास्त) तेरा परित्याग न करे।

[अर्थात् गृहस्थजीवन में सदाचार और संयमपूर्वक रहकर अपनी

किसी भी शक्ति का अपव्यय न कर। जिस से कि तेरी सम्पूर्ण मानसिक तथा शारीरिक शक्तियाँ बनी रहें, ताकि आत्मोन्नति के लिये तू अगले आश्रमों में सुखपूर्वक जा सके ।]

८६. मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥२५॥

वनस्थ होकर (वृक्ष.) वन के वृक्ष तेरी आत्मोन्नति में (त्वा) तुझे (मा सं बाधिष्ट) बाधा न पहुंचाएं, अपि तु इस शान्त वायु-मण्डल में रह कर, वनस्थ जीवन तेरी आत्मोन्नति में तेरा सहायक बने । तथा (देवी) दिव्यगुणों से सम्पन्न (मही) पूजायोग्य (पृथिवी) यह विस्तृत वनस्थली भी, (मा) तेरी आत्मोन्नति में बाधक न हो, अपि तु सहायक हो । (पितृषु) वनस्थ बुजुर्गों में (लोकं वित्त्वा) स्थान पाकर, (यमराजसु) यमनियमों में सिद्ध आचार्यों के राज्यों में रहकर, (एधस्व) तू वृद्धि को प्राप्त हो । [वृक्षः=जात्येकवचन ।]

८७. यत् ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु ॥२६॥

हे नवीन वानप्रस्थ ! गृहस्थ में रहते हुए (ते) तेरा (यत्) जो (अङ्गम्) जीवनाङ्ग (पराचैः) धर्म से पराङ्मुख कृत्यों के कारण (अतिहितम्) हितकर नहीं रहा था, (वा) अथवा (ते) तेरा (यः) जो (अपानः) अपान और (प्राणः) प्राण (परेतः) तुझ से पराङ्मुख हो चुका था, (सनीडाः) तेरे साथ आश्रम में रहनेवाले (पितरः) बुजुर्ग (ते) तेरे (तत्) उस जीवनाङ्ग को, तथा अपान और प्राण को (संगत्य) मिलकर (पुनः) फिर तुझ में (आ वेशयन्तु) प्रविष्ट कर देवें, जैसे कि (घासात्) घास से (घासम्) नए घास को अङ्कुरित कर दिया जाता है ।

[अपानः=अपान वायु के विकार हैं—पेट में अफारा, मलरोध, उदर-पीड़ा, क्षुधाविनाश आदि । प्राणः—प्राण के विकार हैं—दमा, श्वास-प्रश्वास की अनियमित गति आदि । अतिहितम्=हितमतिक्रान्तम् ।]

८८. अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥२७॥

(गृहेभ्यः) गृहों और गृहवासियों को छोड़कर वानप्रस्थोन्मुख (इमम्) इस व्यक्ति को (जीवाः) इस के जीवित बन्धुओं ने (अप अरुधन्) रोक रखा है। (तम्) उसे हे वानप्रस्थियो! (इतः ग्रामात् परि) इस ग्राम से हटाकर वन की ओर (निर्वहत) ले जाओ। क्योंकि इसने समझ लिया है कि (यमस्य) जगन्नियन्ता परमेश्वर द्वारा नियत की गई (मृत्युः) अवश्यंभावी मृत्यु, (दूतः) नियन्ता का दूत बन कर, (प्रचेता आसीत्) सब को सचेत करती रही है। इसलिये मृत्यु ने (पितृभ्यः) गृहत्यागी पितरों को (असून्) नवजीवन और नवप्रज्ञा (गमयांचकार) प्रदान की है। [गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्" ।]

(७)

८९. ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥२८॥

पितृयज्ञ में (ये) जो (दस्यवः) दस्यु, (पितृषु) पितरों में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट हो गए हैं, जो कि (ज्ञातिमुखाः) जाने-पहिचाने चेहरोंवाले हैं, और (अहुतादः) विना आहुति दिये खानेवाले (चरन्ति) पितरों में विचरते हैं, (ये) जो कि (परापुरः) स्थूलकायों को, (निपुरः) तथा छोटे कायों को (भरन्ति) धारण करते हैं, (तान्) उन्हें (अग्निः) यज्ञाग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञ से (प्र धमति) निकाल देती है।

[दस्यवः=जो विना यज्ञ किये भोजन ग्रहण करते, वे 'दस्यु' कहाते हैं। पितृयज्ञ में पितरों का सत्कार अन्न आदि द्वारा करना होता है। अतः ये पितर जीवित प्रतीत होते हैं, मृत नहीं। इन पितरों में यदि नास्तिक लोग भी विना निमन्त्रण के आ घुसें, तो उन्हें पितृयज्ञ से निकाल देना चाहिये। पुरः=शरीर।]

९०. सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः ।
तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥२९॥

(इह) इस पितृयज्ञ में (नः) हमारे (स्वाः) अपने (पितरः) पिता आदि (सं विशन्तु) प्रवेश पाएं। वे (स्योनम्) हमारे लिये सुखमय मार्ग का (कृण्वन्तः) उपदेश करते हुए (आयुः) हमारी आयु को (प्रतिरन्ते) बढ़ा देते हैं। (हविषा) भोज्यान्नों के साथ (नक्षमाणाः) विचरते हुए हम,

(तेभ्यः) उन पितरों के लिये (शकेम) यथाशक्ति सेवा प्रदान करें। (पुरूचीः शरदः) बहुत वर्षों तक (ज्योग् जीवन्तः) दीर्घजीवी होते हुए हम उनकी सेवाएं करते रहें।

९१. यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासदजीवनः ॥३०॥

हे वनवासी पिता आदि! (ते) तुझे (यां धेनुम्) जो दुधार गौ, (निपृणामि) मैं गृहस्थी तेरे पालनार्थ देता हूं, और (ते) तुझे (यम् उ) जो (क्षीरे ओदनम्) दूध में पके चावल देता हूं, (तेन) उसके द्वारा तू, उस (जनस्य) सज्जन का (भर्ता असः) भरण-पोषण करनेवाला बन, (यः) जो सज्जन कि (अत्र) इन वानप्रस्थाश्रम में (अजीवनः) आजीविका से रहित (असद्) हो।

९२. अश्वावतीं प्र तर या सुशेवार्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः ।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ॥३१॥

हे जीवन्मुक्त! तू (अश्वावतीम्) अश्वों से युक्त संसाररूपी अश्वशाला को,—(सुशेवा) जो उत्तम सुखों का साधन है—(प्रतर) मानो प्लुति लगाकर लांघ जा; (वा) और (ऋक्षाकम्) रीछ आदि हिंस्र प्राणियों से युक्त संसाररूपी अरण्य को—(प्रतरं नवीयः) जो कि बहुत नवीन-नवीन रूप धारण करता है, मानो प्लुतगत्या पार कर जा। हे जीवन्मुक्त! (यः) जो मनुष्य (त्वा) तेरी (जघान) हत्या करता है, (सः) वह (वध्यः) वध के योग्य (अस्तु) हो, (सः) वह (अन्यद्) अन्य किसी जायदाद के (भागधेयम्) हिस्से को (मा विदत) न प्राप्त करे।

[अश्वावती, ऋक्षाक (=ऋक्ष+अक गतौ, व्याप्तौ)—अश्व शब्द परोपकार को सूचित करता है, वह मनुष्य के कार्यों का साधक होता है, इस लिये सुखदायी है। अश्वोंवाले सुखदायी जीवन को "अश्वावती" कहा है। और ऋक्ष अर्थात् रीछ आदि अपकारी प्राणी हैं, जो कि दुःखदायी हैं। इन का संसार नवीन-नवीन प्रतीत होता है, परन्तु हैं ये दुःखदायी। जीवन के इस भाग को "ऋक्षाक" कहा है। संसार में सुख और दुःख दोनों विद्यमान

है। सुखमय भाग अश्वावती है, और दुःखमय भाग ऋक्षाक है। इसलिये जीवन्मुक्त के लिये यह समग्र संसार विषमिश्रित स्वादु अन्न के सदृश त्याज्य है। ऐसे जीवन्मुक्त का जो वध करता है, वह भी वध्य है। और वह निज सम्पत्ति के भागधेय का अधिकारी नहीं रहता। वा=चार्थे। तर=तॄ प्लवने।

तथा—आधिदैविक दृष्टि में "अश्व" शब्द किरणवाची है। इसीलिये सूर्य को "सप्ताश्व" कहते हैं, क्योंकि सात प्रकार की किरणें "अश्व" बनकर सूर्य का वहन करती हैं। इन किरणों से सम्पन्न सूर्य और चन्द्र भी अश्व हैं। इन दोनों से सम्पन्न सौरमण्डल "अश्वावती" नगरी है। "ऋक्ष" का अर्थ नक्षत्रमण्डल भी है। अतः ऋक्षाक है नक्षत्रमण्डलों से युक्त द्युलोक, जो कि नक्षत्रमण्डलों का मानो अरण्य है। जीवन्मुक्त शरीर छोड़कर आत्मरूप से सूर्यद्वार[1] के द्वारा सौरमण्डल को लांघकर[1] और द्युलोक को भी लांघकर,[1] तुरीय-ब्रह्म में विचरता और ब्रह्मानन्द में मग्न रहता है। देखो—मन्त्र संख्या (९३-९४)।]

९३. यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥ ३२॥

(यमः) जगन्नियामक परमेश्वर (परः) परे है, और (विवस्वान्) सूर्य (अवरः) नजदीक है। (ततः) उस परमेश्वर से (परम्) परे (किंचन) किसी वस्तु को (न अति पश्यामि) अतिक्रान्त हुए मैं नहीं देखता। (यमे अधि) इस पर-भूत जगन्नियामक में (मे) मेरा (अध्वरः) यज्ञ-कर्म (निविष्टः) स्थित होता है। (विवस्वान्) सूर्य, रश्मियों द्वारा (भुवः) केवल पृथिवियों अर्थात् ग्रहों और उपग्रहों तक (अन्वाततान) फैला हुआ है।

[यमः=यम को सूर्य का पुत्र और मृत्यु का अधिष्ठाता कहा जाता है। जो यम सूर्य से भी परे अर्थात् सर्वव्यापक है, वह "सूर्य का पुत्र" सम्भव नहीं।]

९४. अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ ३३॥

१, लांघकर का अभिप्राय है "उपरत होकर"। सूर्यद्वार=सहस्रारचक्र के द्वारा, जोकि मस्तिष्क में स्थित है। तथा अश्वावती=शरीर-पुरी, जिस में इन्द्रियाश्व जुते हुए हैं। तथा ऋक्षाक=मस्तिष्करूपी द्यौः। अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्त शरीर और मस्तिष्क को छोड़कर अर्थात मुक्त होकर ब्रह्मानन्द में मग्न रहता है।

परमेश्वरीय शक्तियों ने (अमृताम्) उषा को (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों से (अपागूहन्) छिपा दिया, और (सवर्णाम्) उषासदृश वर्णवाली या सूर्य के समान वर्णवाली सौर-प्रभा को (कृत्वा) प्रकट करके (विवस्वते) सूर्य के लिये, परमेश्वरीय शक्तियों ने (अदधुः) दे दिया, या स्थापित कर दिया। (उत) तदनन्तर (यत्) जो सूर्यारूप (आसीत्) था, (तत्) उसे सूर्या ने (अजहात्) त्याग दिया। तब (सरण्यूः) सरण्यूरूप धारण कर उस ने (अश्विनौ) अश्वियों को (अभरत्) पैदा किया, जो कि (द्वा) दो थे, और (मिथुना) परस्पर में मिथुनरूप थे।

[सरण्यूः—जब सूर्यप्रभा प्रकाशित भूभाग सेसरण करनेवाली हो जाती है, तब उसे "सरण्यू" कहते हैं। यह सायं-सन्ध्या का समय है। इस समय पौर्णमासी के दिन, पश्चिम में सूर्यास्त के लगभग, पूर्व दिशा में चन्द्रमा होता है। मानो इस सरण्यू ने सूर्य और चन्द्रमा रूप अश्वियों को पैदा किया है। निरुक्तकार ने "एके" कह कर 'अश्विनौ' पद द्वारा "सूर्याचन्द्रमसौ" को भी सूचित किया है। ये दोनों अश्वों अर्थात् किरणोंवाले हैं। इसलिये 'अश्विनौ' हैं। 'अश्विनौ' का अर्थ है, "अश्वोंवाले" किरणोंवाले। ये दो हैं, और परस्पर में मिथुनरूप हैं। प्रश्नोपनिषद् में सूर्य को प्राण, तथा चन्द्रमा को रयि कहकर, इन दोनों को मिथुन कहा है। यथा—**स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते, रयिं च प्राणं च। आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः"**। कईयों के मत में "अश्विनौ" अहोरात्र हैं, दिन और रात। दिन में सूर्य की किरणें होती हैं, और रात्रि में चन्द्रमा तथा द्युलोक के नक्षत्रों और तारागणों की किरणें होती हैं। सरण्युकाल में दिन और रात का संगम रहता है।]

(८)

९८. ये निखा॑ता ये परो॑प्ता ये दुग्धा ये चोद्धि॑ताः।
सर्वा॒स्तान॑ग्न आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥३४॥

(ये) जो (निखाताः) खनिजविद्या में निष्णात, (ये) जो (परोप्ताः) बीज बोने अर्थात् कृषिविद्या में निष्णात, (ये) जो (दग्धाः) विदग्ध अर्थात् बुद्धिमान् मेधावी, (च) और (ये) जो (उद्धिताः) सब का उत्तम हित करनेवाले (पितृन्) पितर हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को—(अग्ने) हे पितृयज्ञ की अग्नि ! तू (आ वह) इस पितृयज्ञ में निमन्त्रित कर, (हविषे अत्तवे) ताकि वे हविष्यान्न का भक्षण करें।

[अन्नभक्षण मृत-पितर नहीं कर सकते। इसलिये निमन्त्रित पितर जीवित हैं। अग्न आ वह=पितृयज्ञ के दिन निश्चित होने चाहियें। जिस घर में पितृयज्ञ की अग्नि प्रदीप्त हो, उसे देखकर पितर स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। पितृयज्ञ की अग्नि मानो पितरों को निमन्त्रण दे रही होती है।]

९६. ये अ॒ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।
त्वं तान् वे॑त्थ॒ यदि॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम् ॥३५॥

(ये) जो (अग्निदग्धाः) अच्छे प्रकार अग्निविद्या के ग्रहण करनेहारे, (ये) जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि से भिन्न अन्य पदार्थविद्याओं के जाननेहारे पितृलोग, (दिवः) ज्ञानप्रकाश के (मध्ये) बीच, (स्वधया) अपने-अपने पदार्थज्ञान के धारण करनेरूप क्रिया से (मादयन्ते) आनन्द को प्राप्त होते हैं, (जातवेदः) हे नवीन तीक्ष्ण बुद्धिवाले विद्वन्! (तान्) उन पितरों को (त्वम्) तू (वेत्थ) जानता है, (यदि ते) यदि वे पितर तुम्हें भी जानते हैं, तो वे (स्वधितम्) स्वादु अन्नोंवाले (यज्ञम्) पितृयज्ञ को प्राप्त कर, (स्वधया) स्वादु अन्नों के द्वारा (जुषन्ताम्) सेवा प्राप्त करे।

[महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य १९।६०,६७ मन्त्रों के आधार पर यह मन्त्रार्थ किया है। स्वधितम्=स्वधा+इतच्। यथा—तारकितं नभः। स्वधा=अन्न (निघं० २।७), तथा स्वद् (उणा० ४।१७६)।]

९७. शं त॑प॒ माति॑ त॒पो अग्ने॒ मा त॒न्व॑१ तपः॑ ।
वने॑षु शु॒ष्मो अ॑स्तु ते पृथि॒व्याम॑स्तु॒ यद्धरः॑ ॥३६॥

हे सद्गृहस्थ! तू (शम्) शान्तिदायक मात्रा में (तप) तप किया कर, (अति) अतिमात्रा में (मा तपः) तप न किया कर। (अग्ने) हे ज्ञानवन्! (तन्वम्) तनु को (मा तपः) मत तपाया कर। हे सद्गृहस्थिन्! (वनेषु) वानप्रस्थियों में (शुष्मः) शोषक-तप (अस्तु) होना चाहिये। (पृथिव्याम्) पार्थिव भोगों में अर्थात् गृहस्थ जीवन में (ते) तेरा तप ऐसा होना चाहिये (यत्) जो कि (हरः) आलस्य और प्रमाद का हरनेवाला हो।

[तप के सम्बन्ध में योगदर्शन व्यासभाष्य (२।१) में लिखा है कि—**"तपश्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यन्ते"**। अर्थात् तप उतनी मात्रा में करना चाहिये, जितने में चित्त में प्रसन्नता बनी रहे, और

निज कार्यों में जो बाधक न हो। ज्ञानसम्पन्न गृहस्थी को अतिमात्रा में तप का निषेध किया है। तप के द्वारा तनु को कष्ट न पहुंचाना चाहिये। वनस्थ-जीवन में चाहे शोषक तप कर लिया जाय, परन्तु गृहस्थ-जीवन में शोषक-तप निषिद्ध है। तन्वम्=तनू-तप की अपेक्षा मनस्तप श्रेष्ठ है। यम-नियमों का परिपालन मनस्तप है।]

९८. ददा॑म्यस्मा अ॒व॒सान॑मे॒तद् य ए॒ष आग॑न् मम॒ चेदभू॑दि॒ह ।
य॒मश्चि॑कि॒त्वान् प्रत्ये॒तदा॑ह॒ ममै॒ष रा॒य उप॑ तिष्ठतामि॒ह ॥३७॥

(यः) जो (एषः) यह तपस्वी, (इह) इस मेरे आश्रम में (आगन्) आया है, (चेद्) यदि (मम) मेरा शिष्य (अभूत्) हो गया है, तो (अस्मै) इसे (एतद्) यह (अवसानम्) जनन-मरण की परम्परा को समाप्त करनेवाला ज्ञान (ददामि) मैं देता हूं। (चिकित्वान्) यथार्थज्ञानी (यमः) आचार्य ने (एतत्) यह (प्रत्याह) उत्तर दिया, और कहा कि (इह) इस मेरे आश्रम में (एषः) यह शिष्य (मम) मेरी (रायः) सम्पत्तियों में (उपतिष्ठताम्) स्थान प्राप्त करे। [अवसानम्=निवासस्थान भी।]

(६)

९९. इ॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥३८॥

आयु की (इमाम्) इस (मात्राम्) मात्रा को, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में (मिमीमहे) हम मापते हैं। (यथा) ताकि (अपरम्) इस से कम (न मासातै) न कोई मापे। (पुरा) इस से पहिले (नो) मृत्युकाल नहीं।

[मनुष्य की औसतन आयु १०० वर्षों की कही है। संयमी व्यक्ति इस मात्रा से भी अधिक आयुवाला हो जाता है "**भूयसीः शरदः शतात्**" (अथर्व० १९।६७।८)। १०० वर्षों की आयु तक मन इन्द्रियां और शरीर स्वस्थ रहने चाहियें।]

१००. प्रेमां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥३९॥

आयु की (इमाम्) इस (मात्राम्) मात्रा को, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में

(प्र मिमीमहे) हम यथार्थज्ञानपूर्वक मापते हैं। (यथा) ताकि (अपरम्) इस से कम (न मासातै) न कोई मापे। (पुरा) इससे पहिले (नो) मृत्युकाल नहीं।

१०१. अपे॒मां मात्रां॑ मिमीमहे य॒थाप॑रं॒ न मासा॑तै ।

श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥४०॥

(अप) संशयरहित होकर, आयु की (इमाम्) इस (मात्राम्) मात्रा को, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में (मिमीमहे) हम मापते हैं। (यथा) ताकि (अपरम्) इस से कम (न मासातै) न कोई मापे। इस से (पुरा) पहिले (नो) मृत्युकाल नहीं।

१०२. वी॒३मां मात्रां॑ मिमीमहे य॒थाप॑रं॒ न मासा॑तै ।

श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥४१॥

आयु की (इमाम्) इस (मात्राम्) मात्रा को, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में (वि मिमीमहे) हम विशेषरूप में मापते हैं, (यथा) ताकि (अपरम्) इस से कम (न मासातै) न कोई मापे। इस से (पुरा) पूर्व (नो) मृत्युकाल नहीं।

१०३. निरि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे य॒थाप॑रं॒ न मासा॑तै ।

श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥४२॥

आयु की (इमाम्) इस (मात्राम्) मात्रा को, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में (निर् मिमीमहे) निश्चितरूप में हम मापते हैं, (यथा) ताकि (अपरम्) इस से कम (न मासातै) न कोई मापे। इससे (पुरा) पहिले (नो) मृत्युकाल नहीं।

१०४. उदि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे य॒थाप॑रं॒ न मासा॑तै ।

श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥४३॥

आयु की (इमाम्) इस (मात्राम्) मात्रा को, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में (उद् मिमीमहे) हम उत्कृष्ट या उन्नतरूप में मापते हैं, (यथा) ताकि (अपरम्) इससे कम (न मासातै) न कोई मापे। इससे (पुरा) पहिले (नो) मृत्युकाल नहीं।

१०५. समि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥४४॥

आयु की (इमाम्) इस मात्रा को, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में (सम् मिमीमहे) सम्यक्रूप में (मिमीमहे) हम मापते हैं, (यथा) ताकि (अपरम्) इससे कम (न मासातै) न कोई मापे। इस से (पुरा) पहिले (नो) मृत्युकाल नहीं।

१०६. अमा॑सि॒ मात्रां॒ स्व॑रगा॒मायु॑ष्मान् भूयासम्।
यथाप॑रं॒ न मासा॑तै श॒ते श॒रत्सु नो पु॒रा ॥४५॥

(शते शरत्सु मात्राम्) आयु की १०० वर्षों की मात्रा को (अमासि) मैंने माप लिया है, पूर्ण कर लिया है। (स्वः अगाम्) स्वास्थ्य के नियमों पर चलते हुए मैंने सुख प्राप्त किया है, (आयुष्मान् भूयासम्) मैं और अधिक आयुवाला होऊं, यह मेरी कामना है। (यथा अपरं न मासातै) ताकि कोई भी इससे कम अपनी आयु न मापे। इस माप से (पुरा) पहिले (नो) मृत्युकाल नहीं।

१०७. प्रा॒णो अ॑पा॒नो व्या॒न आयु॒श्चक्षु॑र्दृ॒शये॒ सूर्या॑य।
अप॑रिपरेण प॒था य॒मरा॑ज्ञः पि॒तॄन् ग॑च्छ ॥४६॥

हे साधक! (प्राणः, अपानः, व्यानः, आयुः, सूर्याय दृशये चक्षुः) तेरा प्राण, अपान, व्यान, आयु, और सूर्य को देखने के लिये आंख सौ वर्षों तक बने रहें। इसके लिये (अपरिपरेण पथा) मोक्षविमुख संसारी लोगों के मार्ग से भिन्न मार्ग द्वारा तू, (यमराज्ञः) यमनियमों का आचार्य है राजा जिनका ऐसे (पितॄन्) पिता पितामह आदि बुजुर्गों के सङ्ग में (गच्छ) जा, अर्थात् वानप्रस्थ आदि को प्राप्त हो।

[प्राणः—मुख नासिका द्वारा छाती में संचार करनेवाली वायु, जो कि रक्त में मिलकर समग्र शरीर को जीवित रखती है, अर्थात् रक्त-संस्थान। अपानः—पेट और आन्तों में संचार करनेवाली, मल-मूत्र का निःसारण करनेवाली वायु। व्यानः—ज्ञानवाहिनी और क्रियावाहिनी नाड़ियां, अर्थात् *Nervous system* अपरिपर=परिगृहीतः परैः मोक्षविमुखैः संसारिभिः इति परिपरः पन्थाः, तद्भिन्नः अपरिपरः, तेन। यमराज्ञः—यमः राजा येषां तान्। यमाचार्य

का वर्णन कठोपनिषद् में भी हुआ है। पितृन्=सभी बुजुर्ग, जो कि वानप्रस्थ तथा संन्यस्त हैं। "छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि" (अष्टा० ५।२।८९)।]

(१०)

१०८. ये अ॒ग्रवः॑ शशमा॒नाः प॑रे॒युर्हि॒त्वा द्वेषां॒स्यन॑पत्यवन्तः ।
ते द्यामु॒दित्या॑विदन्त लो॒कं नाक॑स्य पृ॒ष्ठे अधि॒ दीध्या॑नाः ॥४७॥

(ये) जो (अग्रवः) अविवाहित ब्रह्मचारी (द्वेषांसि हित्वा) राग-द्वेष छोड़कर, (अनपत्यवन्तः) विना सन्तानों के, (शशमानाः) शश=खरगोश के सदृश मानों प्लुतियां लगाते हुए (परेयुः) सांसारिक व्यवहारों से परे चले गए हैं, (ते) वे (द्याम्) द्युलोक को (उदित्य) प्राप्तकर, और (नाकस्य) दुःखों से दूर करनेवाले सहस्रार-चक्र की (पृष्ठे अधि) पीठ पर अधिकृत होकर (दीध्यानाः) ध्यान लगाए हुए, (लोकम्) आलोकमय परमेश्वर को (अविदन्त) पा लेते हैं।

[अग्रवः=**जनियन्ति नौ अग्रवः** (अथर्व० १४।२।७२); अर्थात् "अग्रु" लोग जाया चाहते है। अथवा आध्यात्मिक जीवन में "आगे बढ़नेवाले"। द्याम्=सिर। **शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजु० ३१।१२) तथा "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०।७।३२)।]

१०९. उ॒दन्व॑ती द्यौर॑व॒मा पी॑लु॒मतीति॒ मध्य॒मा ।
तृ॒तीया॑ ह प्र॒द्यौरि॑ति॒ यस्यां॑ पि॒तर॒ आस॑ते ॥४८॥

(उदन्वती) जलवाली (अवमा) निचली (द्यौः) द्यौ है, (पीलुमती) पीलुओंवाली (मध्यमा) बीच की द्यौ है (तृतीया) तीसरी है (ह) निश्चय से (प्र द्यौः इति) प्रद्यौ, (यस्याम्) जिस में कि (पितरः) पितर (आसते) रहते हैं, या आसन जमाए रहते हैं।

[द्यौ=सिर, देखो मन्त्र संख्या (१०८)। १०९ मन्त्रानुसार द्यौः के तीन हिस्से हैं—अवमा, मध्यमा और तृतीया। अवमा को "उदन्वती" कहा कहा है, मध्यमा को "पीलुमती", और तृतीया को "प्रद्यौः" कहा है। आध्यात्मिक दृष्टि में "उदन्वती" का स्थान सिर में है, अर्थात् मस्तिष्क में है। क्योंकि उदन्वती को "द्यौः" कहा है, और द्यौः है सिर अर्थात् मूर्धा। मस्तिष्क

के कोष्ठों में एक प्रकार का रस चूता रहता है, योगिजन इस का पान करते हैं। इस रस की दृष्टि से मस्तिष्क के कोष्ठस्थानों को अवम कोटि का द्यौः कहा है। यह इस रस के कारण उदन्वती है, उदकवाली है। "पीलुमती" द्यौः है "*fineal gland*", जो कि भ्रूमध्य के पीछे की ओर है, जिसे कि आज्ञाचक्र या शिवनेत्र कहते हैं। आज्ञाचक्र में संयम द्वारा दिव्य दृष्टि अर्थात् *clair voyance* प्रकट होती है। शिवनेत्र इसलिये कि इस नेत्र के विकसित होने पर योगी का कल्याण होता है, और उसे निश्चय हो जाता है कि वह ठीक प्रकार से योगमार्ग पर चल रहा है। यह द्यौः है, चूंकि यह दिव्यज्ञान-प्रकाश से प्रकाशित है। *fineal* और पीलु इन में श्रुतिसाम्य भी है। *fineal gland=a rounded body about the size of a pea, situated behind the third ventriale of the brain*। "प्र द्यौः" सहस्रारचक्र है, जो कि आज्ञाचक्र से भी अधिक ज्ञानप्रकाश का केन्द्र है। इसीलिये प्र (=प्रकर्ष)+द्यौः कहा है। इस स्थान पर मन के स्थिर हो जाने पर सर्ववृत्तियों के निरोधरूप असंप्रज्ञात समाधि की योग्यता प्राप्त होती है। इस मानसिक-स्थिरता को मन्त्र में "आसते" शब्द द्वारा सूचित किया है। मन्त्र में "पितरः" का अभिप्रायः "योगिजन" है।]

आधिदैविक दृष्टि में 'उदन्वती' द्यौः है—सौर-मण्डल, जिस में द्युतिमान् सूर्य और उसके द्वारा सौर-मण्डल के ग्रह-उपग्रह द्युतिसम्पन्न हो रहे हैं। इस सौर-मण्डल को उदन्वती द्यौः इसलिये कहा है कि इस सौरमण्डल की पृथिवी और वायुमण्डल जल से भरपूर हैं। उदन्वती का शाब्दिक अर्थ है—"जलवाली"। 'पीलुमती' का अभिप्राय है द्युलोक, जो कि पीलु फल सदृश नक्षत्रों से पूरित है, या खिले पुष्पों के सदृश मानो खिले नक्षत्रों द्वारा पुष्पित है। 'प्रद्यौः' है—आकाशगङ्गा। जिस में नक्षत्रों की असंख्यात संख्या अपनी झिलमिल द्वारा आकाशगङ्गा को प्रद्योतित कर रही है। आकाशगङ्गा के नक्षत्र अर्थात् तारागण स्पष्ट रूप में व्यक्तिरूप से दृष्टिगोचर नहीं होते। केवल इनकी प्रभाएं ही परस्पर मिलकर आकाशगङ्गा को प्रद्योतित करती हैं। सम्भवतः इस तीसरी प्रद्यौः में मुक्त योगी पितरों का वास हो। अथर्ववेद १९।२७।३ में भी ३ द्युलोक कहे हैं। यथा—**तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान्**"। अथवा मन्त्र के चतुर्थपाद में "यस्याम्" द्वारा "सामान्य द्यौः" का वर्णन है, जिसमें कि तीनों प्रकार के

द्यौः समाविष्ट हैं, जो कि कई पितरों के निवासस्थान हैं। देखो मन्त्रसंख्या संख्या (६८)। तीन द्यौः=राशिचक्र, और इसके उत्तर और दक्षिण के गोलार्ध।]

११०. ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥४९॥

(ये) जो (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पितर, तथा (ये) जो पिता के (पितामहाः) पितामह हैं, (ये) जो कि (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तृत अन्तरिक्ष में (आ विविशुः) आकर प्रवेश पाए हुए हैं, (ये) और जो (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी तथा द्युलोक में (आ क्षियन्ति) विचरते है, (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरों की, (नमसा) नमस्कारों द्वारा (विधेम) हम परिचर्या करते हैं।

[मृत पितरों का निवास अन्तरिक्ष, पृथिवी, द्युलोक इन सभी स्थानों में हो सकता है। श्रद्धापूर्वक नमस्कारों द्वारा उनका स्मरण करना चाहिये, और उनकी जीवनियों से अपने जीवनों में स्फूर्ति पानी चाहिये। नमसा=नमस्कारों द्वारा। अपने-अपने कर्मानुसार जीवात्माओं की भिन्न-भिन्न गतियों का वर्णन मन्त्र में किया गया है।]

१११. इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥५०॥

मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म में (इदम्) यह भूमण्डल (इद् वै उ) ही निश्चय से तेरे लिये है, (अपरम्) इस से भिन्नलोक तेरे लिये (न) नहीं है। इस भूमण्डल में पैदा होकर (दिवि) द्युलोकस्थ (सूर्यम्) सूर्य को (पश्यसि) तू देखता रहे। (माता यथा) माता जैसे (सिचा) अपनी आंचल द्वारा (पुत्रम्) पुत्र को ढांपती है, वैसे (भूमे) हे मातृभूमि ! तू (एनम्) इस नवजात को (अभि ऊर्णु हि) वस्त्र आदि द्वारा आच्छादित करती रह।

११२. इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम् ।
जाया पतिमिव वाससाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥५१॥

(इदम् इत्) यह भूमण्डल ही (वै उ) निश्चय से तेरे लिये है, (अपरम्)

इससे भिन्न लोक तेरे लिये (न) नहीं है। (जरसि) जरावस्था में (इतः) इस गृहस्थाश्रम से (अन्यद्) भिन्न (अपरम्) दूसरा आश्रम तेरे लिये है। (जाया) पत्नी (इव) जैसे (वाससा) वस्त्रों के निर्माण द्वारा (पतिम्) पति को आच्छादित करती है, वैसे (भूमे) हे मातृभूमि! तू (एनम्) इस नवजात को (वाससा) वस्त्र आदि द्वारा (अभि ऊर्णुहि) आच्छादित करती रह।

[मन्त्र १११ और ११२ का यह अभिप्राय है कि सौर-मण्डल के जीवात्मा मृत्यु के पश्चात्, पुनः इस भूमण्डल पर ही जन्म लेते रहते हैं, जब तक कि उनका मोक्ष नहीं होता। गृह्यवस्त्रों का निर्माण करना पत्नी कर्तव्य है, यह वेदोक्त विधि है, यथा—(अथर्व. १४।१।४५, १४।२।५१)। जरसि—५० वर्षों की आयु के पश्चात्।]

११३. अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि॥५२॥

हे नवजात! (पृथिव्याः) पृथिवी के सदृश गुणोंवाली (मातुः) तेरी माता के बनाए (वस्त्रेण) वस्त्रों द्वारा, (भद्रया) भद्रसम्मत विधि से (त्वा) तुझे (अभि ऊर्णोमि) मैं पिता ढांपता हूं। (जीवेषु पितृषु) जीवित पितरों में (भद्रम्) जो कल्याणकारी तथा सुखदायी जीवन है, उनके सदुपदेशों द्वारा (तत्) वह भद्र जीवन (मयि) मुझ में हो, और जीवित पितरों के निमित्त जो (स्वधा) स्वादु अन्न मैंने तैयार किया है, (सा) वह (त्वयि) हे वनस्थ पिता आदि! आपके निमित्त हो।

[मन्त्र के पूर्वार्ध का सम्बन्ध मन्त्र संख्या (१११-११२) के साथ है, और उत्तरार्ध का सम्बन्ध अगले मन्त्रों के साथ है। 'जीवेषु' पद विशेषण है "पितृषु" का। इसलिये मन्त्र में जीवित पितर अर्थ किया गया है। "जीवेषु पितृषु" में अधिकरण सप्तमी तथा निमित्त सप्तमी इन दोनों के अर्थ उपपन्न हैं।]

११४. अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम्।
उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम्॥५३॥

(अग्नीषोमा) हे पत्नी तथा पति! तुम दोनों (पथिकृता) वर्णाश्रम-

धर्मपथ के निर्माण करनेवाले हो। तुम दोनों (देवेभ्यः) दिव्यगुणी वर्णाश्रमियों के लिये (स्योनम्) सुख, (रत्नम्) विविध रत्नों, तथा (लोकम्) निवास स्थान का (विदधथुः) विधान करनेवाले हो। (यः) जो परमेश्वर (इष्यन्तम्) मोक्षाभिलाषी (पूषणम्) तथा मोक्षमार्ग में पुष्टिप्राप्त योगी को (उप प्र वहाति) अपने समीप ले लेता है, (तत्र) उस परमेश्वर के आश्रय में, (अञ्जोयानैः) सत्यजीवन की ओर ले जाने वाले (पथिभिः) वैदिकमार्गों द्वारा (गच्छतम्) तुम दोनों गमन करो, जीवन-यात्रा करो।

[अग्नीषोमौ— अग्नि शब्द स्त्री के रजोधर्म को सूचित करता है, और सोम शब्द पुरुष की वीर्यशक्ति का निर्देशक है। सोम=पति। यथा—"**सोमो वधूयुरभवत्**" (अथर्व १४।१।९) अर्थात् सोम वधू की इच्छा करता है। तथा "**सोमस्य जाया प्रथमम्**" (अथर्व १४।२।३) अञ्जसा=सत्य।]

११९. पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥५४॥

(पूषा) पुष्टिकर्त्ता, (विद्वान्) सर्वज्ञ, (अनष्टपशुः) प्राणियों का अविनाशक, (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् का रक्षक परमेश्वर, हे सद्गृहस्थी! (त्वा) तुझे, निजप्रेरणा द्वारा, (इतः) इस गृहस्थ-कर्म से (प्रच्यावयतु) प्रच्युत करे, हटाए। (सः) वह (अग्निः) जगदग्रणी (त्वा) तुझे (सुविदत्रियेभ्यः) सुविज्ञ (एभ्यः) इन (पितृभ्यः देवेभ्यः) पितृदेवों के प्रति (परि ददत्) सुपुर्द करे।

[अभिप्राय यह है कि गृहस्थ आदि के धन्धों से छुटकारा,[1] और अगले आश्रमों में जाकर सद्गुरुओं की प्राप्ति परमेश्वरीय कृपा और अनुग्रह का परिणाम है। अनष्टपशु=वेद में पशुओं के ५ विभाग किये हैं,—गावः, अश्वाः, पुरुषाः, अजावयः (अथर्व ११।२।९), यथा "**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वा पुरुषा अजावयः**"। जब तक मनुष्य का मोक्ष नहीं होता, तब तक वे पशुसमान होते हैं। आहार, निद्रा, भय, राग द्वेष आदि की दृष्टि से वे पशुसमान ही होते हैं। ऐसी अवस्था में इन की मत्यु और नए-नए जन्म होते रहते हैं। इन मृत्युओं में इन का विनाश न समझना चाहिए। जन्म-

१. अथवा पुष्टिकर्त्ता परमेश्वर तुझे इस शरीर से छुड़ाकर सुविज्ञ पितृदेवों के घर तुझे नया जन्म दे।

मरण-परम्परा जीवात्माओं की समुन्नति के लिये होती है, और इस परम्परा का अवसान मोक्ष में होता है।]

११६. आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥५५॥

(आयुः) तेरी आयु, (विश्वायुः) तेरी सम्पूर्ण १०० वर्षों की आयु-(त्वा) तेरी (परिपातु) पूर्णतया रक्षा करे। अर्थात् तू इस आयु का दुरुपयोग न कर। (पूषा) पुष्टिकर्ता परमेश्वर, (प्रपथे) श्रेष्ठपथ पर चलते हुए का (पुरस्तात्) अगुआ बनकर, मार्गदर्शक बनकर (त्वा) तेरी (पातु) रक्षा करे। (यत्र) जिस मार्ग में (सुकृतः) सुकर्मी लोग (आसते) स्थित हैं, (यत्र) जिस मार्ग में (ते) वे सुकर्मी लोग (ईयुः) चले हैं, (तत्र) उस मार्ग में (सविता देवः) सर्वोत्पादक देव (त्वा) तुझे (दधातु) स्थापित करे, और तेरा पोषण करे।

११७. इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥५६॥

हे सद्गृहस्थ ! (इमौ) इन दो को, अर्थात् (ते) तेरे माता-पिता को (अग्नीषोमा, मन्त्र ११४) तेरे लिये (युनज्मि) मैं नियुक्त करता हूं, जो कि (वह्नी) सन्मार्ग पर तेरा वहन करते हैं। ताकि तू (असुनीताय) नवीन प्रज्ञा और नवीन जीवन की प्राप्ति के लिये, (वोढवे) सन्मार्ग पर चलाया जा सके। (ताभ्याम्) उन दोनों के सहयोग द्वारा तू (यमस्य) यमनियमों के आचार्य के (सादनम्) आश्रम में, और उस आश्रम में होने वाली (समितीः च) समितियों में, सत्संगों में (अव गच्छतात्) जाया करे। [असु=प्रज्ञा (निघं० ३।९), तथा "प्राण" (उणा० १।१०), दयानन्द-भाष्य।]

११८. एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा वि बन्धुषु ॥५७॥

हे वनोन्मुख! (एतत्) यह (प्रथमम्) श्रेष्ठ (वासः) वस्त्र (त्वा नु आगन्) तुझे प्राप्त हुआ है, अर्थात् वानप्रस्थ के अनुकूल वस्त्र प्राप्त हुआ है। (एतत्) और इस वस्त्र को (अप ऊह) तू दूर कर दे (यत्) जिसे कि (इह) इस गृहस्थाश्रम में (पुरा) पहिले (अबिभः) तूने धारण किया हुआ था।

(यत्र) जिस गृहस्थाश्रम में (वि बन्धुषु) विविध बन्धुबान्धवों में या बन्धु रहित अनाथों में (बहुधा) बहुत प्रकार का (ते) तेरा (दत्तम्) दानकार्य हुआ है, और (इष्टापूर्तम्) यज्ञों तथा परोपकार का कार्य हुआ हैं। (विद्वान्) उसे जानता हुआ तू (अनु) तदनुरूप (संक्राम) सम्यक्तया आगे पग बढ़ा ।

११९. अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च ।
नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्खयातै ॥५८॥

हे योगपथ पर आगे पग बढ़ाने वाले ! [संक्राम ११८] तू (गोभिः) वेदवाणियों के सदुपदेशों द्वारा (अग्नेः) जगदग्रणी परमेश्वररूपी (वर्म) कवच को (परिव्ययस्व) अपने चारों ओर पहन ले, और (गोभिः) गौओं के कारण (मेदसा) दूध-घृत द्वारा (च) और (पीवसा) दुग्धजन्य चर्बी द्वारा (सं प्र ऊर्णुष्व) अपने आप को आच्छादित कर ले, परिपुष्ट करले। ताकि (धृष्णुः) पराभवकारी, (हरसा जर्हृषाणः) अपनी हरणशक्ति द्वारा मानो हरण करना चाहता हुआ, (दधृग्) प्रसह्यकारी, (विधक्षन्) तथा विदग्ध करता हुआ कालाग्नि (नेत् त्वा) कहीं तुझे न (परीङ्खयातै) चारों ओर से घेर ले ।

[अग्नेः वर्म=षष्ठी विभक्ति विकल्पार्थक अर्थात् अभेदार्थक है। "**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः**" (योग १।९); अतः अग्नेर्वर्म= अग्निरूपी कवच, जगदग्रणीरूपी कवच। अथर्ववेद में अन्यत्र भी कहा है; यथा "**प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहम्**" (१७।१।२७)। इस उद्धरण में ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मप्रतिपादक मन्त्रों को प्रजापति परमेश्वर की दी हुई कवच कहा है। तथा "**परीतो ब्रह्मणा वर्मणाहम्**" (१७।१।२८) में ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर को कवच कहा है। तथा "**सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः। यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्**" (अथर्व० ८।२।२५) में ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मप्रतिपादक मन्त्रों या ब्रह्म को परिधि अर्थात् कवच कहा है। पीवसा=पीव स्थौल्ये। शरीरगत चर्बी शरीर को स्थूल करती है। गोभिः=गौ के यहां दो अर्थ हैं—वेदवाणी (निघं० १।११), तथा प्रसिद्ध गौ। तथा "**ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति**" (निरु० २।२।५) की दृष्टि से 'गोभिः' का अर्थ है—गौ के दूध घृत आदि द्वारा। जर्हृषाणः=हृ+सन्+ शानच्। दधृग्=धृष् प्रसहने।]

१२०. दुण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥५९॥

नवनिर्वाचित राजा (गतासोः) गतप्राण और गतप्रज्ञसे हुए पुराने राजा के (हस्तात्) हाथ से, उसके अधिकार से (श्रोत्रेण, वर्चसा, बलेन सह) विवादों को श्रवण करने के अधिकार, राजकीय तेज, और सेना बल के साथ-साथ (दण्डम्) दण्डधर के अधिकार को (आददानः) आदान करता हुआ कहे कि हे राजन् ! (अत्र एव) इसी राष्ट्र में (त्वम्) आप रहिये, और (इह) इसी राष्ट्र में (वयम्) राज्याधिकारी भी रहें । और (सुवीराः) उत्तम सैनिक वीरों वाले होकर हम (विश्वाः) सभी (अभिमातीः) अभिमानी (मृधः) संग्रामोद्यत शत्रुसेनाओं पर (जयेम) विजय पायें ।

[अभिप्राय यह है कि राजा जब प्राणशक्ति और विचारशक्ति से निर्बल पड़ जाय, और राज्यशासन के लिये अशक्त हो जाय, तब नवनिर्वाचन द्वारा नया राजा बना लेना चाहिये ।]

१२१. धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥६०॥

हे नवनिर्वाचित राजन् ! (मृतस्य) मृतप्राय हुए, निःशक्त हुए पुराने राजा के(हस्तात्) हाथ से, उस के अधिकार से,(क्षत्रेण, वर्चसा, बलेन सह) राष्ट्र धन, राजकीय तेज और सेनाबल के साथ-साथ (धनुः) शस्त्रास्त्रों का (आददानः) आदान करता हुआ, तथा (भूरि) प्रभूत और (पुष्टम्) परिपुष्ट (वसु) कोषसम्पत् (समागृभाय) सम्यक् विधि से अर्थात् नियमानुसार ग्रहण करके (त्वम्) तू (जीवलोकम् अभि) सजीव-प्रजाजनों की (अर्वाक्) ओर (उप एहि) आया कर ।

[क्षत्रेण=धनेन (निघ० २।१०) । मृतस्य=मृत शब्द गौणार्थ में भी प्रयुक्त होता है । यथा—

'मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं मैथुनमप्रजम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ पञ्चतंत्र २।१०१।३॥]

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ३

१-७३ अथर्वा । यमः; ५-६ अग्निः, ४४,४६ मन्त्रोक्ताः, ५४ इन्दुः, ५६ आपः ।

१२२. इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनु पालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥१॥

(प्रेतम्) मृतपति को (उप=उपपद्य) प्राप्त होकर (पतिलोकम्) पुनः पतिगृह को (वृणाना) चाहती हुई, और (पुराणं धर्मम्) वेदोक्त सनातन धर्म का (अनु पालयन्ती) पुनः पालन करती हुई (इयं नारी) यह विधवा स्त्री, नियोगविधि द्वारा (मर्त्य) हे जीवित पुरुष ! (त्वा) तुझे (नि पद्यते) प्राप्त होती है । (तस्यै) उस विधवा स्त्री के लिये, तू (इह) इस गृहस्थलोक में (प्रजाम्) प्रजोत्पादन (धेहि) कर । (च) और इस विधवा में (द्रविणम्) उत्तम धन वीर्य का (धेहि) आधान कर ।

['ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के नियोग-प्रकरण में महर्षि दयानन्द कृत अर्थ के आधार पर अर्थ किया है। द्रविणम्=द्रव्यं वीर्यम् (दयानन्द) । वीर्य द्रवणशील है, अतः द्रविण है ।]

१२३. उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥२॥

(नारि) हे विधवे नारी ! (गतासुम्) गतप्राण अर्थात् मृत (एतम्) इस पति को छोड़कर (उदीर्ष्व) तू उठ, (जीवलोकम् अभि) और जीवित देवर अर्थात् द्वितीय वर पति को (एहि) प्राप्त कर, (उपशेषे) उसी के साथ सन्तानोत्पादनार्थ वर्ताव कर । (हस्तग्राभस्य पत्युः) विवाह में जिसने तेरा पाणि-ग्रहण किया था उस पति की, (दधिषोः) तेरा धारण-पोषण करनेवाले इस नवीन पति की, तथा (तव) तू अपनी (इदम्) इस (जनित्वम्) सन्तान को (अभि) लक्ष्य कर (संबभूथ) सुख से संयुक्त हो ।

[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नियोग-प्रकरण के आधार पर अर्थ ।]

१२४. अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥३॥

(नीयमानाम्) शवयात्रा में लेजाई जाती हुई, और (मृतेभ्यः) मृतकों से (परि) पृथक् कर (नीयमानाम्) वापिस लाई जाती हुई (जीवाम्) जीवित (युवतिम्) युवा विधवा को (अपश्यम्) मैंने देखा है। (यत्) जो कि पहिले पति की मृत्यु के कारण (अन्धेन) गहरे (तमसा) शोकान्धकार से (प्रावृता आसीत्) घिरी हुई थी। (तत्) इसलिये (एनाम्) इस विधवा युवति को (प्राक्तः) शवयात्रा में आगे बढ़ने से (अपाचीम्) पीछे की ओर (अनयम्) मैं लाया हूं।

[मन्त्र में कथन "दधिषः पत्युः" का है (संख्या १२३)। परिणीयमानाम् = परि (वर्जने) + नीयमानाम्, "अपपरी वर्जने" (अष्टा० १।४।८८)। 'परिणीयमानाम्' में श्लेषविधया "नियोगविधि द्वारा पुनर्विवाहित होती हुई" भी सम्भव है। महर्षि के सिद्धान्तानुसार पुनर्विवाह अनुमोदित है। परन्तु पुनर्विवाह को महर्षि ने शूद्र-विवाह कहा है।]

१२९. प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनु संचरन्ती।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥४॥

(अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये विधवे! तू (जीवलोकम्) जीवित लोगों के रीति-रिवाज को (प्रजानती) जानती हुई, और (देवानाम्) देवकोटि के लोगों के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनु संचरन्ती) निरन्तर या तदनुकूल चलती हुई, (तम्) उस का (जुषस्व) प्रीति से सेवन कर, जो कि (अयम्) यह (ते गोपतिः) तेरी इन्द्रियों का पति बना है। और तू (एनम्) इस मृत-पति को (स्वर्ग लोकम्) स्वर्ग लोक की ओर जाने के लिये, (अधि रोहय) चिताधिरूढ़ करने की स्वीकृति दे।

[विधवा सदा अघ्न्या है। मृतपति के पश्चात् उसे जीवित रहने का पूर्ण अधिकार है। देवकोटि के लोगों का मार्ग यही है। विधवा चाहे तो नियोग या पुनर्विवाह कर सकती है। यह मार्ग देवों द्वारा अनुमोदित है। स्वर्ग = स्वर्ग नाम सुखविशेषभोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है (सत्यार्थ-प्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्य (नं० ४२)। अर्थात् भावी जन्म में सुख भोगने के लिये। अथवा इस नवपति को तू स्वर्गीय सुख पर आरूढ़ कर, निज प्रेममय व्यवहारों द्वारा।]

(२)

१२६. उप॒ द्यामुप॑ वेत॒समव॑त्तरो न॒दीना॑म् । अग्ने॑ पि॒त्तम॒पाम॑सि ॥५॥

(अग्ने) हे अग्नि ! तू (द्याम् उप अवत्) द्युलोक में उपस्थित है। (वेतसम्) बेंत आदि काष्ठों में (उप अवत्) उपस्थित है, (नदीनाम्) नदियों की (तरः) निचली भूमि में प्लुतियों के साथ गिरते प्रवाहों में (अवत्) उपस्थित है। तू (अपाम्) जलों का (पित्तम्) तेज (असि) है, या जलों का दिया हुआ है। सम्बोधन कवित्वशैली का है।

[मन्त्र में अग्नि के स्थान दर्शाए हैं। वह द्युलोक के नक्षत्रों तारागणों और सूर्य आदि में चमक रही है। बेंत आदि, जो कि जल में पैदा होते हैं, उन में भी अग्नि विद्यमान है। नदियों के प्रवाह निचली भूमि पर जब वेग से गिरते हैं, उन जलप्रपातों में भी अग्नि छिपी पड़ी रहती है, क्योंकि जलप्रपातों से विद्युत् उत्पन्न की जा सकती है। अग्नि मेघीय जलों में भी विद्युद्रूप में विद्यमान है। पित्तम्=पित्त (*Bile*) गर्म होती है, इस लिये अग्नि को जलों का पित्त कहा है। अथवा पित्त=अपि+दा+क्त, यथा प्रत्तम्, अर्थात् जलों से अग्नि प्राप्त होती है। "अपि" के अकार का लोप, यथा—पिधानं, पिधेहि में। तरः=तॄ प्लवने।]

१२७. यं त्वम॑ग्ने स॒मद॑हु॒स्तमु॒ निर्वा॑पया॒ पुनः॑ ।
क्याम्बू॒रत्र॑ रोहतु शाण्डदू॒र्वा व्य॑ल्कशा ॥६॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू ने (यम्) श्मशान के जिस भूभाग को (समदहः) जलाया है, (निर् वापय पुनः तम् उ) उस भूभाग से निकल कर उसे फिर बोने योग्य कर दे। (अत्र) इस श्मशान में या भूभाग में (क्याम्बूः) काई-जल (रोहतु) प्रादुर्भूत हो, (शाण्डदूर्वा) सन तथा दूब घास, तथा (व्यल्कशा) भूमि को विविध प्रकार से अलंकृत करनेवाली और पृथिवी पर मानो शयन करनेवाली, बिछी हुई घास प्रादुर्भूत हो।

[क्याम्बू=क्य=क्+य्(इ)+अ; क्, अ, इ=काई?+अम्बु (जल)। शाण्ड=सन ?। मन्त्र में यह निर्देश दिया है कि अस्थि-संचय के समय और उसके पश्चात् जल सेचन द्वारा उस भूभाग को ठण्डा कर वहां घास आदि का प्ररोहण कर देना चाहिये।]

१२८. इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व ।
संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे ॥७॥

(इदम्) यह इन्द्रियों समेत शरीर (ते) तेरी (एकम्) एक ज्योति है। (परः) इससे परे मन (ऊ) निश्चय से (ते) तेरी (एकम्) एक अर्थात् दूसरी ज्योति है, (तृतीयेन ज्योतिषा) तीसरी ज्योति जो कि सत्त्वमय बुद्धितत्त्व है। उसके साथ हे जीवात्मन्! तू (सं विशस्व) परमेश्वरीय ज्योति में प्रवेश पा। (संवेशने) परमेश्वरीय ज्योति में प्रविष्ट होते समय (तन्वा) सत्त्वमय बुद्धितत्त्वरूपी कारणशरीर द्वारा, तू (चारुः एधि) परमेश्वर के लिए रोचकरूप में हो जा, अर्थात् परमेश्वर की स्वीकृति के योग्य हो जा, और। (परमे) सर्वोत्कृष्ट परात्पर, (सधस्थे) तथा मुक्तात्माओं के सहस्थिति के स्थान परमेश्वर में स्थित (देवानाम्) दिव्य मुक्तात्माओं का (प्रियः) प्रिय बन जा।

[मन्त्र में उस मुक्ति का वर्णन है जिस में कि जीवात्मा, शरीर इन्द्रियों और मन से छुटकारा पाकर, कारणशरीर अर्थात् सत्त्वमय बुद्धि-तत्त्व को साथ लिये, परमेश्वर में प्रवेश पाता है। और इसी कारण शरीर से बन्धा हुआ कालान्तर में पुनः जन्म पाता है। अर्थात् मन इन्द्रियों और स्थूल शरीर का पुनः ग्रहण करता है। इस नए पुनर्जन्म का वर्णन अगले मन्त्रों में है।]

१२९. उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे ।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥८॥

हे मुक्तात्मन्! (उत्तिष्ठ) मोक्ष की आनन्दमयी मुद्रा से तू उत्थान कर, (प्रेहि) संसार की ओर प्रयाण कर, (प्र द्रव) द्रुत गति कर। (सधस्थे) नए सहवासस्थान (सलिले) अर्थात् मातृगर्भ के रज-वीर्य तथा द्रवरस में (ओकः) निजगृह (कृणुष्व) बना। तदनन्तर (तत्र त्वम्) वहां पितृगृह में तू (पितृभिः) माता-पिता आदि बन्धुओं के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त होकर, (सोमेन) दुग्ध द्वारा (सं मदस्व) सम्यक्-तृप्त हो, (स्वधाभिः) और स्वधारण और स्वपोषण करने वाले अन्नों द्वारा (सं मदस्व) सम्यक् तृप्त हो। [मन्त्र में मुक्ति सुख के भोग के पश्चात् पुनः गर्भग्रहण का वर्णन किया गया है।]

१३०. प्र च्यवस्व तन्वं१ संभरस्व मा ते गात्रा विहायि मो शरीरम् ।
मनो निविष्टमनु संविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥९॥

(प्र च्यवस्व) इस मोक्षधाम से तू च्युत हो जा, (तन्वम्) शरीर का (संभरस्व) ग्रहण कर। (ते) तेरे (गात्रा) शारीरिक और अन्तःकरण के अङ्ग-प्रत्यङ्ग (मा विहायि) तुझ से विगत न हों, अर्थात् किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग से तू विहीन न हो, (मा उ शरीरम्) और न तू शारीरिक विकृति को प्राप्त हो। (मनः) जहां तेरे मन का (निविष्टम्) लगाव है, (अनु) तदनुकूल (सं विशस्व) मातृयोनि में प्रवेश कर। (भूमेः) भूमि के (यत्र) जिस भाग में (जुषसे) तेरी प्रीति है (तत्र) उस भाग में (गच्छ) तू जा।

[मोक्ष से वापिस तो फिर पृथिवी पर आना होता है, और शरीर धारण करना पड़ता है। किस योनि में, और पृथिवी के किस भूभाग में जन्म होना है, यह कारणशरीर सहित जीवात्मा के पूर्वजन्म के संस्कारों और अभिलाषाओं पर निर्भर होता है। ये संस्कार और अभिलाषायें कारणशरीर में अनुद्भूत अवस्था में लीन रहती हैं, जैसे कि बीज में अङ्कुरित होनेवाले वृक्ष की अनुद्भूत अवस्थाएं लीन रहती हैं।]

१३१. वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मां प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥१०॥

(सोम्यासः) भक्तिरसवाले (पितरः) मेरे पिता-माता आदि बुजुर्ग (माम्) मुझे (वर्चसा) भक्तिरस की दीप्ति द्वारा (अञ्जन्तु) कान्तिमान् करें, (देवाः) सौम्य स्वभाववाले दिव्य कोटि के आचार्य मुझे (मधुना) वाणी और आचार-व्यवहार के माधुर्य द्वारा, तथा (घृतेन) हृदयनिष्ठ स्नेह भावना द्वारा (अञ्जन्तु) लीप दें। ये पितर और देवगण (चक्षुषे) दिव्य-दृष्टि की प्राप्ति के लिये (माम्) मुझे (प्रतरम्) सफलतापूर्वक राग-द्वेष आदि के नद से तैराते हुए, (जरसे) परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना उपासना के लिये (मा) मुझे (जरदष्टिम्) जरावस्था की प्राप्ति तक (वर्धन्तु) उपरिलिखित सद्गुणों द्वारा बढ़ाते रहें।

[क्या मन्त्रोक्त भावनाएं मृत व्यक्ति कर सकता है? तथा क्या मन्त्रोक्त पितर तथा देव मृतात्माएं हो सकती हैं?]

१३२. वर्च॑सा मां सम॑नक्त्व॒ग्निर्मे॒धां मे॒ विष्णु॒र्न्य॑नक्त्वा॒सन् ।
र॒यिं मे॒ विश्वे॒ नि य॑च्छन्तु दे॒वाः स्यो॒ना माप॑ः पव॑नैः पुनन्तु ॥११॥

(अग्निः) अग्निहोत्र तथा अन्य यज्ञों की अग्नि (माम्) मुझे (वर्चसा) तेज द्वारा (सम् अनक्तु) सम्यक्रूप में लीप दे, (विष्णुः) स्वाध्याय यज्ञ (मे) मेरे (आसन्) मुख में (मेधाम्) मेधाजनक वेदवाणी (नि अनक्तु) को नितरां अभिव्यक्त करे। (विश्वे देवाः) संसार की सब दिव्यशक्तियां (मे) मेरे शरीर तथा अन्तःकरण में (रयिम्) अपनी-अपनी शक्तियां (नि यच्छन्तु) प्रदान करें। (स्योनाः) सुखकारी (आपः) जल (पवनैः) बहती हुई पवित्र वायुओं समेत (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें।

[मन्त्र में प्राकृतिक शक्तियों से प्रेरणाएं प्राप्त करने का वर्णन है। शरीर में अग्नि न रहे, तो शरीर निस्तेज हो जाता है। जठराग्नि के स्वास्थ्य पर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है। शरीर के तापमान का ठीक बने रहना शारीरिक वर्चस का कारण होता है। यज्ञियाग्नियां वायु को शुद्ध कर शारीरिक ज्योति को बनाए रखती हैं। "विष्णुः=यज्ञः" (श. ब्रा. १३।१।८।८) अर्थात् यज्ञ विष्णु है। अग्निसाध्य यज्ञों का वर्णन तो मन्त्र के प्रथम पाद में हुआ है। औचित्य की दृष्टि से द्वितीय पाद में स्वाध्याययज्ञ का ग्रहण किया है। इसी के द्वारा मेधाजनक वेदवाणी का वास मुख में सम्भव है। विश्वेदेवाः=बाह्य प्राकृतिक देवों की शक्तियों के कारण शरीर शक्तिमान् बन रहा है। जैसा कि कहा है कि—

इन्द्रा॒दिन्द्र॒ः सोमा॒त् सोमो॑ अ॒ग्नेर॒ग्निर॑जायत ।
त्वष्टा॑ ह ज॒ज्ञे त्वष्टु॑र्धा॒तुर्धा॒ताजा॑यत ॥ अथर्व० ११।८।९॥

सं॒सिचो॒ नाम॒ ते दे॒वा ये सं॑भा॒रान्त्सम॒भ॑रन् ।
सर्वं॑ सं॒सिच्य॒ मर्त्यं॑ दे॒वाः पुरु॑ष॒मावि॑शन् ॥ अथर्व० ११।८।१३ ॥

गृ॒हं कृ॒त्वा मर्त्यं॑ दे॒वाः पुरु॑ष॒मावि॑शन् ॥ अथर्व० ११।८।१८ ॥

तस्मा॒द् वै वि॒द्वान् पुरु॑षमि॒दं ब्रह्मेति॑ मन्यते ।
सर्वा॒ ह्य॑स्मिन् देव॒ता गावो॑ गो॒ष्ठ इ॒वास॑ते ॥ अथर्व० ११।८।३२॥

१३३. मि॒त्रावरु॑णा॒ परि॒ माम॑धाताम् आदि॒त्या मा॒ स्वर॑वो वर्धयन्तु ।
वर्चो॑ म॒ इन्द्रो॒ न्य॑नक्तु॒ हस्त॑योर्ज॒रद॑ष्टिं मा सवि॒ता कृ॑णोतु ॥१२॥

(मित्रावरुणा) स्नेह करना, और अविद्या तथा अविद्याजन्य असत्कर्मों का निवारण करना—आचार्य के ये दो स्वरूप (माम्) मुझे (परि अधाताम्) सद्गुणों के वस्त्र पहिनाएं। (स्वरवः) वैदिकशब्दविद्या के विद्वान् तथा तेजस्वी (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी (मा) सदुपदेशों द्वारा मेरी (वर्धयन्तु) वृद्धि करें। (इन्द्रः) सम्राट् (मे) मेरे (हस्तयोः) दोनों हाथों में (वर्चः) कर्मशक्ति तथा कर्मफल प्राप्ति का तेज (व्यनक्तु) अभिव्यक्त करे। (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर (मा) मुझे (जरदष्टिम्) जरावस्था तक पहुंचनेवाला (कृणोतु) करे।

[मित्रः=मिद् स्नेहने; वरुणः=निवारकः। स्वरवः=स्वृ शब्दे उपतापे च। इन्द्रः=सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजु ८।३७)। राजा का कर्तव्य है कि प्रजा के लिये कामों का प्रबन्ध करे, ताकि प्रजा भूखी न रहे। हाथों में कर्मशक्ति और कर्मकौशल होना चाहिये, ताकि कर्म फलवाले हों। यथाः— "**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः**" (अथर्व७।५२।८)। मन्त्र में "जय" का अभिप्राय है कर्मसाफल्य।]

(३)

१३४. यो मुमार प्रथुमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथुमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां युमं राजानं हुविषा सपर्यत ॥१३॥

(यः) जो (प्रथमः) अनादि प्रथमशक्ति (मर्त्यानाम्=मर्त्यान्) मर्त्यों को (ममार) मृत्यु करती, और (जनानाम्) प्रजाजनों को (संगमनम्) जन्म देती, और (यः) जो (प्रथमः) अनादि प्रथमशक्ति (एतम्) इस (लोकम्) लोक में सर्वप्रथम (प्रेयाय) प्रकट हुई थी, उस (वैवस्वतम्) विवस्वान् अर्थात् सूर्य के अधिष्ठाता (यमम्) सर्वनियन्ता, (राजानम्) जगत् के महाराज की (हविषा) यज्ञिय हवियों द्वारा, तथा आत्मसमर्पणरूपी हवियों द्वारा (सपर्यत) परिचर्या सेवा तथा पूजा किया करो।

[ममार=मारयामास, तथा मारयति। मन्त्र में '**प्रेयाय एतं लोकम्**" है; "**प्रेयाय तं लोकम्**" नहीं। यदि "तम्" पाठ होता, तब तो "परलोक" अर्थ होता, और समझा जाता कि "यम" वह व्यक्ति है, जोकि इस-लोक में सर्वप्रथम मनुष्यरूप में पैदा होकर, सब मनुष्यों से पहिले मर कर परलोक में गया, और तभी से मृत्यु का अधिष्ठाता बना। परन्तु इस के विपरीत

मन्त्र में यह कहा है कि यम वह प्रथम शक्ति है,जोकि इस-लोक में सर्वप्रथम प्रकट हुई। अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवादकर्त्ता ह्विटनी ने "एतम्" का अर्थ किया है—"*That*", अर्थ करना चाहिये था "*This*"।]

१३८. परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥१४॥

(पितरः) हे पितरो! पितृयज्ञ में सत्कार स्वीकार कर आप (परा यात) जाया करो, (च) और निमन्त्रण पर पुनः (आ यात) आने की कृपा किया करो। (वः) आप के लिये (अयम् यज्ञः) यह पितृयज्ञ (मधुना) मधुर अन्नों द्वारा (समक्तः) जुटाया जाता है। आप पधार कर (इह) इस पितृयज्ञ में (अस्मभ्यम्) हमें (द्रविणा) सदुपदेश-धन (दत्त उ) प्रदान कीजिये। (च) और (भद्रम्) सुखकारी तथा कल्याणकारी (रयिम्) ज्ञान-सम्पत् (दधात) हम में स्थापित कीजिये, जिस से (नः) हमारी (सर्ववीरम्) सब सन्तानें शूरवीर और धर्मवीर बनें। [मधुना=मधुर अन्न सात्विक होता है। समक्तः=सम्+अञ्ज् (गतौ)।]

१३६. कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥१५॥

१३७. विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥१६॥

कण्व, कक्षीवान्, पुरुमीढ, अगस्त्य, श्यावाश्व, सोभरि, अर्चनानाः, विश्वामित्र, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वामदेव (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें।

हे विश्वामित्र, हे जमदग्नि, हे वसिष्ठ, हे भरद्वाज, हे गोतम, हे वामदेव, (सुसंशासः पितरः) हे सुप्रशस्त पितरो! आप सब (नः) हमें (मृडत) सुखी कीजिये। (अत्रिः) अत्रि ने (नमोभिः) हमारी नम्रताओं के कारण, (नः) हमारी (शर्दिः) विशीर्णता को, हमारे विनाश को (अग्रभीत्) रोक दिया है। [शर्दिः=शर्दिम् (विभक्ति-विपरिणाम)।]

[कण्व आदि नाम सस्वर पठित हैं। स्वरों की आवश्यकता यौगि-

कार्थक शब्दों में होती है। इसलिये कण्व आदि नाम यौगिकार्थक होने चाहियें। संज्ञावाची शब्दों में स्वरों की आवश्यकता अनावश्यक है। कण्वः=मेधावी (निघं० ३।१५)। कणति निमीलति असौ कण्वः (उणा० १।१५१)=निमीलिताक्ष ध्यानावस्थित योगी। कक्षीवान्=परोपकार में सदा कटिबद्ध, समुद्यत। पुरुमीढः=सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर की स्तुति करने वाला (इड स्तुतौ), या सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर पर भक्तिरस की वर्षा करने वाला (मिह् सेचने)। अगस्त्यः=अग (पर्वत)+अस् (क्षेपणे), बाधाओं के पर्वतों को भी उखाड़ फैंकने वाला।श्यावाश्वः=श्यैङ् गतौ+अश्व (मन तथा इन्द्रियां) अर्थात् मन और इन्द्रियों द्वारा प्रगतिशील। सोभरि=क्लेशों को तनूकृत करके उन का अपहार करनेवाला,(शो तनूकरणे)+भरि (हरि;हरण करने वाला, या"षो अन्तकर्मणि"। अर्चनानाः=अर्चना+अनस् (प्राण)अर्चना जिस के लिये प्राणवायु है। विश्वामित्रः=सर्वमित्र (निरु० २।७। २५),अर्थात् सर्वभूतमैत्रीसम्पन्न। तथा "विश्वामित्रः ऋषिः श्रोत्रं गृह्णामि" (यजुः १३।५७), अर्थात् दिव्यश्रोत्रसम्पन्न व्यक्ति। विश्वामित्रः ऋषिः=सब से मित्रता का हेतुशब्दज्ञान कराने वाला कान (दयानन्द, यजु:१३।५७)। जमदग्निः=जमदग्निः ऋषिः=चक्षुः (यजु:१३।५६);प्रकाशस्वरूप रूप का प्राप्त करानेहारा नेत्र (दयानन्द, यजुः १३।५६) अर्थात् दिव्यदृष्टि वाला व्यक्ति। अत्रिः=अ+त्रि=त्रिविध तापों से रहित[1]। कश्यपः=पश्यकः, अर्थात् यथार्थवेत्ता, विवेकी। वामदेवः=परमेश्वर-देव के सौन्दर्य स्वरूप का उपासक। "सत्यं शिवं सुन्दरम्"। वाम=सुन्दर। वसिष्ठः=वसिष्ठः ऋषिः=प्राणः "वसिष्ठः ऋषिः प्राणं गृह्णामि" (यजुः १३।५४)। वसिष्ठः ऋषिः=अतिशय करके निवास का हेतु, सुखप्राप्त करानेहारा विद्वान् (दयान्द, यजुः १३।५४)। भरद्वाजः="भरद्वाजः ऋषिः मनो गृह्णामि" (यजुः १३।५५),अर्थात् मन, जो कि अत्यन्त बली है।"अन्न वा विज्ञान की पुष्टि और धारण का निमित्त, विचारस्वरूप विज्ञानयुक्त चित्त" (दयानन्द, यजुः १३।५५)। गोतमः=गौ=वाक्(निघं० १।११), अर्थात् वाक्शक्ति में प्रवीणतम। मन्त्र १३५ में पितरों का वर्णन हुआ है। मन्त्र १३६-१३७ में पितरों के स्वरूपों का वर्णन किया है।]

१३८. कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाधं स्याम सुरभयो गृहेषु ॥१७॥

१. अत्रि का व्युत्पादन "अद्" धातु द्वारा भी किया जाता है। देखो भूमिका।

(कस्ये) प्रजापतिरूप छाज में अपने आप को (मृजानाः) शुद्ध करते हुए उपासक, (रिप्रम्) पापमल का (अति यन्ति) अतिक्रमण कर जाते हैं, और (प्रतरम्) बिलकुल (नवीयः) पहिले से अधिक नवीन (आयुः) जीवन को (दधानाः) धारण कर लेते हैं। तथा (प्रजया) उत्कृष्ट सन्तानों द्वारा, और (धनेन) धन द्वारा (आप्यायमानाः) वृद्धि प्राप्त करते हुए वे कहते हैं कि "(अध) अब (गृहेषु) गृह-जीवनों में (सुरभयः) चम्बेली के पुष्पों की तरह सुगन्ध फैलानेवाले (स्याम) हम हो गए हैं।

[कः="को वै नाम प्रजापतिः" (ऐत० ३।२१)। स्ये="स्यं शूर्पं स्यतेः" यथा "स्यात् लाजानावपति" (निरु० ६।२।६)। अभिप्राय यह है कि शूर्प अर्थात् छाज में पड़े धान, छट कर जैसे अवाञ्छित मल से अलग होकर विशुद्ध हो जाते हैं, वैसे प्रजापति परमेश्वर की उपासना में रमणे वाले उपासक पापमलों से पृथक् होकर शुद्ध हो जाते हैं।]

१३९. अङ्क्ते व्यङ्क्ते समङ्क्ते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते ॥१८॥

गृहस्थ में सद्गृहस्थी (अञ्जते) पवित्रता का अञ्जन लगाते हैं; (व्यञ्जते) विविध व्यञ्जनों का आस्वादन करते हैं, (समञ्जते) तथा सत्संग करते हैं, (क्रतुम्) अपने कर्मों वा संकल्पों को (मधुना) माधुर्यगुण द्वारा (अभि अञ्जते) लीपते हैं, (रिहन्ति) और मधुर कर्मों तथा संकल्पों के मीठे फल चखते हैं। (हिरण्यपावाः) विशुद्ध सुवर्ण के सदृश अपने आप को विशुद्ध तथा पवित्र करने वाले सद्गृहस्थी, (आसु) अपनी इन विशुद्ध क्रियाओं और भावनाओं में, (सिन्धोः) हृदय-सिन्धु के (उच्छ्वासे) प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में (पतयन्तम्) अचानक प्रकट हो जाने वाले, (उक्षणम्) तथा आनन्दरस से सींचनेवाले (पशुम्) सर्वद्रष्टा का (गृह्णते) ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उसे साक्षात् कर लेते हैं।

[सिन्धोः=**सिन्धुसृत्याय जाताः**" (अथर्व १०।२।११) में सिन्धु=हृदय। पशुम्=पश्यतीति पशुः,तम्। **पश्यति सर्वमिति पशुः** (उणा० १।२७) अभ्यञ्जे=अभ्यञ्जन=उवटना। समञ्जते=सम्+अञ्ज् (गतौ)=संगतिं कुर्वन्ति।]

१४०. यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥१९॥

(पितरः)हे पितरो! (यद्)जो(वः)आप की(मुद्रम्)प्रसन्नमुद्रा, (च) और (सोम्यम्) आप का सोम्य स्वभाव है, (तेन स्वयशसः) उन निज गुणों के द्वारा आप यशस्वी (भूत हि) हुए हैं, (सचध्वम्) आप हमें अपना सत्संगी कीजिये। (अर्वाणः) हमारी ओर आने वाले (सुविदत्राः कवयः) हे सुविज्ञ तथा वेदकाव्यों के मर्मज्ञ पितरो! (विदथे) ज्ञानगोष्ठियों में (हूयमानाः) निमन्त्रित हुए (ते) वे आप, (आ शृणोत) हमारी प्रार्थनाओं को पूर्णतया सुनिये।

१४१. ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः ।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥२०॥

(ये) जो आप (अत्रयः) त्रिविध दुःखों से रहित (अङ्गिरसः) प्राण-विद्यावेत्ता, (नवग्वाः) नवीन-नवीन विज्ञानों में गतियोंवाले,(इष्टावन्तः) अभीष्टों को प्राप्त,(रातिषाचः) विद्याओं के प्रदान में प्रसक्त, (दधानाः) प्रजामात्र का धारण-पोषण करने वाले,(उ) तथा(ये) जो आप (दक्षिणा-वन्तः)दक्षिणाएं प्राप्त करने योग्य, और(सुकृतः)सुकर्मी पितर (स्थ) हो, वे आप (अद्य) आज (अस्मिन्) हमारे रचाये इस (बर्हिषि) यज्ञ में (आसद्य) विराजमान होकर (मादयध्वम्) अपने-आप को प्रसन्न कीजिये, और हमें भी प्रसन्न कीजिये।

१४२. अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः ।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥२१॥

(अध)तथा(अग्ने)हे ज्ञानाग्निसम्पन्न विद्वन्! (परासः)श्रेष्ठ, (ऋतम्) सत्यमार्ग का (आशशानाः) अवलम्बन करने वाले, (उक्थशासः) वैदिक सूक्तों का उपदेश देने वाले (नः) हमारे (प्रत्नासः) पुरातन पितर अर्थात् माता-पिता आदि ने (यथा) जैसे (दीध्यतः) ध्यानयोग में देदीप्यमान हो-कर, (क्षामा भिन्दन्तः) पार्थिव शरीर-पुरियों का भेदन कर, (अरुणीः) आध्यात्मिक ज्ञान ज्योतियों पर पड़े (अप व्रन्) आवरणों को अपाकृत किया

अर्थात् हटाया, और (शुचि) पवित्र परमेश्वरीय ज्योति को (इत्) निश्चय से (अयन्) प्राप्त किया, [वैसे आप भी करो]।

१४३. सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥२२॥

(न) जैसे सुवर्णकार (अयः) सुवर्ण को (धमन्तः) अग्निसंयोग द्वारा शुद्ध करते हैं, वैसे (सुकर्माणः) सुकर्मी, (सुरुचः) उत्तम रुचियोंवाले, (देवयन्तः) परमेश्वर देव की कामना वाले (देवाः) देवकोटि के लोग, (जनिमा) अपने जन्मों को (धमन्तः) तपश्चर्या की अग्नि द्वारा शुद्ध करते हुए (अग्निम्) तथा ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करते हुए, (इन्द्रम्) आत्मिक शक्ति को (वावृधन्तः) बढ़ाते हुए, (नः) हम प्रजाजनों के लिये (गव्याम्) वेदवाणी में उक्त (उर्वीम् परिषदम्) महा ज्ञान-गोष्ठियों को (अक्रन्) रचाते हैं।

[अयः=हिरण्यनाम (निघं० १।२)। धमन्तः=ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः। इन्द्रम्=जीवात्मा को, जो कि इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। गव्याम्=गवि भवाम्, गौः=वाक् (निघं० १।११)। "परिषदम्" को वेदों में "विदथ" भी कहा है, विदथ=विद्या-गोष्ठियां, देखो मन्त्र (१४०)।]

१४४. आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥२३॥

ग्वाला (इव) जैसे (क्षुमति) घास वाले चरागाह में (पश्वः) पशुओं के (यूथा) गिरोहों पर (आ) पूर्णतया (अख्यत्) दृष्टि रखता है, वैसे (उग्रः) कर्मव्यवस्था और न्यायव्यवस्था में उग्र परमेश्वर (देवानाम्) देवकोटि के व्यक्तियों के (जनिमा) जन्मों का (अन्ति) समीपतया (आ अख्यत्) पूर्ण निरीक्षण करता है। तथा (चित्) जैसे (अर्यः) जगत् का स्वामी (आयोः) मनुष्य की (वृधे) वृद्धि के लिये (उपरस्य) मेघ-सम्बन्धी (उर्वशीः) बहुत्र व्यापिनी विद्युतों को प्रकट करता है, वैसे (मर्तासः) साधारण मनुष्य (चित्) भी (वृधे) व्यवहारों की वृद्धि के लिये (उर्वशीः) विद्युतों को (अकृप्रन्) प्रकट करते, और व्यवहारों में समर्थ करते है।

[उपरस्य=मेघ (निघं० १।१०) । आयुः=मनुष्यनाम (निघं०२।३) उर्वशी = उरु + अभ्यश्नुते (अशूङ् व्याप्तौ) 'उरुर्वा वशोऽस्याः' (निरु० ५।३।१४) । "उर्वशी विद्युत्" (दुर्गाचार्य, निरुक्ते); "नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युत्" (स्कन्द स्वामी, निरुक्ते ब्रह्ममुनिभाष्ये) अक्रप्रन्=कृपू सामर्थ्ये ।]

१४५. अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥२४॥

हे जगत् के स्वामिन् ! (ते) आप के वैदिक निर्देशों के अनुसार (अकर्म) हम ने कर्त्तव्यकर्म किये हैं, अतः (स्वपसः अभूम) सुकर्मी हो गए हैं। (ऋतम्) वैदिक सच्चाइयों का (अवस्रन्) हम ने प्रसार किया है, जैसे (विभातीः) चमकती (उषसः) उषाएं (अवस्रन्) आकाश में प्रसृत होती हैं । (देवाः) देवकोटि के लोग (यद्) जिस कर्मकलाप की (अवन्ति) रक्षा करते हैं, (तद् विश्वम्) वह सब कर्मकलाप (भद्रम्) सुखदायी और कल्याणकारी होता है । उस कर्मकलाप को करते हुए हम (सुवीराः) उत्तम धर्मवीर बन कर, (विदथे) ज्ञान-गोष्ठियों में (बृहद् वदेम) उस कर्मकलाप की महा महिमा का कथन किया करें ।

(४)

१४६. इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२५॥

(इन्द्रः) ऐश्वर्यों का स्वामी परमेश्वर, (मरुत्वान्) जो कि सब मरणधर्मा मनुष्यों का अधिष्ठाता है, वह (मा) मुझे (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा से (पातु) सुरक्षित करे, (इव) जैसे कि (बाहुच्युता) परमेश्वर के बल और पराक्रम से प्रेरित हुई-हुई (पृथिवी) पृथिवी (उपरि) अपने ऊपर पड़े (द्याम्) दैनिक प्रकाश की रक्षा करती है । हे दिव्यकोटि के मनुष्यो! (ये) जो आप (इह) इस भूमि में (हुतभागाः) यज्ञाहुतियां देकर यज्ञशेष भाग का सेवन करते (स्थ) हो, उन में से (देवानाम्) उन दिव्य मनुष्यों की (यजामहे) हम पूजा सत्संगति तथा दान द्वारा सत्कार करते हैं, जोकि (लोककृतः) लोगों का कल्याण करते, और उन्हें (पथिकृतः) सत्पथ पर चलाते हैं ।

[मरुत्वान्=म्रियते स मरुत् मनुष्यजातिः (उणा० १।९४), दयानन्द-भाष्य। बाहुच्युता=बाहुभ्यां च्युता। "बाहुभ्याम्" शब्दार्थ के लिये यजुर्वेद १७।१९ का मन्त्र अत्युपयोगी है। यथा - "सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देव एकः"। अर्थात् (एकः) अद्वितीय सहायरहित (देवः) अपने आप प्रकाशस्वरूप (पतत्रैः) क्रियाशील परमाणु आदि से, (द्यावाभूमी) सूर्य और पृथिवीलोक को (सं जनयन्) कार्यरूप में प्रकट करता हुआ (बाहुभ्याम्) अनन्त बल-पराक्रम से सब जगत् को (संधमति) सम्यक् प्राप्त हो रहा है (दयानन्द-भाष्य)। तथा "बहु बाह्वोर्बलम्" (अथर्व० १९।६०।१); और "को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति" (अथर्व० १०।२।५) में बाहु शब्द बल और वीर्य का द्योतक है। द्यामिवोपरि=पृथिवी दैनिक प्रकाश को अपने में लीन कर वनस्पति और प्राणिजगत् को उत्पन्न करती हुई, व्यवहारों को सिद्ध कर हमारी रक्षा कर रही है। द्याम्=द्यौः अहर्नाम (निघं० १।९)। अथवा कवितारूप में अर्थ है कि—"मानो विधाता की बाहुओं की पकड़ से च्युत हुई पृथिवी, ऊपर रहने वाले द्युतिमान् सूर्य की ओर सतत प्रयाण करती हुई, ऋतुनिर्माण द्वारा हमारी रक्षा करती है"।]

१४७. धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२६॥

(धाता) सब का धारण-पोषण करने वाला परमेश्वर (मा) मुझे (निर्ऋत्याः) पृथिवी की (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से (पातु) सुरक्षित करे। 'बाहुच्युता'—आदि पूर्ववत् (१४६)।

[पृथिवी की दक्षिण दिशा में समुद्र हैं, जो कि मुख्य वर्षा का स्रोत है। वर्षाजल द्वारा रक्षा की प्रार्थना मन्त्र में की गई है। भूमध्यरेखा से दक्षिण का भाग दक्षिण दिशा है।]

१४८. अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२७॥

(अदितिः) अदीना अनश्वर देवमाता अर्थात् जगज्जननी (मा) मुझे (आदित्यैः) अस्तंगत आदित्य-रश्मियों द्वारा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा से (पातु) सुरक्षित करे। 'बाहुच्युता'—आदि पूर्ववत् (१४६)।

[आदित्यैः=जब सूर्य अस्त होता है, तब सूर्य की रश्मियां भी अस्त हो रही होती हैं। इन अस्त हो रही रश्मियों को आदित्य कहा है। क्योंकि अस्तंगत होती हुई सूर्य की रश्मियां समग्र जगद्-व्यवहारों का "आदान" अर्थात् संहार कर देती हैं। **आददते जगद्-व्यवहारान् इत्यादित्याः, तैः।** सूर्यरश्मियों के अभाव में सब को, अपने-अपने व्यवहारों को समाप्त कर देने तथा शयन द्वारा सुखशान्ति प्राप्त होती है, यही रक्षा है।]

१४९. सोमो॑ मा॒ विश्वै॑र्दे॒वैरुदी॑च्या दि॒शः पा॑तु बाहु॒च्युता॑ पृथि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑। लो॒क॒कृत॑ः पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥२८॥

(सोमः) विविध जगत् का उत्पादक परमेश्वर (विश्वैः देवैः) विविध दिव्य पदार्थों द्वारा (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से (मा) मुझे (पातु) सुरक्षित करे। 'बाहुच्युता'—आदि पूर्ववत् (१४६)।

[उदीच्याः दिशः—भूमध्यरेखा के दक्षिण में तो समुद्र है, और उत्तर में भूमि, जो कि विविध दिव्य पदार्थों से समन्वित है।]

१५०. ध॒र्ता ह॑ त्वा ध॒रुणो॑ धारयाता ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं स॑वि॒ता द्यामि॑वो॒परि॑। लो॒क॒कृत॑ः पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥२९॥

(धर्ता) सब का धारण करने वाला (धरुणः) सर्वाधार परमेश्वर (त्वा) तेरा (ऊर्ध्वम्) ऊपर के लोकों में (धारयातै) धारण करे। (सविता) सर्वोत्पादक तथा सर्वप्रेरक परमेश्वर (इव) जैसे (भानुम्) सूर्य का तथा (द्याम्) द्युलोक का (उपरि) ऊपर में धारण कर रहा है। 'लोककृतः'—आदि पूर्ववत् (१४६)।

[मन्त्र १४६ से १४९ में "मा" द्वारा मृतव्यक्ति का सम्बन्धी चारों दिशाओं से अपनी रक्षा की प्रार्थना परमेश्वर से करता है। और मन्त्र १५०

में "त्वा" द्वारा मृतव्यक्ति की ऊपर के लोकों में धारण की प्रार्थना करता है। मृतव्यक्ति पार्थिव सम्बन्ध से छूट कर ऊपर के लोकों में जाता है, और रहता है, जब तक कि उस का पुनर्जन्म नहीं होता।]

(५)

१५१. प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥३०॥

(प्राच्यां दिशि) हे पूर्वदिशा में रहने वाले! (पुरा संवृतः) तेरी जीवनलीला के संवरण होने से पूर्व, मैं (त्वा) तुझे (स्वधायाम्) आत्म-धारण योग्य अन्न में (आ दधामि) पूर्णतया स्थापित करता हूं। (इव) जैसे (उपरि) ऊपर के (द्याम्) द्युतिमान् सूर्य की ओर प्रयाण करती हुई पृथिवी आत्म-धारण करती है। 'लोककृतः'—आदि पूर्ववत् (१४६)।

[संवृतः=संवरण का अभिप्राय है—जीवन की समाप्ति। जीवन की समाप्ति से पूर्व ही व्यक्ति को भोगमय जीवन छोड़ कर त्यागमय जीवन व्यतीत करना चाहिये। त्यागमय जीवन के लिये सदा स्वधान्न का सेवन करना चाहिये। स्वधान्न सात्विक होता है। यह स्वधान्न "स्व" अर्थात् अपने आप को "धा" धारण मात्र के लिये होना चाहिये, भोग भोगने के लिये नहीं। स्वधा=अन्ननाम (निघं० २।७)। "स्वधा" को पितृ-अन्न कहा है, जो कि पितरों अर्थात् वृद्धों के लिये उपयुक्त होता है। गृहस्थी भोगयोग्य अन्न सेवन करे। परन्तु अध्यात्मोन्नति चाहने वाला स्वधान्न सेवन करे। स्वधान्न सात्विक अन्न है। सात्विक अन्न के सेवन से शरीर मन और बुद्धि सात्विक बन जाते हैं।]

१५२. दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥३१॥

(दक्षिणायां त्वा दिशि) हे दक्षिण दिशा में रहनेवाले!—शेष पूर्ववत् (१५१)।

१५३. प्र॒तीच्यां॑ त्वा दि॒शि पु॒रा सं॒वृत॑ः स्व॒धाया॒मा द॑धामि बाहु॒च्युतां॑ पृ॒थि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑ । लो॒कृकृत॑ः पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥३२॥

(प्रतीच्यां त्वा दिशि) हे पश्चिम दिशा में रहनेवाले !—शेष पूर्ववत् (१५१)।

१५४. उदी॑च्यां त्वा दि॒शि पु॒रा सं॒वृत॑ः स्व॒धाया॒मा द॑धामि बाहु॒च्युतां॑ पृ॒थि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑ । लो॒कृकृत॑ः पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥३३॥

(उदीच्यां त्वा दिशि) हे उत्तर दिशा में रहनेवाले! — शेष पूर्ववत् (१५१)।

१५५. ध्रु॒वायां॑ त्वा दि॒शि पु॒रा सं॒वृत॑ः स्व॒धाया॒मा द॑धामि बाहु॒च्युतां॑ पृ॒थि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑ । लो॒कृकृत॑ः पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥३४॥

(ध्रुवायां त्वा दिशि) हे ध्रुव दिशा अर्थात् पृथिवीतल पर रहने वाले? —शेष पूर्ववत् (१५१)।

१५६. ऊ॒र्ध्वायां॑ त्वा दि॒शि पु॒रा सं॒वृत॑ः स्व॒धाया॒मा द॑धामि बाहु॒च्युतां॑ पृ॒थि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑ । लो॒कृकृत॑ः पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥३५॥

(ऊर्ध्वायां त्वा दिशि) हे ऊर्ध्व दिशा अर्थात् पर्वतों में रहनेवाले ! शेष पूर्ववत् (१५१)।

[१५१ से १५६ तक के मन्त्रों द्वारा यह कहा गया है कि मनुष्य चाहे पृथिवी की किसी भी दिशा में रहता हो, पृथिवीतल पर रहता हो, या पर्वतों पर रहता हो, उसे मृत्यु से पूर्व अपने जीवन को स्वधान्न द्वारा सात्विक बना लेना चाहिये ।]

(६)

१५७. धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि ॥३६॥

हे परमेश्वर! आप (धर्ता असि) सब का धारण करते हैं, (धरुणः असि) आप सर्वाधार हैं, (वंसगः असि) आप की गतिविधि संभजनीय है, पूजनीय है, आदर के योग्य है। [वंसगः वननीयगतिः।]

१५८. उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥३७॥

हे परमेश्वर! आप ने पृथिवी को (उदपूः असि) जल से भरपूर किया है, (मधुपूः असि) आप ने पृथिवी को माधुर्य और मधुर पदार्थों से भरपूर किया है, (वातपूः असि) आप ने पृथिवी को प्राणवायु से भरपूर किया है।

१५९. इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम्।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥३८॥

हे प्रधानमन्त्री तथा मुख्यसेनापति! अथवा हे राजा और राणी! (यद्) जब (ऐतम्) तुम दोनों शासन-गद्दी पर आओ, तब (मा) मुझ प्रजाजन की आप दोनों (इतः च) इहलोक से (च) और (अमुतः) उस परलोक से (अवताम्) रक्षा कीजिये। (इव) जैसे कि (यमे) यमाचार्य और यमाचार्या (यतमाने) यत्नपूर्वक, सदुपदेशों द्वारा शिष्यवर्ग की रक्षा इहलोक और परलोक से करते हैं। (देवयन्तः) परमेश्वर देव की कामनावाले (मानुषाः) प्रजाजन (वाम्) आप दोनों को (प्र भरन्) ऐश्वर्य से भर दें। आप दोनों (स्वं लोकम्) अपने-अपने प्रजालोक पर=प्रजावर्ग पर (आ सीदताम्) शासकरूप में स्थित हूजिये। (विदाने) आप दोनों अपने-अपने विभाग का पूर्णज्ञान रखें, और परस्पर ऐकमत्य से शासन करें।

[इतश्च अमुतश्च=प्रधानमन्त्री तथा मुख्यसेनापति इहलोक की दृष्टि से, अर्थात् लौकिक समृद्धि तथा शत्रु से रक्षा की दृष्टि से, और परलोक की दृष्टि से, अर्थात् सदाचार और आत्मिकोन्नति की भी दृष्टि से प्रजावर्ग की रक्षा करें। और वे यतमाने=इस उद्देश्य की पूर्त्ति में सदा यत्न-

वान् रहें। यमे=यमश्च यमा च यमे। एकशेष में स्त्री का शेष हुआ। जैसे कि "पितरा" अर्थात् "पिता च माता च" में पिता का शेष होता है। और "मातरा" अर्थात् "माता च पिता च" में माता का शेष होता है। पितरा मातरा (अथर्व १८।१।२३; ५।१।४,तथा२०।१०५।२)।यम=यमनियमवान् आचार्य, अर्शाद्यच्; तथा यमा=यमनियमवती आचार्या। शिक्षा की दृष्टि से यम और यमा प्रजावर्ग की रक्षा करें। और शासन की दृष्टि से प्रधानमन्त्री और मुख्यसेनापति प्रजावर्ग की रक्षा करें। देवयन्तः—जब प्रजावर्ग आस्तिक हो, तभी प्रजावर्ग अपने अधिकारियों का समुचित चुनाव कर सकता है।]

१६०. स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः।
वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत्॥३९॥

हे प्रधानमन्त्री तथा मुख्यसेनापति ! तुम दोनों, (इन्दवे) इस राष्ट्रयज्ञ के लिये, तथा (नः) हम प्रजाजनों के लिये, (स्वासस्थे) श्रेष्ठ विभूतियों अर्थात् लौकिक और पारलौकिक विभूतियों में स्थित (भवतम्) होओ। (वाम्) तुम दोनों के लिये, मैं पुरोहित (नमोभिः) समादरपूर्वक (पूर्व्यं ब्रह्म) अनादि वैदिक-शिक्षण (युजे) नियुक्त करता हूं। (इव) जैसे (सूरिः) प्रजाप्रेरक विद्वान् नेता (पथि एव) सदा सत्पथ में ही विद्यमान रहता है, वैसे वेदपथ में विद्यमान आप दोनों को (श्लोकः) सदा कीर्ति (वि एति) प्राप्त हो। (अमृतासः विश्वे) अमर वैदिक पथानुगामी सब प्रजाजन (एतत्) मेरे इस कथन को (शृण्वन्तु) सुनें। [स्वासस्थे=सु+अस् (भुवि)+स्थे। इन्दु=यज्ञ (निघं० २।१७)]

१६१. त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद्व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति॥४०॥

(रुपः) परमेश्वर पर विमोहित हुआ उपासक (तद् ? व्रतेन) परमेश्वर के साक्षात्कार का व्रत धारण करके, ओ३म् के जप द्वारा, परमेश्वर के (त्रीणि पदानि) तीन पदों पर (अनु) अनुक्रम से (आरोहत्) आरोहण करता है। (अनु) तत्पश्चात उपासक (चतुष्पदीम्) चतुर्थपद को, अर्थात् परमेश्वर के तुर्य या तुरीय स्वरूप को (ऐत्) प्राप्त करता है। वह उपा-

सक (अक्षरेण) ओ३म् के "अ,उ,म्" अक्षरों द्वारा (अर्कम्) अर्चनीय परमेश्वर को (प्रतिमिमीते) मापता है, जानता है, और (ऋतस्य) सत्यज्ञान की (नाभौ) जननी परमेश्वर में (अभि) उसके साक्षात् अभिमुख होकर (सम् पुनाति) सम्यक् प्रकार से अपने आप को पवित्र करता है।

[अक्षरेण—'ओ३म्' के तीन अक्षर, अर्थात् 'अ,उ,म्" द्वारा परमेश्वर के नामों के तीन त्रिक अभिप्रेत हैं। "अ" द्वारा (१) विराट्, अग्नि, और विश्व। "उ" द्वारा (२) हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस। 'म्" द्वारा ईश्वर, आदित्य, और प्राज्ञ। इन तीन त्रिक-नामों द्वारा परमेश्वर के जगत्-सम्बन्धी स्वरूपों का वर्णन होता है। इस प्रकार एक-एक मात्रा से तीन-तीन अर्थ द्योतित होते हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध निम्न प्रकार से जानना चाहिये—

(१)	(२)	(३)
अ=विराट्	अग्नि	विश्व।
उ=हिरण्यगर्भ	वायु	तैजस।
म्=ईश्वर	आदित्य	प्राज्ञ।

इनमें से (१) स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रम से आरोहण करना होता है। विराट् अर्थात् स्थूलरूप जगत् में व्यापक परमेश्वर का ध्यान कर, उस के हिरण्यगर्भ स्वरूप अर्थात् सूक्ष्मरूप जगत् में व्यापक स्वरूप तक आरोहण कर, उसके ईश्वर स्वरूप अर्थात् कारणभूत प्रकृति में व्यापक स्वरूप तक आरोहण करना होता है। इसी प्रकार संख्या (२) और (३) के स्वरूपों पर भी अनुक्रम से आरोहण करना होता है। इन स्वरूपों की विशेष व्याख्या "सत्यार्थ-प्रकाश" के प्रथम समुल्लास में देखनी चाहिये। ओ३म् के "अमात्र" स्वरूप द्वारा परमेश्वर की तुर्यावस्था तक आरोहण करना होता है। जगत् के सम्बन्ध से रहित उसके सत्-चित्-आनन्दमय रूप को तुर्य ब्रह्म कहते हैं। इसका वर्णन माण्डूक्योपनिषद् में है।

नाभौ=नाभि स्थान है उत्पत्ति का। रुपः='रुप् विमोहने', अर्थात् सांसारिक भोगों के मोह से विरत होकर, परमेश्वर के साथ विशेष मोह पैदा करनेवाला उपासक। अन्वैतद्=अन्वैत तद्?। इससे द्वितीय पाद के ग्यारह अक्षर हो जाते हैं। मन्त्र के शेष तीन पादों के ग्यारह-ग्यारह अक्षर हैं। इस प्रकार मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द का हो जाता है। **अक्षरपरिमाणं छन्दः**

बृहत्सर्वानुक्रमणी । "**अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कम्**" का सामान्य अर्थ यह भी हो सकता है कि "अक्षरों की संख्या द्वारा मन्त्रों को मापता है"। प्रत्येक मन्त्र के छन्द को अक्षरसंख्या द्वारा निश्चित किया जाता है। अर्क= मन्त्र। "**अर्कः मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति**" (निरु० ५।१।४)।]

१६२. दे॒वेभ्यः॒ कम॑वृणीत मृ॒त्युं प्र॒जायै॒ किम॒मृतं॒ नावृ॑णीत ।
बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञम॑तनुत॒ ऋषि॑ः प्रि॒यां य॒मस्त॒न्व॑१मा रि॑रेच ॥४१॥

(देवेभ्यः) दिव्यगुणों वाले जीवन्मुक्तों के लिये (बृहस्पतिः) महा ब्रह्माण्ड के स्वामी ने (कम्) मोक्षसुखदायी (मृत्युम्) मृत्यु को (अवृणीत) स्वीकार किया है, (प्रजायै) समग्र प्रजा के लिये उसने (अमृतम्) मोक्ष-सुखदायी मृत्यु को (किम्) क्यों (न) नहीं (अवृणीत) स्वीकार किया? वस्तुतः महाब्रह्माण्ड के स्वामी, तथा (ऋषिः) वेदार्थ-रहस्यों के प्रवक्ता परमेश्वर ने प्रजा के लिये, मोक्ष सुखप्राप्ति के निमित्त, वेदों में (यज्ञम्) यज्ञिय कर्मकलाप का (अतनुत) विस्तार किया है। और इसी निमित्त (यमः) जगन्नियन्ता परमेश्वर प्रजाजनों की (प्रियां तन्वम्) प्रिय तनुओं को (आ रिरेच) आत्माओं से विहीन करता रहता है। उनका बार-बार जन्म-मरण करता रहता है।

[जीवन्मुक्तों की मृत्यु अन्तिम मृत्यु-सी होती है। यह सुखदायी मृत्यु होती है। क्योंकि इस मृत्यु के पश्चात् उन्हें मोक्षसुख मिलता है। जीवन्मुक्तों से भिन्न प्रजाजन के लिये परमेश्वर तबतक उन्हें सुखदायी अन्तिम मृत्यु नहीं देता, जबतक कि वे वेदप्रतिपादित यज्ञिय कर्मकलापों के अनुसार अपना आचार-विचार और जीवन नहीं बना लेते। एतदर्थ ही ब्रह्माण्ड के स्वामी ने वेदों में यज्ञिय कर्मकलाप का विस्तृत वर्णन किया है। परमेश्वर प्रजाजनों को बार-बारजन्म देकर और उन की बार-बार मृत्युएं कर, उन्हें वैदिक यज्ञिय कर्मकलापों के अनुष्ठान का स्ववसर इस प्रकार बार-बार देता रहता है।]

(७)

१६३. त्वम॑ग्न ईडि॒तो जा॑तवेदोऽवा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वा ।
प्रादा॑ः पि॒तृभ्य॑ः स्व॒धया॑ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑ ॥४२॥

(जातवेदः) हे वेदविद्या के कारण द्विजन्मा बने (अग्ने) ज्ञानी सद्-गृहस्थ ! (ईडितः) वैदिक स्तुतियों से सम्पन्न (त्वम्) तू, (हव्यानि) भोज्य पदार्थों को (सुरभीणि) घृतादि द्वारा सुरभित सुगन्धित (कृत्वा) करके (अवाट्) लाया है। और उन भोज्य पदार्थों को (पितृभ्यः) पितरों अर्थात् पिता, पितामह, माता आदि बुजुर्गों को (प्रादाः) तूने दिया है। और (प्रयता) दिये गए (हवींषि) हविरूप इन अन्नों को (स्वधया) अपने धारण और पोषण की दृष्टि से (ते) उन्हों ने (अक्षन्) खाया है। हे (देव) दिव्यगुणी सद्गृहस्थ! पितरों के खा चुकने के पश्चात् (त्वम्) तू स्वयं (अद्धि) उन भोजनों को खाया कर।

[पितरों का भोजन करना सूचित करता है कि ये पितर जीवित हैं, मृत नहीं। अतिथिसेवा के पश्चात् सद्गृहस्थ स्वयं अन्न ग्रहण करे,—यह वैदिक आज्ञा है। यथा **"अशितावत्यतिथावश्नीयात् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्"** (अथर्व० ९।६।३८)। यह मन्त्रार्थ महर्षि दयानन्द के भाष्य के आधार पर किया गया है (यजु० १९।६६)। ईडितः= ईड+इतच्। यथा "तारकितं नभः।]

१६४. आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥४३॥

हे पितरो ! (अरुणीनाम्) चमकती-उषाओं की (उपस्थे) गोद में (आसीनासः) बैठकर, (दाशुषे मर्त्याय) प्रजोपकारार्थ प्राप्त धन का व्यय करने वाले मनुष्य को (रयिं धत्त) कुछ धन दे दो। हे पितरो ! (तस्य) उस (वस्वः) शेष धन का दायभाग निश्चित करके, (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को (प्र यच्छत) दे दो, ताकि (ते) वे पुत्र (इह) इस गृहस्थ में (ऊर्जम्) बल और प्राण (दधात) धारण कर सकें। दधात=पुरुषव्यत्यय।

[गृहस्थियों को उपदेश दिया गया है कि वे उषा की रश्मियों का सेवन किया करें। और इस सात्विक काल में सत्पात्रों को सात्विक दान दिया करें। और वानप्रस्थ होते समय इस सात्त्विक काल में पुत्रों के प्रति निज सम्पत्ति बांट कर वानप्रस्थी बनें। **"अरुण्यः गावः (रश्मयः) उषसाम्"** (निघं० १।१५)।]

१६५. अ॒ग्नि॒ष्वा॒त्ताः पित॑र॒ एह ग॑च्छत॒ सद॑:सदः सदत सुप्रणीतयः। अ॒त्तो ह॒वींषि॒ प्रय॑तानि ब॒र्हिषि॑ र॒यिं च॑ न॒: सर्व॑वीरं दधात ॥४४॥

(अग्निष्वात्ताः) आहवनीय आदि अग्नियों में आहुतियां देकर अन्न खाने वाले (पितरः) हे पितरो! (इह) इन हमारे गृहों में (आ गच्छत) आप आइये। और (सुप्रणीतयः) हे सब के साथ उत्तम प्रणय अर्थात् प्रेम करने वाले पितरो! (सदः सदः) आप इन नाना स्थानों में (सदत) विराजमान हूजिये। (बर्हिषि) इन कुशासनों पर बैठ कर, (प्रयतानि हवींषि) प्रयत्नपूर्वक सिद्ध किये हविष्यान्न (अत्त उ) खाइये। (च) और (नः) हमें (रयिम्) ऐसे सदुपदेश-धन (दधात) दीजिये, जिस से (सर्ववीरम्) हमारी सब सन्तानें धर्मवीर बनें।

वनस्थों को यज्ञ करने का विधान है। यथा—

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥मनु० ६।४॥

[पितरों का आना, कुशासनों पर बैठना, सब के साथ प्रणय-प्रदर्शन, हविष्यान्न खाना, तथा सदुपदेश देना, ये सब जीवित पितरों में सम्भव हैं, मृतों में नहीं। सुप्रणीतयः=वा उत्तम तथा प्रकृष्ट मार्ग पर चलाने वाले पितरो! नीति=नी नये। वा सदाचारनीति के विज्ञ पितरो!]

१६६. उप॑हूता नः पि॒तर॑: सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑। त आ ग॑मन्तु॒ त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ ते॑ऽवन्त्व॒स्मान् ॥४५॥

(सोम्यासः) सोम्य स्वभाव के (पितरः) पितरों को, हम ने (नः) अपनी (बर्हिष्येषु) यज्ञिय-कर्मों के निमित्त समर्पित (प्रियेषु निधिषु) प्रिय सम्पत्तियों में (उपहूताः) आदरपूर्वक निमन्त्रित किया है, (ते) वे पितर (आ गमन्तु) आएं। (इह) इन घरों में आकर (ते) वे पितर (श्रुवन्तु) हमारे कथनों को सुनें, और (अधि ब्रुवन्तु) अधिकारपूर्वक हमें तदनुरूप उपदेश दें। इस प्रकार (ते) वे (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें।

[पितरों का आना, गृहस्थों के कथनों को सुनना, उन्हें तदनुरूप उपदेश देकर उन की रक्षा करना, मृत पितरों में सम्भव नहीं। बर्हिष्येषु=बर्हिषि यज्ञे दत्तेषु, (**बर्हिषि दत्तम्**; अष्टा० ४।४।११९)।]

१६७. ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥४६॥

(नः) हमारे (पितुः) पिता के (ये) जो (वसिष्ठाः पितरः) श्रेष्ठ पितर हैं, और (ये) जो उस के (वसिष्ठाः पितामहाः) श्रेष्ठ पितामह हैं, जोकि (सोमपीथम्) वीर्यरक्षा के (अनु) अनुकूल (जहिरे) आचार-व्यवहार करते हैं, (उशद्भिः) आत्मिकोन्नति चाहने वाले (तैः) उन पितरों के साथ, उन की (उशन्) आत्मिकोन्नति चाहने वाला (यमः) यमनियमों का पालन करने वाला आचार्य भी (संरराणः) उन पितरों के साथ रमा हुआ हो कर, हमारे द्वारा दिये (हवींषि) हविष्यान्नों का (प्रतिकामम्) निजेच्छानुसार (अत्तु) भक्षण किया करे।

[जहिरे=ओहाङ् गतौ। सोम=उत्पत्ति का साधन वीर्य (*seamen*), सु प्रसवे। पीथम्=पा रक्षणे। वसिष्ठाः="यद्वै नु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठः" श० ब्रा० ८।१।१६)।]

१६८. ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥४७॥

(अग्ने) हे देवों और ऋषियों के अग्रणी! (ये) जो (देवत्रा) देवों में अधिक प्रगतिशील और प्रयत्नशील, (होत्राविदः) वैदिकवाणियों तथा वैदिकयज्ञों के वेत्ता, (अर्कैः स्तोमतष्टासः) वैदिकमन्त्रों के स्तवनों द्वारा मानो घड़े हुए पितर, (तातृषुः) आत्मोन्नति और परोपकार करने में अधिक तृष्णा वाले हैं, उन के साथ आप (आ याहि) सत्कार पाने के लिये हम गृहस्थों के पास आइये। तथा (देववन्दैः) विद्वानों द्वारा वन्दित (सत्यैः) सत्य के प्रतिपालक (घर्मसद्भिः) तपोनिष्ठ (सहस्रम्) हजारों (कविभिः) वैदिक कवियों और (ऋषिभिः) ऋषियों के साथ आप आइये।

[जेहमानाः=जेहृ गतौ, प्रयत्ने च। होत्राविदः=होत्रा=वाक् (निघं० १।११), तथा यज्ञ (निघं० ३।१७)। अर्कैः=मन्त्रैः (निरु० ५।१।४)।]

१६९. ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिर्र्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥४८॥

(सत्यासः) सत्य आचार-विचारवाले, (हविरदः) हविष्यान्नों के खानेवाले, (हविष्पाः) हविष्य रसों के पीनेवाले (ये) जो पितर (तुरेण) शीघ्र कार्यकारी (इन्द्रेण) सम्राट् के साथ, तथा (देवैः) देवकोटि के राज्याधिकारियों के साथ (सरथम्) एक रथ में बैठ कर जाते-आते हैं, उन (सुविदत्रेभिः) सुविज्ञ (परैः) उत्कृष्ट (पूर्वैः) सद्गुणों में परिपूर्ण (घर्मसद्भिः) तपोनिष्ठ (ऋषिभिः) ऋषियों के साथ (अग्ने) हे उन के अग्रणी नेता ! (अर्वाङ्) आप हम गृहस्थों की ओर (आ याहि) आया कीजिये ।

[इन्द्रः=सम्राट् (यजु० ४।३७) । देवैः=राज्याधिकारीवर्ग देवकोटि का होना चाहिये, आसुर वा राक्षसकोटि का नहीं ।]

(८)

१७०. उप॑ सर्प मा॒तरं॒ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म् ।
ऊर्ण॑म्रदाः पृथि॒वी दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु॒ प्रप॑थे पु॒रस्ता॑त् ॥४९॥

हे जीव ! तू (मातरम्) पुनर्जन्मार्थ माता के (उप) समीप (सर्प) अलक्षित गति से प्राप्त हो, जो माता कि (एताम्) इस (भूमिम्) उपजाऊ तथा (उरुव्यचसम्) बहु विस्तारवाली (पृथिवीम्) पृथिवी के सदृश (सुशेवाम्) उत्तम-सुखदायिनी है। (दक्षिणावते) उत्साह वाले भूमिपति के लिये जैसे (ऊर्णम्रदाः) हल आदि द्वारा ऊन के सदृश मृदु हुई (पृथिवी) पृथिवी (पातु) रक्षिका होती है, वैसे (एषा) यह (ऊर्णम्रदाः) ऊन के सदृश मृदु हृदयवाली माता (पुरस्तात्) तुझे सदा अपनी दृष्टि के सामने रख कर (प्रपथे) और तुझे श्रेष्ठ मार्ग पर चला कर (त्वा) तेरी (पातु) रक्षा करे ।

[मन्त्र १६९ में कथित ऋषिकोटि के व्यक्ति जीव को आशीर्वाद दे रहे हैं, और जीव के सम्बन्ध में सत्संकल्प कर रहे हैं । सर्प=जीव मातृगर्भ में सदा अलक्षित गति से आता है । सृप् *To creep, crawl, glide gently* (आपटे)।]

१७१. उच्छ्व॑ञ्चस्व पृथिवि॒ मा नि बा॑धथाः सूपा॒यनास्मै॑ भव सूपस॒र्प॒णा ।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥५०॥

(पृथिवि) हे पृथिवी ! जीवित प्राणियों के द्वारा (उच्छ्वञ्चस्व) तु उद्‌गति को प्राप्त हो, उन्नति को प्राप्त हो, (मा नि बाधथाः) उन्नति में तू विघ्न-बाधारूप न हो। (अस्मै) इस जीवित प्राणिवर्ग के लिये (सूपायना) उत्तमोत्तम भेंट देनेवाली (भव) तू बन। (सूपसर्पणा) उस के लिये सुगमता से विचरने योग्य बन। (माता यथा) माता जैसे (पुत्रम्) पुत्र को (सिचा) आञ्चल से आच्छादित करती है, वैसे तू जीवित प्राणिवर्ग को निज भेंटों द्वारा आच्छादित कर।

[पृथिवी में समुन्नति प्राणिवर्ग के द्वारा होती है कृषि, उद्यान, सड़कें, यातायात के साधन, विविध प्रकार के मकान, व्यापार, डाक का आना-जाना, रेलें, तार, हवाईजहाज, नहरें आदि के कारण पृथिवी समुन्नत होती है। इस समुन्नति में प्राणिवर्ग ही कारण है। इस समुन्नति में विघ्न-बाधा के कारण हैं—अतिवर्षा और उसके द्वारा जलप्रवाह, अवर्षा और उसके द्वारा कृषि विनाश, भूचाल, आग्नेय पर्वतों का फटाव आदि। सूपायना=सु+उपायन (भेंटें)। यह पृथिवी सोना, लोहा, तैल, अन्न, फल-फूल, विविध औषधियां, स्वच्छ जल, प्राणवायु आदि की भेंटें प्राणिवर्ग को दे रही है। सूपसर्पणा=सड़कों का निर्माण, तथा जङ्गलों को काटना—आदि द्वारा पृथिवी आसानी से विचरने योग्य हो जाती है। यह पृथिवी उपर्युक्त भेंटों द्वारा प्राणिवर्ग को आच्छादित कर रही है। अभ्यूर्णहि=अभि (सब प्रकार से) +ऊर्णुहि, ऊर्णुञ् आच्छादने। उच्छ्वञ्चस्व=उत् (उद्) +श्वचि (गतौ)।]

१७२. उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥५१॥

(उच्छ्वञ्चमाना) उद्‌गति अर्थात् उन्नति को प्राप्त होती हुई (पृथिवी) पृथिवी (सु तिष्ठतु) उत्तम स्थिति को प्राप्त करती है। (सहस्रम्) हजारों (मितः) पैमाने में बने घर (उप हि श्रयन्ताम्) पृथिवी पर आश्रय पाते हैं। (ते) वे (गृहासः) पैमाने में मापे हुए घर (घृतश्चुतः) दुग्ध-घृतों के प्रवाहों से सम्पन्न (विश्वाहा स्योनाः) सब दिनों में सुखदायी (सन्तु) हों। और (अत्र) इस भूमि में (अस्मे) इस जीवित प्राणिवर्ग के लिये (शरणाः सन्तु) आश्रयरूप हों।

[अत्र=यह पद दर्शाता है कि इन गृहों का वर्णन इस पृथिवी पर बने गृहों का वर्णन है, परलोक के गृहों का नहीं । अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवादक "ह्विटनी" ने 'अत्र' का अर्थ किया है 'There' जो कि नितान्त अनुचित है। "There" अर्थं करके "ह्विटनी" ने सूचित किया है कि मन्त्र में परलोक के गृहों का वर्णन है ।]

१७३. उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ।५२॥

हे सन्तान ! (ते) तेरे लिये (पृथिवीम्) मिट्टी से निर्मित (उत्-स्तभ्नामि) स्तम्भ खड़ा करता हूं। (त्वत् परि) और तेरे इस निवासगृह से परे हट कर (इमं लोगं निदधन्) इस लकड़ी के घर की नींव रखता हुआ (अहम्) मैं कारीगर (मा उ रिषम्) किसी प्रकार की चोट आदि द्वारा हिंसित न होऊं। (एताम्) इस (स्थूणाम्) स्तम्भ को (ते) तेरे (पितरः) माता-पिता (धारयन्ति) नींवरूप में स्थापित करते हैं। (यमः) राज्य का नियन्ता (तत्र) उन गृहों में (ते) तेरा (सदना) निवास (कृणोतु) निश्चित कर दे।

[सन्तान के लिये नवगृह निर्माण का वर्णन मन्त्र में हुआ है। "उत् स्तभ्नामि"=द्वारा मिट्टी या मिट्टी से बनी ईंटों द्वारा गृहनिर्माण को सूचित किया है। वेदों में ईंटों को "इष्टका" कहा है; (यजु० १७।२)। यथा—"**इमा मे अग्न इष्टका—एका च—परार्धश्च**" मन्त्र में "एक से परार्ध" तक की ईंटों का वर्णन हुआ है। पदार्ध संख्या=१००,०००,०००, ०००,०००,०००। त्वत् परि="**अपपरी वर्जने**" (अष्टा० १।४।८८) अतः परि=वर्जन। "**अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्याः**" (अष्टा० २।१।१२) द्वारा "त्वत्" में पञ्चमी विभक्ति। "लोगम्"=सम्भवतः अंग्रेजी शब्द *Log* वैदिक तत्सम शब्द है। *Log=a bulky piece of wood. Log-house=a hut built of logs*। स्थूणः=स्तम्भ। यथा—

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः॥ (अथर्व० ३।१२।६)

(शाला-सूक्त)। यमः=प्रत्येक नवगृह का निर्माण और उस पर अधिकार, नियन्ता राजा द्वारा प्राप्त करने का वर्णन है। जैसे कि वर्तमान में भी गृह का

नक्शा देकर राजाज्ञा का प्राप्त करना, और अधिकार के लिये रजिस्टरी करानी होती है ।]

१७४. इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥५३॥

(अग्ने) हे अग्निहोत्र की अग्नि ! मेरे (इमं चमसम्) इस यज्ञिय चमस को (मा वि जिह्वरः) अपनी ज्वाला द्वारा विकृत न कर । यह यज्ञिय-चमस (देवानाम् उत सोम्यानाम्) देवों और गृहस्थी-पितरों को (प्रियः) प्रिय है। (यः अयं चमसः) जो यह यज्ञिय-चमस (देवपानः) देवों के भी खान-पान का साधन है, (तस्मिन्) उस में (अमृताः देवाः) मोक्षाभिलाषी देव भी (मादयन्ताम्) कामना वाले हों ।

[अग्निहोत्र का विधान सब के लिये है । जरावस्था में अग्निहोत्र का बन्धन छूट जाता है । अग्नि में यज्ञिय-चमस द्वारा आहुति डालते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि अग्नि की ज्वाला से यह चमस विकृत न हो जाय । देव बनना चाहनेवाले गृहस्थी, वानप्रस्थ धारण कर लेने पर भी, अग्निहोत्र करते हैं; और सोम(=वीर्य)का सदुपयोग करनेवाले गृहस्थी भी सदा अग्निहोत्र करते हैं, यह अग्निहोत्र इन दोनों के लिये प्रिय है । देवलोग भी बिना अग्निहोत्र किये खान-पान नहीं करते । अग्निहोत्र के पश्चात् ही वे खान-पान करते हैं । देव वे हैं, जो कि मोक्षाभिलाषी होकर वानप्रस्थी हो जाते हैं ।]

१७५. अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते ।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥५४॥

(अथर्वा) कूटस्थ परमेश्वर ने (वाजिनीवते) आध्यात्मिक-उषा से सम्पन्न (इन्द्राय) जीवात्मा के लिये, (यम्) जिस (पूर्णम्) अमृतभरे (चमसम्) चमस को (अबिभः) भर दिया है, (तस्मिन्) उस चमस में जीवात्मा (सुकृतस्य) अपने सुकर्मों के फल का (भक्षं कृणोति) भक्षण करता है ।(तस्मिन्) उस चमस में (इन्दुः) अमृतरस (विश्वदानीम्) सदा (पवते) प्रवाहित हो रहा है ।

[**अथर्वा=थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः** (निरु० ११।२।१९),अर्थात्

जो गतिरहित हो, निश्चल हो, ऐसा कूटस्थ परमेश्वर । चमतम्= मस्तिष्क । यथा –

"तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः"।।(अथर्व०१०।८।९)

मन्त्र में "चमस" का वर्णन है कि वह टेढ़े-छिद्र वाला है, जो कि ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की ओर है, और बोध अर्थात् ज्ञान का साधन है। उस में सब प्रकार का ज्ञान-धन निहित है, उसमें निवास करते हैं—"इकट्ठे ७ ऋषि, अर्थात ज्ञानेन्द्रियां आदि, जो कि इस महापिण्ड के रक्षक हुए हैं" । मस्तिष्क के अधोभाग में टेढ़ा छिद्र है, जिस में से सुषुम्णा-दण्ड निकल कर, पीठ में नीचे की ओर आया हुआ है। मस्तिष्क ही ज्ञान की निधि है। मन्त्र १७४ में यज्ञिय-चमस का वर्णन हुआ है। चमस के वर्णन के प्रसङ्ग में मन्त्र १७५ में आध्यात्मिक-चमस का वर्णन किया है। इस मस्तिष्क के कोष्ठों में तरल-द्रव भरा रहता है, जिस का कि योगिजन पान करते हैं। यह योगिजनों का भक्ष है, जो कि सुकर्मों द्वारा मिलता है। इस तरल द्रव को मन्त्र में "इन्दु" कहा है। "इन्दु" शब्द "उ-द्" क्लेदने से बना है। यह तरल-द्रव मस्तिष्क और सुषुम्णा-दण्ड को सिंचित करता रहता है। ७ ऋषि हैं—५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि (निरु० १२।४।३८)। अथवा—२ श्रोत्र, १ त्वचा, २ चक्षुः-गोलक, १ जिह्वा, १ नासिका (अथर्व० १०।२।६)। तथा सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५)। इन्दु=उदक (निघं० १।१२)।]

१७६. यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।
अग्निष्टद् विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ।।५५।।

हे प्राणी ! (कृष्णः शकुनः) काले-पक्षी अर्थात् कौए नें (पिपीलः) च्यूंटी ने, (सर्पः) सांप ने, (उत वा) अथवा (श्वापदः) जङ्गली हिंस्र पशु ने (यत्) जो (ते) तेरे किसी अंग को (आ तुतोद) व्यथा पहुंचाई है, (तत्) उसे (विश्वाद्) सर्वरोगभक्षी (अग्निः) अग्नि, (च) और (सोमः) सोम, (यः) जो कि (ब्राह्मणान्) ब्रह्मवेत्ताओं में (आविवेश) प्रविष्ट है, (अगदं कृणोतु) रोगरहित कर दे ।

अग्निः= (१) यदि सर्प आदि द्वारा अङ्ग को व्यथा पहुंची है, तब उस व्यथा स्थान को आग द्वारा जला देने की भी विधि है। ताकि व्यथा-स्थान

का विष जलकर शरीर में व्याप्त न हो जाय। परन्तु यह जलाना व्यथा के तत्काल में ही होना चाहिये। (२) अग्नि में तदुपयोगी ओषधियों की आहुतियां डाल कर तदुत्थित धूमों के गन्ध लेने, तथा उस धूम के जल-मिश्रण द्वारा व्यथा-स्थान को लिप्त करने से भी वह अंग रोग-रहित किया जा सकता है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में इस विधि का प्रयोग कई रोगियों पर किया गया था। और एतत्सम्बन्धी कतिपय लेख भी गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित "वैदिक-मैग्जीन" में प्रकाशित हुए थे। (३) जलों में विद्यमान अग्नि अर्थात् विद्युत् को **विश्व-शंभुव**" कहा है (अथर्व० १।६।२)। सम्भवतः ऐसे उपचारों में विद्युत् का प्रयोग लाभकारी हो।

सोमः=सोमका अर्थ "जल" भी होता है। जलों में सब भेषज विद्यमान हैं, यथा—'**अप्सु अन्तः विश्वानि भेषजा**' (अथर्व० १।६।२)। अतः रोगों में जल-चिकित्सा का निर्देश वेदों ने किया है। इस सम्बन्ध में "ब्राह्मणान्" का अर्थ है—"ब्रह्म अर्थात् वेदसम्बन्धी मन्त्रों में वर्णित सोम, अर्थात् जल। (२) सोम का अर्थ "सोम ओषधि" भी है। सोम ओषधि के विचित्र गुण वेदों में वर्णित हैं। (३) सोम का अर्थ "सर्वोत्पादक तथा सर्वप्रेरक परमेश्वर" भी होता है, जिसे कि ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवेत्ता जानते हैं। वैदिक चिकित्सा में, परमेश्वरीय कृपा का होना, रोगनिवारण में एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।]

१७७. पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः।
अपां पयसो यत्पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥५६॥

(ओषधयः) ओषधियां पयस्वतीः रसरूप-सार वाली है, (मामकम्) मेरा (पयः) रस-रक्त (पयस्वत्) सारवाला है, (अपाम्) जलों के (पयसः) सार का (यत्) जो (पयः) सार है, (तेन) उन तीनों प्रकार के सारों के (सह) साथ परमेश्वरीय कृपा (मा) मुझे शुद्ध कर के (शुम्भतु) शोभा-युक्त करे।

[ओषधियों का सार अर्थात् रस शरीर के रस-रक्त रूपी सार को शुद्ध करता है। और शुद्ध हुए रस-रक्त का सार शारीरिक और मस्तिष्क के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को शुद्ध करता है। यह आभ्यन्तर शुद्धि है। भूमिष्ठ जलों का सार है—मेघीय जल, और मेघीय जल का सार है—वर्षाजल। वर्षाजल सब प्रकार के जलों में अत्यन्त विशुद्ध होता है। इस वर्षाजल द्वारा शरीर की बाह्यशुद्धि और पीने के द्वारा शरीर की आभ्यन्तर शुद्धि होती है। शरीर

की आभ्यन्तर और बाह्यशुद्धि के द्वारा, तथा जलचिकित्सा और ओषधि-रसों के पान द्वारा सर्प आदि के विष का अपहरण होता है। शरीर का शुद्ध रस-रक्त स्वयं भी ओषधिरूप है।]

(६)

१७८. इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥५७॥

(अविधवाः) पतियों वाली (सुपत्नीः) श्रेष्ठ पतियों वाली (जनयः) सन्तानों वाली (इमाः नारीः) ये नारियां, (आञ्जनेन) मुख आदि की क्रान्ति बढ़ानेवाले (सर्पिषा) जल द्वारा (सं स्पृशन्ताम्) सम्यक् प्रकार से मुख आदि का प्रक्षालन करें, और (अग्रे) जनाजे के लौटने से पहिले ही (योनिम्) अपने-अपने घर में (आरोहन्तु) आ जायें, और (अनश्रव) रोने-धोने से रहित हुई हुई (अवमीवाः) तथा रोगों से रहित हुई-हुई (सुरत्ना) उत्तम रत्नों को धारण करें।

[आञ्जनेन=अञ्जु कान्तौ। सर्पिषा=उदकेन (निघं० १।१२)। स्पृशन्ताम्=स्पृश् To wash on sprinkle with water.। योनिम्=गृहम् (निघं० ३।४)। आरोहन्तु=सीढ़ियोंवाले घर, जिन की नींवें जमीन से ऊंची उठी हुई हैं, उन पर आरोहण करें, चढ़ें।]

१७९. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥५८॥

हे जीवात्मन्! (परमे व्योमन्) मृत्यु के पश्चात् परम-रक्षक परमेश्वर के आश्रय में रहता हुआ तू (अवद्यम्) मनुष्येतर प्राणियों में कर्मानुसार जन्म लेकर, और इस प्रकार किये निन्दनीय कर्मों के फलभोग द्वारा उन कर्मवासनाओं को (हित्वा) त्याग करके (पुनः) फिर (अस्तम्) गृहजीवन को (एहि) प्राप्त कर। और (तन्वा) मानुष-शरीर से (सं गच्छताम्) संगत हो, तथा (सुवर्चाः) उत्तम-वर्चस्वी बन; और (पितृभिः) माता-पिता आदि के साथ (सं गच्छस्व) संगत हो; (यमेन) यमनियमों का पालन करानेवाले आचार्य के साथ, तथा (इष्टापूर्तेन) यज्ञयागादि और परोपकार के कर्मों के (सम) साथ संगत हो।

[अवद्यम्=जिन का कथन भी न करना चाहिये, ऐसे पापकर्म—"कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः" ।]

१८०. ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥५९॥

(ये) जो (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पितर, (ये) जो पिता के) पितामहाः) पितामह, (ये) जो कि (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तृत-अन्तरिक्ष में, या सर्वान्तर्वासी परमेश्वर में (आ विविशुः) प्रवेश पाए हुए हैं, (नः तेभ्यः) हमारे उन पितर आदि के लिये स्वराट्) स्वयं ज्योतिः-स्वरूप तथा (असुनीतिः) प्राणों का नेता परमेश्वर (अद्य) आज (यथा-वशम्) उन की कामनाओं के अनुसार (तन्वः) शरीरों को (कल्पयाति) सामर्थ्य युक्त रचता है ।

[मन्त्र में गृहस्थी अपने पिता पितामह प्रपितामह आदि के लिये शुभ कामनाऐं करता है । अन्तरिक्षम्=अन्तरि अन्तः क्षम् (क्षि निवासे)=सर्वान्तर्वासी परमेश्वर । सम्भवतः मन्त्रमें मुक्तात्माओंका वर्णन है, जो कि अन्त-रिक्ष और परमेश्वर में स्वच्छन्द विचरते हैं। अद्य=किसी भी शुभ दिन में। यथावशम्=मुक्तात्मा जीव मुक्तावस्था में पुनर्जन्म के लिये जैसी कामना (=वश) करता है, मुक्तिकाल के उपभोग के पश्चात् उसे उस कामना के सदृश शरीर और शारीरिक-सामर्थ्य प्राप्त होता है ।]

१८१. शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् ।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय ॥६०॥

हे शवाग्नि ! (ते) तुझे (नीहारः) कोहरा (शम् भवतु) शान्त करे=ठण्डा कर दे । (प्रुष्वा) वृष्टिजल (ते) तुझे (शम्) शान्त करे और (अवशीयताम्) मेघ से नीचे गिरकर तुझे आवृत करदे । (शीतिकावति) हे शीतल कमलिनियों वाली (शीतिके) शीतल सरसी ! (ह्लादिकावति) हे आह्लाददायक कमलिनियों वाली (ह्लादिके) आह्लाद देनेवाली सरसी ! (इमम् अग्निम्) इस शवाग्नि को (सु) अच्छे

प्रकार (शमय) तू शान्त कर दे। (अप्सु) जलों में रहनेवाली (मण्डूकि) हे मण्डूकी ! तू भी (शं भुवः) अग्नि को शान्त करनेवाली बन। [शवाग्नि को शान्त करने तथा उस समग्र स्थान को सुरम्य बनाने के लिये वहां तालाब बनवा कर उसे सजल करने का विधान किया है। मण्डूकी के वर्णन द्वारा यह सूचित किया है कि मण्डूकी-सन्तति के जीवित रहने के लिये उस तालाब को सदा जल पूरित रखना चाहिये।]

१८२. विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ।६१।।

(विवस्वान्) अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला, विविध जगत् में बसा हुआ परमेश्वर (नः) हमें (अभयम्) निर्भय (कृणोतु) करे, (यः) जो परमेश्वर कि (जीरदानुः) जीवनदाता, शीघ्र फलदाता, और (सुदानुः) उत्तम दानी है। (इह) इस गृहस्थ जीवन में (इमे) ये (वीराः) वीर सन्तानें (बहवः) बहुत (भवन्तु) हों। (मयि) मुझ गृहस्थी में (पुष्टम्) परिपुष्टि (अस्तु) हो, (गोमत् अश्ववत्) गौएं हों, और अश्व हों।

[विवस्वान्=विवासयति दूरीकरोति। वि=विविध+वस् (बसना) +वान् (वाला)। **जीरदानुः=जीवयति प्राणान् धारयति** (उणा०२।२४); जीराः=क्षिप्रनाम (निघं० १।१५)।]

१८३. विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ।।६२।

(विवस्वान्) अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला, विविध जगत् में बसा हुआ परमेश्वर (अमृतत्वे) मोक्ष में भी (नः) हमारा (दधातु) धारण-पोषण करे। (मृत्युः) जन्म-मरण-परम्परा (परैतु) परे चली जाय, हमें छोड़ जाय। (नः) हमें (अमृतम्) अमृतत्व अर्थात् मोक्ष या अमर परमेश्वर (ऐतु) प्राप्त हो। परमेश्वर (इमान् पुरुषान्) इन सब स्त्री-पुरुषों को को (आ जरिम्णः) जरावस्था तक (रक्षतु) सुरक्षित रखे। (एषाम्) इन स्त्री-पुरुषों के (असवः) प्राण, जरावस्था तक (यमम्) मृत्यु को (मा उ सु गुः) सुगमता से प्राप्त न हों। [यमम्=यम उपरमे।]

१८४. यो दुध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितृणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात ॥६३॥

(यः) जो परमेश्वर (मह्ना) निज महिमा से हम प्राणियों को (दध्रे) धारण कर रहा है, (न) जैसे कि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में वह वायु, मेघ, सूर्य, चान्द, ग्रह, नक्षत्र, तारागणों को धारण किये हुए है। वह (पितृणाम्) हमारे पितृ-कवियों में (कविः) सर्वश्रेष्ठ कवि है, और (मतीनाम्) मतिमानों में (प्रमतिः) सर्वाधिक मतिमान् है। (विश्वमित्राः) हे सर्वभूत-मैत्रीसम्पन्न उपासको ! (हविर्भिः) यज्ञिय हवियों और आत्मसमर्पणों द्वारा (तम्) उसकी (अर्चत) अर्चनाएं किया करो। (सः) वह (यमः) जगन्नियन्ता (नः) हमारा (धात्) धारण-पोषण करे। (प्रतरं जीवसे) ताकि हम दीर्घकाल तक जीवित रह सकें। [पितृ कवि = मनुष्यकवि।]

१८५. आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन ।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।६४॥

(ऋषयः) हे ऋषियो ! (उत्तमाम्) सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ (दिवम्) मस्तिष्क-स्थित सहस्रारचक्र तक (आ रोहत) आरोहण करो। और इस प्रकार (बिभीतन मा) जन्म-मरण के भय से रहित हो जाओ। (सोमपाः) हे वीर्य की रक्षा करनेवाले ! तथा (सोमपायिनः) ऊर्ध्वरेता होकर उसका पान करनेवाले ऋषियो ! (इदम्) यह (हविः) ज्ञानमय हवि (वः) आप को (क्रियते) दी जाती है। देखो ! इस ज्ञान को पाकर हम जीवन्मुक्त (उत्तमं ज्योतिः) सर्वश्रेष्ठ ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर को (अगन्म) प्राप्त हुए-हुए हैं।

[ऋषयः = ऋषि दो प्रकार के हैं—मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रार्थद्रष्टा। प्रारम्भ के ऋषि, जिनके द्वारा वेद प्रकट हुए, वे मन्त्रद्रष्टा थे। और पीछे के ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा हुए हैं। इन पिछले ऋषियों के सम्बन्ध में कहा है कि यद्यपि तुम मन्त्रार्थद्रष्टा हो, परन्तु मन्त्रार्थद्रष्टा होने के कारण तुम जन्म-मरण के बन्धन से छूट नहीं सकते। जन्म-मरण के बन्धन से छूटने का मार्ग एक ही है। वह है—योगमार्ग, चित्त को वृत्तिशून्य कर देने का मार्ग, और ईश्वर-

प्राणिधान। इसलिये योगसाधना द्वारा तुम सहस्रारचक्र तक आरोहण कर मुक्त हो जाओ, और ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होओ। पिण्ड और ब्रह्माण्ड में साम्य है। पिण्ड का शिरोभाग "दिव" है, द्युलोक है। यथा—"दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२); तथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३)।]

१८६. प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥६५॥

(अग्नि.) जगदग्रणी परमेश्वर (बृहता केतुना) महाप्रज्ञा के साथ वर्तमान हुआ (प्र भाति) प्रभासित होता है। (वृषभः) आनन्दरसवर्षी परमेश्वर (रोदसी आ) शिर से लेकर पैरों तक को ओ३म् की ध्वनियों द्वारा (रोरवीति) गुञ्जा देता है। (दिवः चित् अन्तात्) द्युलोक के प्रान्त भाग से यह (उपमाम्) उपमा को (उदानट्) प्राप्त हुआ है। (अपाम् उपस्थे) रक्तरूपी जलों के स्थिति-स्थान हृदय में (महिषः) महान् परमेश्वर (ववर्ध) निज ज्योति में बढ़ता है।

[केतु=प्रज्ञा (नि० ३।९)। रोदसी रोरवीति=अथवा वर्षा करने वाला परमेश्वर द्युलोक और भूलोक को घनगर्जनाओं द्वारा गुञ्जाता है। उपमाम्="नक्षत्राणि रूपम्" (यजु० ३१।२२), अर्थात् द्युलोक में प्रकाशित नक्षत्र परमेश्वरीय ज्योति के मानों रूप हैं।

१८७. नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥६६॥

(नाके) द्युलोक में (उप पतन्तम्) उपस्थित, (सुपर्णम्) सुपतनशील रश्मियों वाले, (हिरण्यपक्षम्) सुवर्णघटित रश्मिरूप पंखों वाले, (वरुणस्य) जलाधिदेव के (दूतम्) दूतरूप, (यमस्य) नियन्ता परमेश्वर के (योनौ) गर्भ में स्थित, (शकुनम्) शक्तिशाली, (भुरण्युम्) भरण-पोषण करने वाले सूर्य को (यत्) जैसे लोग (अभ्यचक्षत) चक्षु द्वारा साक्षात् करते हैं, वैसे हे परमेश्वर! (नाके) सांसारिक सुखों और सुखाभावों से रहित निज आनन्द रसरूप में वर्तमान (त्वा) आप को (वेनन्तः) आप की कामना करने वाले आप के उपासक (हृदा) हृदय की चक्षु द्वारा (अभ्यचक्षत) साक्षात् करते हैं।

[सुपर्णम्=सुपतना आदित्यरश्मयः, तद्वन्तम् (अर्शाद्यच्) सूर्यम् । वरुणस्य दूतम्=वरुणः अपामधिपतिः तस्य दूतः, जलाकर्षणतद्वर्षणकर्मणि प्रयुक्तः सूर्यः । नाकः=द्यौः (निरु० २।४।१४) । नाकः=कं सुखं तत्प्रतिषिद्धं (सुखाभावः), तत् प्रतिषिध्येत (निरु० २।४।१४) । भुरण्युम्=भृञ् धारणपोषणयोः ।]

१८८. इन्द्र् क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत् यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥६७॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमेश्वर ! (नः) हमें (क्रतुम्) प्रज्ञा (आभर) प्रदान कीजिये, (यथा) जैसे (पिता पुत्रेभ्यः) पिता पुत्रों को प्रज्ञा प्रदान करता है । (पुरुहूत) बहुत वार समादरपूर्वक पुकारे गए हे परमेश्वर ! (अस्मिन्) इस (यामनि) अज्ञानरात्रि में (नः) हमें आप (शिक्ष) शिक्षा प्रदान कीजिये । ताकि (जीवाः) इस जीवन के जीवित काल में हम (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप आप को (अशीमहि) प्राप्त कर लें ।

[मन्त्र १८८ में परमेश्वर के उपासक प्रज्ञा की प्रार्थना कर रहे हैं । क्रतु=प्रज्ञा (निघं० ३।९) । सम्भवतः यह ऋतम्भरा प्रज्ञा है, जिस की प्राप्ति की प्रार्थना है ।]

(१०)

१८९. अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥६८॥

हे ब्रह्मचारिन्! (देवाः)आचार्यदेवों ने (ते) तेरे लिये (अपूपापिहितान्) अपूपों अर्थात् मालपूड़ों से भरे (यान्) जिन (कुम्भान्) कुम्भों को (अधारयन्) सुरक्षित रख लिया है, (ते) वे (मधुमन्तः) मधुर तथा (घृतश्चुतः) घृतस्रावी कुम्भ (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण और पुष्टि के लिये हों ।

[ब्रह्मचारी को आचार्यकुल में प्रविष्ट कराते समय ब्रह्मचारी के माता-पिता उत्तमोत्तम और पुष्टिदायक भोज्य पदार्थ भी भेंट में लावें । और समय-समय पर ये भेंटें देते रहें, ताकि ब्रह्मचारी सुप्रसन्न होकर विद्याध्ययन कर सकें ।]

१९०. यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।

तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ।।६९।।

हे ब्रह्मचारिन् ! (ते) तेरे (स्वधावतीः) आत्मधारणयोग्य (याः) जिन (तिलमिश्राः) तिलमिश्रित (धानाः) धान्यों को (अनुकिरामि) ऋत्वनुसार मैं देता हूं, (ताः) वे (तेरे) तेरे लिये (विभ्वीः) प्रभूत मात्रा में हों, और (प्रभ्वीः) शक्ति देने वाले हों ।(यमः) यम-नियमों का अधिष्ठाता (राजा) ब्रह्मचर्याश्रम का प्रधानाचार्य (ते) तेरे लिये (ताः) उन अन्नों की भी (अनुमन्यताम्) स्वीकृति प्रदान करे ।

[माता-पिता अपने ब्रह्मचारी को जब ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट करते हैं, तब वे ब्रह्मचारी को आश्वासन देते हैं कि इस आश्रम में तेरे खानपान आदि की पूर्ण व्यवस्था होगी । और आचार्यों के अनुशासन में रह कर तू समुन्नति करता रहेगा । धानाः=भुने जौं तथा चावल, सत्तु तथा अनाज आदि ।]

१९१. पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।

यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ।।७०।।

(वनस्पते) हे ब्रह्मचर्याश्रम के समग्र वन के स्वामिन् आचार्य ! (यः) जो (एषः) यह ब्रह्मचारी (त्वयि) आप को (निहितः) सौंपा गया है, उसे (पुनः) फिर (देहि) हमारे सुपुर्द कर दीजियेगा । (यथा) ताकि (यमस्य) राष्ट्रनियन्ता राजा द्वारा शासित (सादने) गृहस्थोपयोगी गृहों में, (विदथा वदन्) विद्याओं और विद्वानों का कथन और उपदेश करता हुआ (आसातै) यह निवास करे ।

[वेदों की दृष्टि में ब्रह्मचर्याश्रम वनों में होने चाहियें, और उन वनों पर स्वामित्व उस-उस आचार्य का होना चाहिये । ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था और वन्य उपजों पर उस-उस आचार्य का अधिकार हो, ताकि वन्य फलों और वन्य भूमि पर कृषि द्वारा आश्रम का खर्च चलता रहे । नागरिक सम्पत्तियों पर राष्ट्रनियन्ता राजा की व्यवस्था होनी चाहिये । शिक्षा-व्यवस्था पर आचार्यों का ही नियन्त्रण होना चाहिये ।]

१९२. आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दुहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥७१॥

(जातवेदः) हे विद्यसम्पन्न आचार्य ! (आ रभस्व) इस ब्रह्मचारी की शिक्षा दीक्षा आरम्भ कीजिये । (ते) आप का (तेजस्वत्) तेजस्वी (हरः) पापहारी स्वरूप, इस ब्रह्मचारी के लिये (अस्तु) प्रकट हो । (अस्य) इस ब्रह्मचारी के (शरीरम्) शरीर को (सम्) सम्यक् प्रकार से (दह) तपश्चर्या को अग्नि द्वारा दग्ध करके निर्मल कीजिये, सत्कर्मी बनाइये । (अथ) तदनन्तर इसे (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोके) गृहस्थ-लोक में (धेहि) स्थापित कीजिये ।

[आचार्य ऐसा होना चाहिये कि वह अपने पापहारी-तेज द्वारा ब्रह्मचारी की पापमयी वासनाओं को दग्ध कर उसे सुकर्मी बना सके । वेद का यह भी उपदेश है कि ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर आचार्य से ब्रह्मचारी के आचार-विचार के सम्बन्ध में परामर्श लेकर ब्रह्मचारी का गृहस्थ धर्म में प्रवेश होना चाहिये । गृहस्थ सुकर्मियों के लिये है, दुष्कर्मियों के लिये नहीं । संदह=तप द्वारा तथा प्राणयाम आदि योगोपायों द्वारा ब्रह्मचारी के शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक मलों का संशोधन करना चाहिये । ऋग्वेद में कहा है कि="अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते" (ऋक् ९।८३।१) अर्थात् जिस ने तपश्चर्या की अग्नि द्वारा अपनी तनू नहीं तपाई, वह कच्चा है, परिपक्व नहीं । ऐसा व्यक्ति उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता । यथा—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥मनु० ६।७१॥

अर्थात् अग्नि के संयोग से जैसे धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं, वैसे प्राणायाम की अग्नि से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं । "सं दह" शब्द का यही अभिप्राय है । मन्त्र में शवाग्नि का वर्णन नहीं, अपितु तपश्चर्याग्नि तथा प्राणायामाग्नि का वर्णन है ।]

१९३. ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥७२॥

हे सद्गहस्थ ! (ये) जो (ते) तेरे (पूर्वे) पूर्व बुजुर्गों के (पितरः)

पिता पितामह आदि, और (ये) जो (अपरे) उन से इधर के=अवरकाल के, तेरे निज (पितरः) पिता पितामह आदि (परागताः) गृहस्थ छोड़ कर परले आश्रमों में चले गए हुए हैं, (तेभ्यः) उनके लिये (व्युन्दती) उनके खेतों, उद्यानों और आश्रमों को सींचती हुई (शतधाराः) सैंकड़ों आश्रमों का धारण-पोषण करनेवाली, तथा सैंकड़ों धाराओंवाली (घृतस्य कुल्या) जल की नहर (एतु) प्राप्त हो। [घृतम्=उदकम् (निघं० १।१२)। आचार्यों के आश्रमों का वर्णन मन्त्र में हुआ है।]

१९४. एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते ।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥७३॥

(एतद्) इस गृह पर (आरोह) तू आरोहण कर, (वयः) अपनी आयु को (उत् मृजानः) उन्नत और शुद्ध-पवित्र कर, (स्वाः) तेरे अपने सम्बन्धी (इह) इस गृहस्थाश्रम में (बृहत् उ) निश्चय से अपने सद्गुणों के कारण बहुत (दीदयन्ते) चमकते रहे हैं। (अभि प्रेहि) हे ब्रह्मचारी! तू गृहस्थाश्रम की ओर आ, (मध्यतः) गृहस्थाश्रम को बीच में ही (मा अप हास्थाः) मत छोड़ जाना। गृहस्थाश्रम (पितॄणां लोकम्) माता-पिता बनने का स्थान है। (यः) जो गृहस्थाश्रम कि (अत्र) इस जीवन काल में (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ आश्रम है।

["अत्र" का अर्थ ह्विटनी ने किया है "There;" करना चाहिये—"Here."। "There" अर्थ इस लिये किया है कि मन्त्र परलोक-वर्णन सम्बन्धी हो सके। आरोह=वैदिकशाला का निर्माण ऊंचे स्तम्भों पर करने का विधान है। इसीलिये वैदिकशाला को "**हस्तिनीव पद्वती**" द्वारा उपमित किया है (अथर्व० ६।३।१७)। वयः=सायण ने इस पद का अर्थ "अन्तरिक्ष" किया है, जो कि वैदिक प्रथा के विरुद्ध है। प्रथमः=**यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ मनु० ३।७८**)।]

॥ तीसरा अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ४

१-८९ अथर्वा । यमः, मन्त्रोक्ताः, ८१ पितरः, ८८ अग्निः, ८९ चन्द्रमाः ।

१९५. आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥१॥

(जातवेदसः) हे अध्यात्मविद्या के जाननेवाले सद्गृहस्थो ! तुम (पितृयाणैः) पितृयाण मार्गों द्वारा (जननीम्) जगज्जननी की प्राप्ति को लक्ष्य करके (आरोहत) आरोहण करो । (वः) तुम्हें मैं तुम्हारा गुरु (सम्) सम्यक् विधि से (आरोहयामि) इस मार्ग पर आरूढ़ कराता हूं । (हव्य-वाहः) तुम्हारी आत्मसमर्पणरूपी हवियों को स्वीकार करनेवाले परमेश्वर ने (ईषितः) चाहनापूर्वक (हव्या) तुम्हारी इन हवियों को (अवाट्) प्राप्त किया है, स्वीकृत किया है । (युक्ताः) हे योगयुक्त योगीजनो ! (ईजानम्) पंचमहायज्ञों के करनेवाले को (सुकृतां लोके) सुकर्मियों के समाज में (धत्त) स्थापित करो !

[आरोहत="आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्" (अथर्व० ५।३०।७)। पितृयाण मार्ग=विवाहानन्तर मर्यादानुसार माता-पिता बन कर सन्तानों को सुशिक्षा द्वारा सन्मार्गी बनाना, और गृहस्थोपयुक्त पंच-महायज्ञों को करते हुए सदा जगज्जननी की प्राप्ति को लक्ष्य बना कर उस ओर पग बढ़ाते जाना । और इस निमित्त योगिजनों की सेवाएं करना, यह सद्गृहस्थी का लक्ष्य होना चाहिये ।]

१९६. देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥२॥

(देवाः) याज्ञिकदेव अर्थात् ऋत्विक्, और (ऋतवः) भिन्न-भिन्न ऋतुएं (यज्ञम्) नाना यज्ञों का (कल्पयन्ति) निर्माण करते हैं, (हविः पुरोडाशं स्रुचः यज्ञायुधानि) अर्थात् भिन्न-भिन्न हवियों का, चावल के आटे से बनी टिक्की का, अग्नि में घी की आहुति डालने के चमचों का, तथा यज्ञों के अन्य नानाविध उपकरणों का । हे यजमान ! (देवयानैः) याज्ञिक देवों के (तेभिः) उन (पथिभिः) मार्गों द्वारा तू (स्वर्गं लोकम्)

स्वर्ग लोक को (याहि) प्राप्त हो, (यैः) जिन यज्ञसाधनों या मार्गों द्वारा (ईजानाः) यज्ञ करनेवाले यजमान (स्वर्गं लोकं यन्ति) स्वर्ग लोक को निश्चित प्राप्त होते हैं।

[ऋतवः=भिन्न-भिन्न ऋतु के अनुसार किये जानेवाले चातुर्मास्य आदि यज्ञ। देवाः=यज्ञों की विधियों का निर्माण करनेवाले, यज्ञविद्याओं के वेत्ता लोग। मन्त्र १९५ और १९६ में पितृयाण और देवयान का वर्णन वैदिक है। उपनिषत्काल में इनके स्वरूपों का वर्णन भिन्न प्रकार से हुआ है। स्वर्ग="स्वर्गनाम सुखविशेषभोग और उस की सामग्री की प्राप्ति का है" (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (४२) सत्यार्थ-प्रकाश।)] यज्ञा द्वारा वृष्टि, ओषधि-अन्नों की परिपुष्टि, रोगनाश, स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि होने पर सुखविशेष होता है।]

१९७. ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये
नाके अधि वि श्रयस्व॥३॥

(ऋतस्य) ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति के (पन्थाम्) योगमार्ग को (साधु) मोक्षसाधक (अनुपश्य) और अनुकूल जानकर, (सुकृतः) सुकर्मी (अङ्गिरसः) प्राणायाम आदि के अभ्यासी (येन) जिस योगमार्ग द्वारा (यन्ति) चलते हैं, (तेभिः पथिभिः) उन योगमार्गों द्वारा (स्वर्गम्) विशेष सुखधाम मोक्ष को (याहि) हे मनुष्य! तू प्राप्त हो। (यत्र) जिस मोक्ष में (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी (मधु) परमेश्वरीय मधुर आनन्दरस का (भक्षयन्ति) पान करते हैं। और इस प्रकार हे मनुष्य! तू (नाके) सांसारिक सुखों और सुखाभाव से रहित आनन्दरसमय (तृतीये) तीसरे धाम परमेश्वर में (अधि) अधिकारपूर्वक (वि श्रयस्व) आश्रय पा।

[**"यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त"** (यजु० ३२। १०)। धाम का अर्थ है तेज। एक तो प्रकृति का तेज है, जिस पर सांसारिक पतङ्गे न्यौछावर हो रहे हैं। दूसरा तेज है जीवात्मा का। योगिजन अस्मितानुगत समाधि में जीवात्मा का साक्षात्कार कर जीवात्मस्वरूप में लीन होते हैं। तृतीय तेज है परमेश्वर, जिस में ईश्वरप्रणिधानी योगी आश्रय पाए रहते हैं।]

१९८. त्र॒यः सु॑प॒र्णा उप॑रस्य मा॒यू नाक॑स्य पृ॒ष्ठे अधि॑ वि॒ष्टपि॑ श्रि॒ताः।
स्व॒र्गा लो॒का अ॒मृते॑न वि॒ष्ठा इष॒मूर्जं॒ यज॑मानाय दुह्राम् ।.४।।

(त्रयः) उपर्युक्त तीन प्रकार के (सुपर्णाः) जीवात्मा, (विष्टपि) ताप-सन्ताप से रहित (नाकस्य पृष्ठे अधि) आनन्दरसमय परमेश्वर के स्पर्श में (श्रिताः) आश्रय पाये रहते हैं। जैसे कि (उपरस्य) मेघ का (मायू) निर्माण करनेवाले वायु और आदित्य परमेश्वर में आश्रय पाए हुए हैं। उपर्युक्त तीन प्रकार के जीवात्माओं के लिये तब (लोकाः) तीनों लोक (स्वर्गाः) विशेषसुखदायी प्रतीत होने लगते हैं, और (अमृतेन) अमृतरस के (विष्ठाः) विशेष स्थान अर्थात् आगार प्रतीत होने लगते हैं। तदनन्तर ये तीनों लोक (यजमानाय) उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार के यजमान के लिये (इषम्) अभीष्ट फल, और (ऊर्जम्) बल तथा प्राणशक्ति (दुह्राम्) दोहते हैं, प्रदान करते हैं।

[सुपर्णाः=जीवात्मा को भी 'सुपर्ण' कहते हैं। यथा "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" (अथर्व० ९।९।२०) में जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों को 'सुपर्ण' कहा है। त्रयः=मन्त्र १९५ से १९७ में पितृयाण देवयान और आङ्गिरसयान तथा आदित्ययान के मार्गी जीवात्माओं का निर्देश त्रयः शब्द द्वारा किया है। पृष्ठे=**पृष्ठं स्पृशतेः**, (निरु० ४।१।३)। अभिप्राय यह कि इन तीन प्रकार के जीवात्माओं को परमेश्वरीय स्वरूप का स्पर्शमात्र भान होता है। परमेश्वर का पूर्ण साक्षात्कार नहीं होता। परमेश्वर का पूर्ण साक्षात्कार तो ईश्वर-प्रणिधान, ओ३म के जप, तथा ओ३म्-वाच्य परमेश्वर के सम्बन्ध में सुदृढ़ भावनाओं के उपरान्त ही होता है। उपर्युक्त तीन प्रकार के जीवात्माओं को जीवितावस्था में तीनों लोक सुखमय और अमृतरस से भरे प्रतीत होने लगते हैं, और उन की सात्विक अभिलाषाएं पूर्ण हो जाती हैं, बल और प्राणशक्तियां बढ़ जाता है[१]।]

(१) तीन प्रकार के जीवात्मा अभ्यासावस्था में, कोई तो विदेहावस्था में होकर ग्राह्यविषय में तत्स्थता और तदञ्जनता प्राप्त किये होते हैं, कई ग्रहण अर्थात् इन्द्रियों के दिव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द में तत्स्थता और तदञ्जनता प्राप्त किये होते हैं, और कई गृहीत विषय में अर्थात् अस्मिता में तत्स्थता और तदञ्जनता

१९९. जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम् ॥५॥

(जुहूः) जुहू ने (द्याम्) द्युलोक का रूप (दाधार) धारण कर लिया, (उपभृत्) उपभृत् ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष का रूप धारण कर लिया, (ध्रुवा) ध्रुवा ने (प्रतिष्ठाम्) सर्वाधारभूत (इमां पृथिवीम्) इस पृथिवी का (प्रति) प्रतिरूप (दाधार) धारण कर लिया । तदनन्तर (घृतपृष्ठाः) दीप्तियों से स्पृष्ट (स्वर्गाः) विशेष सुखभोग के साधनभूत (लोकाः) तीन लोक, अर्थात् द्युलोक अन्तरिक्षलोक तथा पृथिवीलोक (यजमानाय) अध्यात्मयज्ञ के कर्त्ता संन्यासी के लिये (कामंकामम्) उस की प्रत्येक आध्यात्मिक कामना को (दुह्राम्) पूर्ण करते हैं, सफल करते हैं ।

[याज्ञिक पद्धति के अनुसार यज्ञार्थ घृत प्रथम ध्रुवा-पात्र में लिया जाता है । इसे ध्रुवा इसलिये कहते हैं, चूंकि इस में घृत भरकर इसे अपने नियत स्थान में स्थित रहने दिया जाता है। इस के समीप उपभृत्-पात्र रखा जाता है । यह ध्रुवा के "उप" अर्थात् समीप स्थित रहता है, और ध्रुवास्थ घृत द्वारा इसे भरा जाता है । तदनन्तर जुहू-पात्र में घृत उपभृत्-पात्र से लिया जाता है, और जुहू के घृत से स्रुव द्वारा अग्नि में घृताहुतियां दी जाती हैं। व्यक्ति जब संन्यास ग्रहण करता है, तब उस के लिये अग्निहोत्र तथा अन्य यज्ञों का विधान नहीं रहता । उस समय उस के लिये द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, और पृथिवीलोक ही जुहू उपभृत् और ध्रुवारूप हो जाते हैं। उस की पहिली कामनाएं तो द्रव्य-यज्ञों और उन के साधनों द्वारा पूर्ण होती थीं। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उस की पहिली कामनाएं छूट जाती हैं, और नई आध्यात्मिक कामनाएं जागरित हो जाती है । इन कामनाओं की पूर्ति परमेश्वरीय कृपा से, परमेश्वर-संचालित तीनों लोकों द्वारा अनायास होती रहती हैं। पृथिवी सर्वाधार है, चूंकि सब ओषधियों, अन्नों, प्राणियों, और इन के जीवनों के साधन अर्थात् जल, वायु, प्रकाश, ताप आदि की स्थिति का स्थान पृथिवी ही है ।]

प्राप्त किये होते हैं (योग० १।४१) । और जीवन्मुक्त बुद्धितत्त्व में तत्स्थता और तदञ्जनता प्राप्त कर असम्प्रज्ञात समाधि में स्थिति की योग्यता प्राप्त किये रहते हैं।

२००. ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः
सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥६॥

(ध्रुव) हे ध्रुवा-पात्र ! तू (विश्वभोजसम्) सब को भोजन देने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी पर (आ रोह) आरोहण कर; (उपभृत्) हे उपभृत् पात्र! तू (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष की ओर (आक्रमस्व) पग बढ़ा; (जुहु) हे जुहू-पात्र ! तू (यजमानेन) यजमान के (साकम्) साथ (द्याम्) द्युलोक को (गच्छ) जा। और हे यजमान! तू (स्रुवेण वत्सेन) स्रुवरूपी जुहू के बछड़े द्वारा (प्रपीनाः) आप्यायित हुईं (सर्वा दिशः) सब दिशाओं का (धुक्ष्व) दोहन कर, (अहृणीयमानः) विना किसी संकोच के।

[मन्त्र १९९ में अवरोहणक्रम से लोकों का वर्णन हुआ है, अर्थात् द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, और पृथिवीलोक का। परन्तु मन्त्र २०० में आरोहणक्रम से लोकों का वर्णन हुआ है, अर्थात पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष-लोक और द्युलोक का। मन्त्र २०० में संन्यासी के शरीरत्याग का वर्णन है। संन्यासी आत्मयाजी होने से यजमान है। शरीरत्याग के पश्चात् उस ने द्युलोक की ओर उत्क्रमण करना है, जिस लोक में कि परमेश्वरीय ज्योति सूर्य, नक्षत्रों, तारागणों, और आकाश गङ्गा (milky way) में जगमग कर रही है। "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**", (यजु० ४०।१७), अर्थात् मानो ब्रह्म ही आदित्य-ज्योति में चमक रहा है। तथा "**नक्षत्राणि रूपम्**" (यजु० ३१।२२), अर्थात् जगमगाते नक्षत्रों में ब्राह्मी रूप ही चमक रहा है। तथा "**यस्य ते उपरि गृहाः**" (यजु० १८ ४४) हे ब्रह्म! आप के ही ये ऊपर के द्युलोक के घर हैं, जिन में आप निवास कर रहे हैं। तथा "**स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः**" (अथर्व० ४।१।१), अर्थात् संसार का मूल जो द्युलोक है, उस में विविध स्थानों में स्थित नक्षत्र-तारा-गण ज्योतिरूप में इस ब्रह्म के उपमारूप हैं। स्रुवेण वत्सेन=जैसे बछड़े को गौ के थनों के साथ लगाने से गौ के थन दूध से आप्यायित हो जाते हैं, भर जाते हैं, और गोस्वामी दूध दोह लेता है, वैसे ही स्रुव द्वारा घृताहुतियों के देने पर दिशाएं घृत के सूक्ष्मांशों से आप्यायित हो कर=भर कर याज्ञिक यजमानों को वर्षा, अन्न, स्वास्थ्य, नैरोग्य, बल और प्राणशक्ति आदि प्रदान करती है। मानो याज्ञिक यजमान इन दिशाओं से इन फलों का दोहन करते

है'। परन्तु आत्मयाजी सब दिशाओं में व्याप्त परमेश्वर के आनन्दरस का दोहन करता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्यौः के अध्यात्मस्वरूपों के परिज्ञान के लिये देखो मन्त्र क्रमांक २७२, २७३, २७४।]

२०१. तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥७॥

जैसे सामुद्रिक यात्री (तीर्थैः) तैराने वाली नौका आदि के द्वारा (प्रवतः) दूर-दूर के (महीः) भूखण्डों से (तरन्ति) पार हो जाते हैं, वैसे मनुष्य (तीर्थैः) महात्माओं, सद्गुरुओं और सदाचार्यों, शास्त्रों द्वारा (प्रवतः) भविष्य की (महीः) महा विपत्तियों और आपदाओं से (तरन्ति) पार हो जाते हैं। तदनन्तर (यज्ञकृतः) यज्ञिय कर्मों के करने वाले (सुकृतः) सुकर्मी लोग (येन) जिस सुपथ द्वारा (यन्ति) चलते हैं, उस सुपथ द्वारा वे मनुष्य भी चलने लगते हैं। तथा (यद्) जब वे यज्ञकृत् और सुकर्मी यज्ञिय भावनाओं और सुकर्मों द्वारा (दिशः) दिशाओं और वायुमण्डल को, और (भूतानि) पंचभूतों और प्राणियों को (अकल्पयन्त) सामर्थ्ययुक्त कर देते हैं, तब वे (अत्र) इस भूमण्डल पर (यजमानाय) प्रत्येक यजन-कर्त्ता के लिये (लोकम्) विशेष आलोक तथा विशेष दृष्टि (अदधुः) प्रदान कर देते हैं।

[तीर्थैः=तरन्ति येन तत् तीर्थम् (उणा० २।७)। तथा Sacred or holy personage; A sacred preceptor, a teacher; ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवेत्ता (आपटे) लोकम्=आलोक, लोक दर्शने। अत्र=इस भूमण्डल पर। ह्विटनी ने अत्र का अर्थ किया है "There"; ताकि मन्त्र में मृत्यु के पश्चात् परलोकगमन की भावना प्रकट हो सके। अत्र का अर्थ है "here", न कि "there"। प्रवतः=प्र+अव् (गतौ)+शतृ=दूरगत (निरु. १०।२।२०)।]

---

१. मन्त्रसंख्या २०० में "जुहू" का सम्बन्ध "द्यौः" के साथ दर्शाया है। जैसे जुहू का वत्स "स्रुव" है, वैसे ही द्यौः का वत्स 'आदित्य" है। उस आदित्यरूपी वत्स द्वारा हमारी कामनाओं की पूर्ति हो रही है। यथा—

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः। सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥(अथर्व०४।३९।६)

२०२. आङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः । महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥८॥

(अङ्गिरसाम्) अङ्गिराओं अर्थात् प्राणायामाभ्यासियों का (अयनम्) मार्ग है (पूर्वः अग्निः) शरीर के पूर्व भाग में स्थित नासिकास्थ प्राणाग्नि, श्वासोच्छ्वासरूपी अग्नि (आदित्यानाम्) आदित्य ब्रह्मचारियों का (अयनम्) मार्ग है (गार्हपत्यः अग्निः) गृहपति बनने का साधनभूत वीर्याग्नि, (दक्षिणानाम्) यज्ञों में दक्षिणाएं देने वाले सद्गृहस्थों का (अयनम्) मार्ग है (दक्षिणाग्निः) शरीर के दक्षिण भाग में स्थित पचनाग्नि । हे मनुष्य ! (ब्रह्मणा) ब्रह्म द्वारा (विहितस्य) विशेषतया स्थापित (अग्नेः) इन अग्नियों की (महिमानम्) महिमा को (उप याहि) उपासनापूर्वक तू प्राप्त हो । और (समङ्गः) अंगों से संयुक्त हुआ, (सर्वः) और सम्पूर्णाङ्ग होकर तू (शग्मः) शान्ति और सुख को प्राप्त हो ।

[अङ्गिरसाम्="आङ्गिरसः अङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः' (बृह० उप० अ० १, ब्रा० ३, खं० १९) । प्राण यतः शरीर के पूर्व भाग अर्थात् नासिका तथा मुख में हैं, अतः इस प्राणाग्नि को "पूर्वाग्नि" कहा है । यह प्राण अग्नि है, क्योंकि प्राणों तथा प्राणयाम के अभ्यास से इन्द्रियों के मल दग्ध हो जाते हैं । "तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्" (मनु० ३।७२) । यह नासिका-प्राण जब मुख में उतरता है, तब इसे "अयास्य" प्राण कहते हैं । अयते आस्ये इति अयास्यः । पूर्वः= In front of (आपटे) ।

आदित्यानाम्=आदित्य ब्रह्मचारियों का अयन अर्थात् मार्ग है "वीर्याग्नि", जिसे गार्हपत्य अग्नि कहा है। वीर्य अग्निरूप है, चूंकि वीर्यवानों के मुख वीर्यरक्षा के कारण तेजस्वी हो जाते हैं । वीर्य द्वारा मनुष्य गृहपति बनता है । दक्षिणानाम्=यज्ञों में दक्षिणा देने वाले गृहस्थियों का अयन अर्थात् जीवनमार्ग है "दक्षिणाग्नि" । "यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः" (अथर्व० ९।६।२।१३) । अर्थात् जिस में पकाते हैं, वह दक्षिणाग्नि है । आध्यात्मिक दृष्टि में अन्न-पाचक अग्नि दक्षिणाग्नि है। अन्नपाचक अग्नि शरीर के दक्षिण भाग में है । उदर का मुख, डिओडोनम, आन्तें, यकृत् ये पाचक अंग

शरीर के दक्षिण भाग में विद्यमान हैं। गृहस्थियों को पौष्टिक अन्न खाना चाहिये, और उसे पचा सकने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। तभी वे गृहस्थ-धर्म का पालन कर सकते हैं। ब्रह्मणा=ब्रह्म ने मनुष्य को उपर्युक्त तीन अग्नियां प्रदान की हैं। इन के स्वस्थ रहने पर मनुष्य सर्वाङ्गपुष्टि प्राप्त कर शान्ति और सुख का भागी बनता है।]

२०३. पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद्
दिशोदिशो अग्ने परि पाहि घोरात् ॥९॥

हे मनुष्य ! (पूर्वः अग्निः) नासिक्य प्राणाग्नि (पुरस्तात्) पूर्व भाग से (त्वा) तुझे (तपतु) तपाए, और इस प्रकार तेरे मल को दूर कर (शम्) तुझे शान्ति प्रदान करे; (गार्हपत्यः) गृहपति बनाने वाली वीर्याग्नि (पश्चात्) तेरे पश्चिम[1] भाग से तुझे (तपतु) तपाए, इस प्रकार तेरे मल को दूर कर (शम्) तुझे शान्ति प्रदान करे; इसी प्रकार (दक्षिणाग्निः) पाचकाग्नि (तपतु) तुझे तपाए, और (ते) तेरे लिये यह अग्नि (शर्म) गृह का सुख देवे, तथा (वर्म) तेरे लिये कवचरूप बने। (अग्ने) अग्निरूप में हे तीनों अग्नियो ! तुम (उत्तरतः) उत्तर से, (मध्यतः) मध्य से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (दिशःदिशः) तथा शरीर की प्रत्येक दिशा से इस मनुष्य की (घोरात्) घोर रोगों से (परि पाहि) पूर्णतया रक्षा करो।

[पूर्वः अग्निः=नासिक्य प्राण फेफड़ों के गन्द Co_2 को दूर करता, तथा रक्त में मिल कर उस के नीलपन को दूर कर रक्त के लालकणों का निर्माण करता है। पाचकाग्नि के स्वस्थ रहते नियमपूर्वक शौचक्रिया होने से रोग नहीं होने पाते। शर्म=गृह (निघं० ३।४), तथा सुख (निघं० ३।६)। तथा उत्तरतः=शिरोभाग; अन्तरिक्षात्=छाती, जिस के फेफड़ों में हवा भरी रहती, तथा जिस में रहता हुआ हृदय निशिदिन शरीर

(१) शरीर के ऊपर के हिस्से को "पूर्वकाय" कहते हैं। इस लिये शरीर का अधोभाग "पश्चात्-काय" है, जो कि वीर्याग्नि का स्थान है। पूर्वकाय=The upper part of the body of man (आपटे)। पश्चार्धः=The hinder part of the body (आपटे)।

के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर रक्त की वर्षा करता रहता है। मध्यतः=छाती से नीचे और टांगों से ऊपर का भाग, अर्थात् उदर।]

२०४. यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति ॥१०॥

हे सुकर्मी महात्माओ! (यूयम्) तुम, तथा (अग्ने) हे सर्वाग्रणी परमेश्वर! आप, (शंतमाभिः) प्रशान्त अर्थात् सत्वमयी (तनूभिः) स्थूल सूक्ष्म और कारण तनुओं के साथ वर्तमान (ईजानम्) यजमान को, (स्वर्गम्) विशेष सुखों और सुख-साधनाओं से सम्पन्न (लोकम् अभि) लोक अर्थात् वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम की ओर (वहाथ) ले चलो। (पृष्टिवाह) पृष्ठवाही (अश्वाः भूत्वा) अश्वों के समान हो कर तुम इसे ले चलो, उस आश्रम में ले चलो, (यत्र) जिस में कि यजमान लोग (देवैः) दिव्य कोटि के महात्माओं के साथ मिल कर (सधमादम्) पारस्परिक आनन्द में (मदन्ति) आनन्दित रहते हैं।

२०५. शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥११॥

(अग्ने) हे सर्वाग्रणी ज्योतिर्मय परमेश्वर! (एनम्) इस यजमान को आप, (पश्चात्) पृष्ठभाग से=सुषुम्णा संस्थान से (तप) तपाइये, तपश्चर्या में डालिये, जिस से (शम्) इस को शान्ति प्राप्त हो। (पुरस्तात्) सामने की ओर से, अर्थात् मुखस्थ चक्षु श्रोत्र घ्राण आस्वादन की दृष्टियों से इसे तपाइये, तपश्चर्या में डालिये, जिस से (शम्) इस को शान्ति प्राप्त हो। (उत्तरात्) ऊपर के मस्तिष्क से इसे तपाइये, तपश्चर्या में डालिये, जिस से विचारों की दृष्टि से (शम्) इसे शान्ति प्राप्त हो। (अधरात्) नीचे की ओर से इसे (तप) तपाइये, तपश्चर्या में डालिये, जिस से नीचे की इन्द्रियों से (शम्) इसे शान्ति प्राप्त हो। (जातवेदः) हे सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान तथा विद्यावान् परमेश्वर! आप (एकः) एक हैं, परन्तु वेदों में आप (त्रेधा) त्रिविध स्वरूपों में (विहितः) कथित हुए हैं। हे परमेश्वर आप (एनम्) इस यजमान को (सम्यक्) सम्यक्रूप में (सुकृतां लोके) सुकर्मियों के आश्रम में या समाज में (धेहि) स्थापित कीजिये।

[त्रेधा—ओ३म् के "अ,उ,म्" द्वारा कथित तीन-तीन स्वरूप, यथा "ईश्वर-हिरण्यगर्भ-विराट्"; "आदित्यु-वायु-अग्नि","विश्व-तैजस-प्राज्ञ"।]

(२)

२०६. शम॒ग्नय॒ः समि॑द्धा॒ आ र॑भन्तां प्राजाप॒त्यं मेध्यं॑ जा॒तवे॑दसः।
शृ॒तं कृ॒ण्वन्त॑ इ॒ह मा॒व चि॑क्षिपन् ॥१२॥

(जातवेदसः) प्रत्येक नवगृहस्थ में अग्न्याधान द्वारा विद्यमान रहनेवाली (अग्नयः) आहवनीय, गार्हपत्य, और दक्षिणा "अग्नियां" (समिद्धाः) प्रदीप्त होकर, (शम्) नवगृहस्थ को शान्तिप्रद हों, और उस के रोगों का शमन करें। वे अग्नियां नवगृहस्थ के (प्राजापत्यम्) प्राजापत्य नामक (मेध्यम्) पवित्र यज्ञ का (आरभन्ताम्) आरम्भ करें। और (इह) इस जीवन में नवगृहस्थ को (शृतम्) निजकर्तव्यों में परिपक्व (कृण्वन्तः) करती हुई, सुदृढ़ करती हुई (मा अव चिक्षिपन्) इसे अवक्षेप अर्थात् निन्दा का पात्र न होने दें।

[यह वैदिक प्रथा है कि प्रत्येक नवविवाहित दम्पती निज गृह में निज "आहवनीय, गार्हपत्य, तथा दक्षिणा" अग्नियां स्थापित करे, और अपने गृहस्थ-काल में इन्हें समिद्ध रखे। समिद्ध अग्नियां रोगों को निवारित कर गृहस्थ को शान्ति प्रदान करती हैं। जातवेदसः=नवजाताः, तदनन्तरं विद्यमानाः। प्राजापत्यं मेध्यम्=सब प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक परमेश्वर है, इसलिये परमेश्वर को प्रजापति कहते हैं। प्रजापति ने यह पवित्र संसार-यज्ञ रचाया हुआ है। और खान-पान तथा जीवनोपयोगी अन्य सामग्रियों द्वारा वह समग्र प्रजा की रक्षा कर रहा है। वर्णाश्रमधर्म में तीनों आश्रमी पालन-पोषण की दृष्टि से गृहस्थाश्रम पर निर्भर रहते हैं। यथा—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्मात् ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ मनु० ३।७७,७८॥

इसलिये विवाहानन्तर पति को भी प्रजापति बन कर तीनों आश्रमियों का, तथा भूतयज्ञ में सब भूतों अर्थात् प्राणियों का पालन-पोषण करना

होता है। इस निमित्त वह "प्राजापत्य-मेध्य" रचाता है, जोकि नित्य चलता रहता है। अथर्ववेद के अतिथिसूक्त में कहा है कि—

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥
प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति ॥ (६।२।११,१२)

अर्थात् जो सद्गृहस्थ अतिथि आदि को खानपान आदि उपहाररूप में भेंट करता है, निश्चय से यह इस सद्गृहस्थ का प्राजापत्य-यज्ञ रचाया हुआ है ॥ यह सद्गृहस्थ निश्चय से प्रजापति-परमेश्वर का पदानुगामी होता है, जो उपहाररूप में खानपान भेंट करता है ॥

अग्नयः समिद्धाः=अथर्ववेद में कहा है कि—

योऽतिथीनां स आहवनीयो, यो वेश्मनि स गार्हपत्यो, यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ (६।२।१३)

इस मन्त्र में प्रसिद्ध तीन अग्नियों का रूपण किया गया है। अर्थात् अतिथि हैं आहवनीयाग्नि; गृहव्यक्ति हैं गार्हपत्याग्नि; और चुल्ले की अग्नि, जिसमें कि गृहस्थी अन्न पकाते हैं—है दक्षिणाग्नि। अतिथियों को अन्न देना मानो आहवनीयाग्नि में हवन करना है, आहुतियां देना है। वेश्म अर्थात् घर के वासियों का पालन-पोषण करना मानो गार्हपत्याग्नि की सेवा करना है। और चुल्ले में प्रतिदिन अन्न इस निमित्त पकाना दक्षिणाग्नि का प्रज्वलन करना है। चुल्ले की अग्नि द्वारा ही सब को अन्न मिलता है, और अन्न द्वारा व्यक्ति प्रगतिशील होते हैं और वृद्धि पाते हैं। इस लिये इस अग्नि को दक्षिणाग्नि कहा है—"दक्ष् गतौ वृद्धौ"।

मा अव चिक्षिपन् =अवक्षेप=निन्दा Blaming, resiling (आपटे)। जिस घर में न अतिथिसेवा हो, न गृहवासियों का पालनपोषण हो सके, न चुल्ला ही जले, वह घर निन्दनीय है, वह लोकनिन्दा का पात्र बनता है। शृतम्=प्राजापत्य-मेध्य सद्गृहस्थ का व्रत है। इस व्रत के परिपालन में मन्त्रोक्त अग्नियां सद्गृहस्थ को परिपक्व करती हैं, सुदृढ़ करती रहती हैं। और इस व्रत के परिपालन के लिये सद्गृहस्थ अर्थोपार्जन के लिये सदा यत्नवान् रहता हैं। शृतम्=शृ पाके+क्त ।]

२०७. यज्ञ एति वितंतः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।

शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥१३॥

(विततः) समग्र गृहस्थकाल में फैला हुआ (यज्ञः) प्राजापत्य यज्ञ (कल्पमानः) सामर्थ्यवान् होकर (ईजानम्) यज्ञकर्त्ता को (स्वर्गम्) विशेष-सुख और सुख के साधनभूत (लोकम्) लोक अर्थात् आश्रम की (अभि एति) ओर ले जाता है, तदभिमुख कर देता है। (जातवेदसः अग्नयः) उपर्युक्त जातवेदस अग्नियां, (सर्वहुतम्) जिसमें सर्वस्व आहुतिरूप में समर्पित कर दिया है, ऐसे (प्राजापत्यं मेध्यम्) पवित्र प्राजापत्य-यज्ञ का (जुषन्ताम्) सेवन करें। और वे अग्नियां (तम्) उस सद्गृहस्थ को (शृतं कृण्वन्तः) प्राजापत्य व्रत में परिपक्क अर्थात् सुदृढ़ करती हुई, (इह) इस गृहस्थ जीवन में उसे (माव चिक्षिपन्) निन्दा का पात्र न होने दें।

[ईजानम्=यज्+कानच्। 'ईजानम्' प्रयोग भूतार्थक है। अर्थात् जिस ने अपने गृहस्थकाल में प्राजापत्य-मेध्य नियमपूर्वक कर लिया है, वह अगले आश्रम अर्थात् संन्यास का अधिकारी है। संन्यास ग्रहण करते समय "प्राजापत्येष्टि" करनी होती है, जो इस बात को सूचित करती है कि अमुक व्यक्ति ने गृहस्थ में प्राजापत्य-मेध्य नियमपूर्वक किया है। साथ ही संन्यास ग्रहण करते समय "सर्ववेदस" अर्थात् निज सर्व सम्पत्ति का परित्याग करना होता है। प्राजापत्येष्टि तथा सर्ववेदस आहुति का वर्णन यजुर्वेद-ब्राह्मण में हुआ है। यथा—"**प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्**"।

तथा—"**प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।**

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥ (मनु० ६।३८)

मन्त्र में "सर्वहुतम्" पद के द्वारा "**सर्ववेदसं हुत्वा**" का ही निर्देश है। पूर्ण वैराग्य की अवस्था में गृहस्थ से सीधे संन्यास ग्रहण करने की भी विधि है। यथा—"**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्**"।]

२०८. ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन्।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥१४॥

(ईजानः) प्राजापत्ययाजी जीवन्मुक्त (चितम् अग्निम्) जब चिताग्नि पर (आरुक्षत्) आरोहण करता है, तब उसकी आत्मा (नाकस्य पृष्ठात्) जीवन्मुक्तावस्था के मोक्षसुख के स्पर्श से (दिवम्) द्योतमान परमेश्वर की

ओर (उत् पतिष्यन्) उत्पतन करती हुई, उत्क्रमण करती हुई वर्तमान होती है। (तस्मै सुकृते) उस सुकर्मी आत्मा को (नभसः) अब तक अभासित (देवयानः) परमेश्वर देव तक ले जानेवाला, (ज्योतिषीमान्) ज्योतिर्मय (स्वर्गः) मोक्षसुख का साधनभूत (पन्थाः) मार्ग (प्रभाति) प्रभासित हो जाता है।

[उत् पतिष्यन्=जीवात्मा को 'सुपर्ण' कहा है (मन्त्र १९८), इसलिये उत्पतन अर्थात् ऊपर उड़ने का वर्णन हुआ है। सुपर्ण का अर्थ है उत्तम पंखोंवाला। उस के उत्तम-कर्म ही उत्तम पंख हैं। "सुकृते" पद की यही भावना है। योगिजनों की आत्माओं का उत्पतन अर्थात् उत्क्रमण हुआ करता है, और संसारी व्यक्तियों की आत्माओं का अवक्रमण होता है, अर्थात् फिर नीचे की ओर पृथिवी पर आना होता है। दिवम्=यथा "**त्रिपादस्यामृतं दिवि**" (यजु० ३१।३) में "दिवि" का अर्थ है—"द्योतनात्मक अपने अर्थात् परमेश्वर के निज स्वरूप में" (दयानन्द भाष्य)। नभसः=न+भसः (भासित)।]

२०९. अ॒ग्निर्होता॑ध्व॒र्युष्टे॒ बृह॒स्पति॒रिन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा द॑क्षिण॒तस्ते॑ अस्तु।
हु॒तो॒ऽयं संस्थि॑तो य॒ज्ञ ए॑ति॒ यत्र॒ पूर्व॒मय॑नं हु॒ताना॑म् ॥१५॥

हे प्राजापत्ययाजिन् (ते) तेरा (होता) अदनकर्त्ता (अग्निः) अग्नि है, (बृहस्पतिः) वायु (अध्वर्युः) तेरी अन्त्येष्टिरूपी अध्वर का जुटानेवाला है, (दक्षिणतः) दक्षिण में स्थित मन्त्रोच्चारणकर्त्ता (ब्रह्मा) ब्रह्मा (ते) तेरे लिये (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (अस्तु) हो। हे प्राजापत्ययाजिन्! (अयम्) यह तेरा (यज्ञः) जीवनयज्ञ (हुतः) अग्नि में हुत हुआ है, (संस्थितः) और समाप्त हो गया है। यह प्राजापत्ययाजी (एति) वहां जाता है (यत्र) जहां कि (पूर्वं हुतानाम्) पूर्व हुत हुओं का (अयनम्) गमन हुआ है।

[होता=हु अदने। अध्वर्युः=**अध्वरं युनक्ति** (निरु० १।३।८)। यज्ञः=**पुरुषो वाव यज्ञः** (छान्दोग्य उप० प्रपाठक ३, खण्ड १६): बृहस्पतिः=बृहदन्तरिक्ष में रहता हुआ जो प्राणवायु द्वारा रक्षा करता है, अर्थात् वायु। यह अग्नि का सहायक होकर अन्त्येष्टि-अध्वर को जुटाता है। बिना वायु के अग्नि प्रदीप्त नहीं हो सकती। ब्रह्मा=चारों वेदों का

ज्ञाता ऋत्विक् यज्ञ में उत्तराभिमुख होकर, दक्षिण में बैठा हुआ यज्ञविधि का निरीक्षण करता रहता है। परमेश्वर भी मानो ब्रह्मा-सदृश इस यज्ञ का निरीक्षण करता है।]

(३)

२१०. अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥१६॥

सम्बन्धी प्राजापत्ययाजी के जीवनकाल के पश्चात् भी (इह) उस से सम्बन्धित इस गृहस्थ में (अपूपवान्) माल-पूड़ों समेत (क्षीरवान्) और दूध समेत (चरुः) चावल, जौ आदि (आ सीदतु) बने रहें। तथा (देवानाम्) अतिथिदेवों में (ये) जो आप (हुतभागाः) आहुतियों के पश्चात् यज्ञशेष का भाग ग्रहण करनेवाले (इह) इस भूमण्डल पर (स्थ) अभी जीवित हो, और (लोककृतः) लोकोपकार करनेवाले और (पथिकृतः) लोकों को सत्पथ में चलानेवाले हो, उन आप का (यजामहे) अतिथियज्ञ द्वारा हम सत्कार कर सकें।

[संन्यासी आत्मयाजी होते हैं, वे हुतभागी नहीं होते। गृहस्थी तथा वानप्रस्थी अतिथि हुतभागी होते हैं। चरुः=चर भक्षणे।]

२११. अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥१७॥

प्राजापत्ययाजी के जीवन-यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी (इह) इस घर में (चरुः) चावल, जौं आदि, तथा उसके साथ (अपूपवान्) पूड़े, और (दधिवान्) दहीं (आसीदतु) विद्यमान रहें, शेष पूर्ववत्।

२१२. अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥१८॥

प्राजापत्ययाजी के जीवन-यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी (इह) इस घर में (चरुः) चावल, जौं आदि, तथा उसके साथ (अपूपवान्) पूड़े और द्रप्सवान्) दही की लस्सी (आ सीदतु) विद्यमान रहें, शेष पूर्ववत्। [द्रप्सम्=Diluted sour milk, diluted curds (आपटे)।]

२१३. अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥१९॥

प्राजापत्ययाजी के जीवन-यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी (इह) इस घर में (चरुः) चावल, जौं आदि, तथा उस के साथ (अपूपवान्) पूड़े और (घृतवान्) घृत (आ सीदतु) विद्यमान रहें, शेष पूर्ववत् ।

२१४. अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२०॥

प्राजापत्ययाजी के जीवन यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी (इह) इस घर में (अपूपवान्) पूड़ों समेत और (मांसवान्) मांस समेत (चरुः) चावल, जौं आदि (आ सीदतु) विद्यमान रहें, शेष पूर्ववत् ।

[मांसवान्=मांस का अर्थ पशुहिंसाजन्य मांस है—यह सर्वदा नहीं । मांस का अर्थ फल का गुद्दा भी है । मांस=The fleshy part of a fruit (आपटे) । तथा रोहणी ओषधि के वर्णन में निम्नलिखित मन्त्र है—"**मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु । असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु** ॥ (अथर्व० ४।१२।४) ॥ अर्थात् हे रोगी ! रोहणी (लाख, लाक्षा) की मज्ज्ञा (marrow) द्वारा तेरी मज्जा का संधान हो, रोहणी ओषधि के चर्म के द्वारा तेरा चर्म रोपित हो, स्वस्थ हो । रोहणी के असृक् तथा अस्थि द्वारा तेरा रक्त तथा तेरी हड्डी स्वस्थ हो । तथा रोहणी के मांस अर्थात गुद्दे द्वारा तेरा मांस बढ़े । इस प्रकार मन्त्र में रोहणी ओषधि [जिस से कि लाख बनती है] की मज्जा, चर्म, असृक् अर्थात् रक्त, हड्डी और मांस का वर्णन है । मज्जा=The pith of plants (आपटे), तथा The marrow of the bones and flesh (आपटे) । अतः मन्त्र २१४ में "मांस" का अर्थ "फल का गुद्दा" प्रतीत होता है । क्योंकि मन्त्रों में मांसभोजी को "पिशाच" कहा है । **पिशितं मांसं भोजनार्थमञ्चन्ति प्राप्नुवन्ति इति पिशाचाः** ।]

२१५. अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२१॥

(अपूपवान्) पूड़ों समेत, और (अन्नवान्) विविध अन्नों समेत (चरुः) भात आदि (इह) इस घर में, प्राजापत्ययाजी के जीवन-यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी (आ सीदतु) विद्यमान रहे, शेष पूर्ववत् ।

[अन्नवान्=वेदों में कई प्रकार के अन्नों का वर्णन है। यथा—व्रीहयः=चावल, यवाः=जौं, माषाः=उड़द, तिलाः=तिल, मुद्गाः=मूंग, खल्वाः=चने, प्रियङ्गवः=कंगुनी, अणवः=सूक्ष्म चावल, श्यामाकाः=सांक या समा, नीवाराः=बिना बोए उत्पन्न होनेवाला चावल, गोधूमाः=गेहूं, मसूराः=मसूर, मसर (यजु० १८।१२)। इसी प्रकार कृष्टपच्याः=खेतों में पके हुए अन्न, तथा अकृष्टपच्याः=जंगलों में पके अन्न (यजुः १८।१४)।]

२१६. अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२२॥

प्राजापत्ययाजी के जीवन-यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी (इह) इस घर में (अपूपवान्) पूड़ों समेत और (मधुमान्) शहद तथा मधुर वस्तुओं समेत (चरुः) भक्षणीय भात आदि (आ सीदतु) विद्यमान रहे, शेष पूर्ववत् ।

२१७. अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२३॥

प्राजापत्ययाजी के जीवनयज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी (इह) इस घर में (अपूपवान्) पूड़ों समेत, और (रसवान्) नानाविध रसों समेत (चरुः) भक्षणीय भात आदि (आ सीदतु) विद्यमान रहे, शेष पूर्ववत्। [रसवान्=ओषधियों के रस, फलरस, सब्जी के रस, गन्ने आदि के रस।]

२१८. अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥२४॥

प्राजापत्ययाजी के जीवन-यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी (इह) इस घर में (अपूपवान्) पूड़ों समेत और (अपवान्) उत्तम शुद्ध जल समेत (चरुः) भक्षणीय चावल आदि (आ सीदतु) विद्यमान रहें, शेष पूर्ववत् ।

२१९. अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥२५॥

हे सद्गृहस्थ ! (देवाः)स्वास्थ्यशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् (ते) तेरे लिये (यान्) जिन (अपूपापिहितान् कुम्भान्) कुम्भों से भरे पूड़े (अधारयन्) निर्धारित करते हैं, (ते) वे (घृतश्चुतः) घृतस्रावी और (मधुमन्तः) मधुर अपूप (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण और पोषण की शक्तिवाले (सन्तु) हों। अर्थात् इन का उपभोग तू इस तरह कर कि ये तेरे आत्मधारण और पोषण के लिये उपयुक्त हों।

२२०. यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥२६॥

हे सद्गृहस्थ ! (तिलमिश्राः) तिलों से मिश्रित (याः धानाः) जो धान्य (ते) तेरे निमित्त (अनु किरामि) ऋत्वनुसार मैं बोता हूं, वे तेरे लिये (स्वधावतीः) आत्मधारण तथा पोषण के उपयोगी हों। (ताः) वे (ते) तेरे लिये (उद्भ्वीः) उद्भूत अर्थात् अंकुरित, और (प्रभ्वीः) प्रभूतमात्रा में (सन्तु) हों। तथा (यमः) नियन्ता राजा (ते) तेरे लिये (ताः) उन उत्पन्न अन्नों की (अनु मन्यताम्) स्वीकृति प्रदान करे।

[धानाः = (1) fried barley or rice or grains. (2) corn, grain, अनुमन्यताम् = उपज के निश्चित भाग को राज्यकर के रूप में चुका देने के पश्चात् खेत का स्वामी उपज का उपभोग कर सकता है, उस से पूर्व नहीं। यही राज-स्वीकृति है।]

२२१. अक्षितिं भूयसीम् ॥२७॥

वह उपज तेरे लिये (अक्षितिम्) न क्षीण होनेवाली मात्रा में हो, (भूयसीम्)और प्रभूतमात्रा में हो। उसकी स्वीकृति राजा तुझे प्रदान करे।

(४)

२२२. द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥२८॥

(द्रप्सः) परमेश्वरीय आनन्दरस (पृथिवीं द्याम् अनु) पृथिवी और द्युलोक में निरन्तर (चस्कन्द) प्रवाहित हो रहा है। वह आनन्दरस (इमं च योनिं, यश्च पूर्वः अनु) वर्तमान सृष्टि की कारणभूत=प्रकृति में, तथा पूर्व सृष्टियों की कारणभूत प्रकृति में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। (समानम्) एकरस रूप में (योनिम्) कारणभूत प्रकृति में (अनु) निरन्तर (संचरन्तम्) विचरते हुए (द्रप्सम्) आनन्दरस को मैं (अनु) निरन्तर (सप्त होत्राः अनु) छान्दोमयी वेदवाणियों के अनुसार (जुहोमि) निज आत्मस्वरूप में आहुत करता हूं।

[होत्रा=वाङ्नाम (निघं० १।११)। द्रप्सः=drops आनन्दरस के बिन्दु। अभिप्राय यह है कि शरीर इन्द्रियों मन तथा अन्य प्राकृतिक पदार्थों में जो आनन्दमात्रा अनुभूत होती है, वह उन पदार्थों में विद्यमान परमेश्वरीय आनन्दरस की मात्रा के कारण है।]

२२३. शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम्।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥२९॥

(नृचक्षसः) नर-नारियों के उपकार में दृष्टिवाले (ते) वे योगीजन (शतधारम्) सैंकड़ों अङ्गोंपाङ्गों तथा नस-नाड़ियों के धारण-पोषण करनेवाली (वायुम्) प्राणवायु को, तथा (स्वर्विदम्) मस्तिष्करूपी द्युलोक में विद्यमान (अर्कम्) सहस्रारचक्ररूपी सूर्य को (रयिम्) वास्तविक सम्पत्ति (अभिचक्षते) कहते हैं। (ये) जो योगीजन (सर्वदा) सदा (पृणन्ति) प्रजा का पालन करते (च) और (प्र यच्छन्ति) इस अध्यात्मविद्या को प्रदान करते हैं, (ते) वे (सप्तमातरम्) सात लोकों की माता परमेश्वर को (दक्षिणाम्) दक्षिणारूप में (दोहते) दोह लेते हैं।

[स्वः=द्यौः=**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्** (अथर्व० १०।७।३२), अतः स्वः=मूर्धा, मस्तिष्क। अर्कम्=सहस्रारचक्र, सूर्यसदृश प्रकाश वाला है। उस के हजार अरे सूर्य की हजारों रश्मियों के सदृश हैं। सप्तमातरम्=सात लोक=भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। दक्षिणाम्=परोपकार तथा योगरूपी यज्ञ की दक्षिणा मिलती है—परमेश्वर का स्वरूप दर्शन।]

२२४. कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥३०॥

(कलशम्) प्रसुप्त आनन्दरस मात्रावाले, (चतुर्बिलम्) चार बिलों वाले (कोशम्) हृदय-कोश से, (स्वस्तये) कल्याण के लिये, योगीजन (दुहन्ति) आनन्दरस दोहते हैं। तथा (स्वस्तये) कल्याण के लिये, स्वाध्यायी जन (मधुमतीम्) मधुर ज्ञान-दुग्ध वाली (इडाम्) वेदवाणीरूप (धेनुम्) दुधार-गौ को (दुहन्ति) दोहते हैं। (अग्ने) हे ज्ञानाग्नि सम्पन्न मनुष्य ! तू (जनेषु) सब जनों के निमित्त (ऊर्जम्) बलदायक तथा प्राणदायक, ज्ञान-रस का (मदन्तीम्) स्तवन करनेवाली, तथा जनों की (परमे व्योमन्) परम रक्षा में विद्यमान (अदितिम्) अनश्वर वेदवाणी का (मा हिंसीः) परित्याग न कर[1]। [कोशम्=हृदय। यथा—

"अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः "कोशः" स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्यये "कोशे" त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अथर्व० १०।२।३१-३२॥

चतुर्बिलम्=हृदय के बाह्य-स्तर में चार बिलें हैं। एक बिल द्वारा शरीर के ऊपरी भाग का और अधोभाग का गन्दा खून हृदय में आता है। दूसरे बिल द्वारा हृदय का यह गन्दा खून फेफड़ों में जाकर शुद्ध होता है। तीसरे बिल द्वारा फेफड़ों का शुद्ध खून हृदय में आता है चौथे बिल द्वारा हृदय का शुद्ध खून शरीर में चक्कर काटता है। कलशम्=कलाः अस्मिन् शेरते मात्राः (निरुक्त ११।१।१२)। ये कलाएं या मात्राएं आनन्दमात्राएं हैं, जो कि हृदय में प्रसुप्त रहती हैं, जिन्हें योगी अनुभव करता है। इडाम्=इळा=वाक् (निघं० १।११)। अदितिम्=वाक् (निघं० १।११)। व्योमन्=वि+अव् (रक्षणे)+मनिन्+सप्तम्येकवचन। मन्त्र में योगिजनों, स्वाध्यायशीलों, और सामान्य जनों के कर्तव्यों का वर्णन हुआ है। योगिजन तो हृदय

१. मन्त्र में गौ का भी वर्णन प्रतीत होता है। कोश—गौ का मुहाना, लेवा udder। कलशम्=जिसमें दुग्धमात्रा शयन करती है। चतुर्बिलम्=चार स्तन। मधुमतीम्=मधुर दुग्धवाली। मदन्तीम्=प्रसन्न तथा चारे द्वारा तृप्त। अदितिम्=अखण्डनीया, अवध्या। हिंसीः=हिंसा करना। ऊर्जम्=बलदायक दुग्ध। इडा=इळा=गौ (निघं० २।११); अदिति=गौ (निघं०२।११)=अवध्या गौ।

में ध्यानावस्थित हो कर आनन्दमात्रा का आस्वादन करते; स्वाध्यायशील यज्ञिय कर्मों और देवताओं के स्वरूपों का तथा अध्यात्मतत्वों का ज्ञान-लाभ करते; तथा सामान्यजन भी वेदोपदेशों के श्रवण द्वारा बलशाली और प्राणप्रद ज्ञानरस का आस्वादन करते हैं। स्वाध्याय का फल निरुक्तकार के शब्दों में निम्नलिखित है—"**याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा**" (१।६।२०)।]

२२५. एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥३१॥

हे सद्गृहस्थ! (सविता) प्रेरणाएं देने वाला (देवः) दिव्यगुणी राजा (ते) तेरे लिये (एतत्) यह (वासः) वस्त्र (भर्तवे) धारणार्थ (ददाति) देता है। (**यमस्य** राज्ये) नियामक राजा के राज्य में (त्वम्) तू (तत्) उस वस्त्र को (वसानः) पहिनता हुआ (तार्प्यम्) तृप्ति तथा पुष्टि करने वाले अन्न का (चर) भक्षण किया कर, सेवन किया कर।

[राष्ट्र के नियम राजा निश्चित करता है। वस्त्र आदि का यथोचित प्रबन्ध करना भी राजा का कर्तव्य है। वस्त्र ऐसे होने चाहियें, जो कि भद्रजनोचित हों। अधिक चमकीले तथा आडम्बर वाले वस्त्र न पहनने चाहियें। तभी वेद में वासः का विशेषण है—"भद्रम्"। यथा "**सूर्याया भद्रमिद् वासः**" (अथर्व० १४।१।७)। चर=भक्षणे।]

२२६. धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥३२॥

(यमस्य राज्ये) नियामक राजा के राज्य में (धानाः) धानें (अभवत्) होती हैं, (धेनुः अभवत्) दुधार गौएं होती हैं। (अस्याः) इन गौओं के (वत्सः) बछड़े होते हैं, और (तिलः) तिल (अभवत्) होते हैं। (वै) निश्चय से (ताम्) उस धाना तिल और गौ के आश्रय,—जो धाना तिल और गौ (अक्षिताम्) क्षीण नहीं होने पाते, जिनकी मात्रा तथा संख्या कम नहीं होने पाती,—(जीवति) प्रजाजन जीवित रहता है।

[धेनु वत्स और तिल में जात्येकवचन है। इसी दृष्टि से "अभवत्" में भी एकवचन प्रयुक्त हुआ है। मन्त्र में धाना को गो रूप, तथा तिल को

वत्सरूप मानकर अर्थ किया जाता है। इस दृष्टि में अभिप्राय यह है कि जैसे वछड़े के होते गौ पुष्टिकर दूध देती है, वैसे तिलों के साथ धाना का सेवन करने से धाना पुष्टि देती हैं। "धाना:" पद नित्यबहुवचनान्त होता है। जैसे ओषधियों के अनुपान, ओषधियों के गुणों के अभिव्यञ्जक होते हैं, वैसे धाना के अनुखाद्य अर्थात् तिल, धाना के गुणों के अभिव्यञ्जक हैं।]

२२७. एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥३३॥

(असौ) ओ सद्गृहस्थ ! (एता:) ये (धेनव:) दुधार गौएं (ते) तेरे लिये (कामदुघा:) कामना-कामना पर दूध देने वाली (भवन्तु) हों। (एनी:) चितकबरी, (श्येनी:) सुफेद, (सरूपा:) एक रंगवाली नाना, तथा (विरूपा:) विभिन्न-विभिन्न रूपों वाली नाना, (तिलवत्सा:) नवजात छोटे-छोटे बछड़ों वाली वे गौएं (त्वा) तुझे (अत्र) यहां=इस गृहस्थ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित हों।

[तिलवत्सा:=जैसे धाना और तिल का पारिमाणिक सम्बन्ध है, वैसे गौओं के साथ पारिमाणिक सम्बन्ध वाले बछड़े। इस दृष्टि से बछड़ों को "तिल" परिमाण का कहा है। बछड़े जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, वैसे-वैसे गौओं का दूध भी कम होता जाता है। बछड़ों की तिलावस्था में गौओं में दूध की मात्रा अधिक होती है। अत्र=यहां, न कि वहां। ह्विटनी ने परलोक की भावना को सिद्ध करने के लिये "अत्र" का अर्थ किया है "There" अर्थात् वहां। तिलवत्सा:=अथवा सम्भवत: वे बछड़े उत्तम नसल के होते हों, जिन के कि मस्तक पर तिल का सा चिह्न हो।]

२२८. एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥३४॥

(एनी:) चितकबरी, (धाना:) दूध घी आदि द्वारा धारण-पोषण करने वाली, (हरिणी:) क्षुधाहारिणी या हिरनी के समान लघुकाय, (श्येनी:) श्यामवर्ण वाली या सुफैद, श्वेत, (कृष्णा:) काले वर्ण वाली, (धाना:) सदा दूध, घी आदि द्वारा धारण-पोषण करने वाली, (रोहिणी:)

लाल वर्ण वाली (धेनवः) दुधार गौएं (अस्य ते सन्तु) हे सद्‌गृहस्थ ! तेरी हों। (तिलवत्साः) नवजात बछड़ों वाली ये गौएं (अनपस्फुरन्तीः) अविचल खड़ी रह कर (विश्वाहा) सब दिन अर्थात् सदा (अस्मै) इस सद्‌गृहस्थ के लिये (ऊर्जम्) बलप्रद तथा प्राणप्रद दुग्धरस (दुहानाः सन्तु) देती रहें। [श्येनीः=श्वेताः। धानाः=दधतीति=धानाः, तिलवत्साः= देखो—मन्त्र २२८-२२९।]

२२९. वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥३५॥

(साहस्रम्) हजारों का पालन-पोषण करने वाले, (शतधारम्) सैंकड़ों दुग्धधाराओं वाले, (उत्सम्) दुग्ध के कूपरूप (इदम्) इस गोधन को, (वैश्वानरे) सब नरनारियों के हितैषी परमेश्वर के प्रसादन के निमित्त, मैं (हविः) हविरूप में (जुहोमि) समर्पित करता हूं। क्योंकि (सः) वही वैश्वानर (पिन्वमानः) प्रसन्न हो कर (पितरं पितामहान्) मेरे पिता और पितामहों का (बिभर्ति) भरण-पोषण करता है, और (प्रपितामहान्) प्रपितामहें का (बिभर्ति) भरण-पोषण करता है।

[साहस्रम्=एक एक गौ हजारों का पालन-पोषण किस प्रकार करती है, इस के लिये देखो—"गोकरुणानिधि" (दयानन्द)। जो परमेश्वर मेरे वनस्थ तथा संन्यस्त पिता आदि का, तथा विश्व का पालन-पोषण करता है, उसी के प्रसादन के निमित्त गोधन को समर्पित कर, तद् द्वारा सब का पालन दूध, घृत, दधि, लस्सी आदि से करना चाहिये। उत्सः=कूपः (निघं० ३।२३)। पिन्वमानः=पिवि सेचने। दुग्धाहुतियों द्वारा सिंचित होकर प्रसन्न हुआ परमेश्वर।]

२३०. सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥३६॥

(सहस्रधारम्) हजारों का धारण-पोषण करने वाले, (शतधारम्) सैंकड़ों दुग्धधाराओं वाले, (उत्सम्) दुग्ध के कूपभूत, (अक्षितम्) दूध से क्षीण न होने वाले, (सलिलस्य) जल वाले (पृष्ठे) भूपृष्ठ पर (व्यच्यमानम्) विचरने वाले, (अनपस्फुरन्तम्) अविचल खड़े रह कर (ऊर्जम्) बलदायक

और प्राणप्रदायक दुग्धरस (दुहानम्) देने वाले गोसमूह के (उप) समीप (आसते) निवास करते हैं (पितरः) गृहस्थी माता-पिता; (स्वधाभिः) दुग्ध और दुग्धजन्य अन्नों के कारण।

[सलिलस्य पृष्ठे=सलिलस्य सम्बन्धिनि पृष्ठे=जल और जलीय प्रदेश में सुलभ हरे घास के कारण। यथा "**अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः**" (ऋ० ९।१०७।९), अर्थात् जलप्राय प्रदेश में गोस्वामी जब गौओं के साथ निवास करता है, तब सोम अर्थात् दूध गौओं से स्रवित होता है। इस प्रकार जलीय प्रदेश और गौओं का परस्पर सम्बन्ध है।]

143867

(५)

२३१. इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत ।
मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥३७॥

(इदम्) यह (कसाम्बु) कसाम्बु (चयनेन) ईंटों के चयन द्वारा (चितम्) चिना गया है, अर्थात् इस पर ईंटों द्वारा पक्का घाट बना दिया गया है। (सजाताः) हे सम्बन्धियो! (तत्) उस घाट को (अव पश्यत) देखो (एत) आओ। (अयम्) यह (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (अमृतत्वम्) मोक्ष की ओर (एति) आता है, (तस्मै) उसके लिये (गृहान् कृणुत) नए घरों वा कमरों का निर्माण करो, (यावत्सबन्धु) सभी बन्धु मिलकर।

[मन्त्र में उस सद्गृहस्थ का वर्णन है, जो कि जन्म-मरण की शृङ्खला से अपने आप को छुड़ाने के लिये संन्यासी या वानप्रस्थी बन कर मोक्षमार्ग का अवलम्बन करता है। उसके लिये सभी बन्धु मिलकर नए आश्रम के लिये यथोचित निवास के निमित्त नए कमरे बनाएं। साथ ही पानी के प्रबन्ध के लिये "कसाम्बु" पर ईंटों का घाट भी बना दें। कसाम्बु=कस (गतौ)+अम्बु (जल) अर्थात् नदी का चलता जल। या कस (कासार=तलाब)+अम्बु (जल) अर्थात् तालाब बनवाकर उसमें जल का प्रबन्ध, और उस पर ईंटों का घाट। अथवा कस=कसी (कइयां) उन के द्वारा कूप खोद कर जल निकालना और कूप को ईंटों द्वारा चिन देना। कस=कसीभिः यथा "**यः शम्बरं पर्यतरत् कसीभिः**" (अथर्व० २०।३४।१२)। शम्बर=उदक (निघं० १।१२) अर्थात् कसियों द्वारा खोद कर जल निकालना।]

२३२. इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः।
इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥३८॥

हे मोक्षाभिलाषिन्! [मन्त्र २३१] तू (इह एव) इस नए आश्रम में ही (एधि) आध्यात्मिक-वृद्धि में बढ़, और (धनसनिः) सच्चे आध्यात्मिकधन का भागी बन। (इहचित्तः) इस आश्रम में चित्त को लगा। (इहक्रतुः) इस आश्रम-सम्बन्धी कर्मों को कर, और तदनुकूल अपनी प्रज्ञा और संकल्पों को कर। (इह) आश्रम में (वीर्यवत्तरः) अधिकाधिक शक्तियां (एधि) प्राप्त कर। (वयोधाः) नवजीवन धारण कर, और (अपराजितः) सांसारिक प्रलोभनों द्वारा पराजित न हो। [धनसनिः= धन+सनिः (सन् संभक्तौ)। क्रतु=कर्म (निघं० २।१); प्रज्ञा (निघ० ३।९)।]

२३३. पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥३९॥

(पुत्रं पौत्रम्) पुत्र और पौत्र को (अभितर्पयन्तीः) तृप्त करते हुए (इमाः) ये (मधुमतीः) मधुर (आपः) जल [२३१], (पितृभ्यः) माता-पिता के लिये, जो कि संन्यासी या वानप्रस्थ हो गए हैं, (स्वधाम्) आत्म-धारण-पोषण करनेवाला अन्न, तथा (अमृतम्) मोक्ष (दुहानाः) प्रदान करते हुए (आपः देवीः) ये दिव्य जल (उभयान्) दोनों को—अर्थात् पितरों तथा आनेवाले पुत्र पौत्रों को (तर्पयन्तु) तृप्त करते रहें।

[अभिप्राय यह कि आश्रम के शुद्ध पवित्र जल द्वारा आश्रमोचित शुद्ध स्वधा=अन्न उपजे, और आश्रम-वासी अन्न और जल की दृष्टि से निश्चिन्त होकर, योगाभ्यास द्वारा मोक्ष का लाभ करें। तथा उनके पदानुगामी होकर उनके पुत्र-पौत्र भी इन आश्रमों में आकर मोक्षमार्गी हो सकें।]

२३४. आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान् ॥४०॥

(आपः) हे आश्रम के दिव्य जलो! तुम (पितॄन् उप) आश्रमवासी पितरों के प्रति (अग्निम्) उत्साहरूपी अग्नि को (प्र हिणुत) प्रेरित तथा

प्रवृद्ध करो, ताकि (मे) मेरे (पितरः) पिता आदि (इमं यज्ञम्) इस उपासना तथा ध्यान के यज्ञ का (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करें। (ये) जो हमारे पितर (आसीनाम्) संग्रह किये हुए, Store किये हुए (ऊर्जम्) बलदायक और प्राणदायक अन्न के (उप सचन्ते) संगी होते हैं, (ते) वे (नः) हमें (रयिम्) ऐसी सदुपदेश-सम्पत्ति (नियच्छान्) प्रदान करें, जिस से हमारी सन्तानें (सर्ववीरम्) सब प्रकार से धर्मवीर तथा कर्त्तव्यशूर बनें। [आसीनाम्=स्थिर अर्थात् संगृहीत की गई ऊर्ज्। ऊर्ज् या ऊर्क्= अन्न (निघं० २।७)। जल और अन्न की चिन्ता के अभाव से आश्रमवासी निज यज्ञकर्म में उत्साहपूर्वक लगे रहते हैं।]

२३५. समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान्निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥४१॥

संन्यासी तथा वानप्रस्थी (अमर्त्यम्) अमर अविनाशी, (हव्यवाहम्) भक्तिरसरूपी हवि को स्वीकार करनेवाले, (घृतप्रियम्) वीर्यवान् ऊर्ध्वरेता को चाहनेवाले परमेश्वराग्नि को (समिन्धते) हृदयों में संदीप्त करते हैं, प्रकट करते हैं। (सः) वह परमेश्वर (निहितान् निधीन्) मनुष्यों में निहित अर्थात् छिपी हुई योगजन्य विभूतियों को (वेद) जानता है। और उन (पितॄन्) पितरों को भी जानता है, पहिचानता है, जो कि गृहस्थ-जीवन त्याग कर (परावतः गतान्) दूर परे चले गए हैं।

[मन्त्र में अग्नि का विशेषण है "अमर्त्य"। प्राकृतिक अग्नि मर्त्य है, विनाशी है। परमेश्वराग्नि अमर्त्य है, अमर है, अविनाशी है। साथ ही "वेद" पद द्वारा अग्नि को ज्ञानी कहा है। प्राकृतिक अग्नि ज्ञानी नहीं। परमेश्वर ही जानता है कि किस मनुष्य में कौन-कौन सी योगजन्य विभूतियां निहित हैं। इसलिये इन विभूतियों की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये। घृतप्रियम्, घृत=रेतः=वीर्य। यथा—"रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्" (अथर्व० ११।८।२९)। ब्रह्मचर्य मोक्ष तथा परमेश्वर की प्राप्ति में साधन है। "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (योग १।२०) तथा अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः" (योग २।३०)।]

२३६. यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥४२॥

हे पितृवर्ग ! (ते ते) आप में से प्रत्येक के प्रति (यम् मन्थम्) जिस मठे को, (यम् ओदनम्) जिस ओदन को, (यन्मांसम्) जिस फल के गुद्दे को आप का पुत्र (निपृणामि) मैं आप के पालनार्थ भेंट करता हूं, (ते) वे सब भेटें (ते) आप के (स्वधावन्तः) धारण-पोषण करनेवाली सात्विक हों, (मधुमन्तः) मधुर हों, तथा (घृतश्चुतः) घृतपूर्ण हों।

[मन्थ मधुर हो, ओदन घृतपूर्ण हो, फल स्वधारूप हों । मांसम्= The fleshy part of a fruit (आपटे) । वेदों में यत्र-तत्र पश्वादि के मांस के भक्षण का निषेध है । मांस—देखो मन्त्र (२१४) ।]

२३७. यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥४३॥

हे वानप्रस्थी पिता आदि ! (ते) आप के लिये (तिलमिश्राः) तिलमिश्रित, (स्वधावतीः) तथा धारण-पोषण करनेवाले, (याः) जिन (धानाः) भुने जौ आदि के कारणभूत बीजों को (अनु) ऋत्वनुसार (किरामि) मैं खेतों में फैंकता हूं, बोता हूं, (ते) आपके लिये (ताः) वे बीज (उद्भ्वीः) उद्भूत अर्थात् अंकुरित हों, (प्रभ्वीः) प्रभूतमात्रा में हों। (ते) आपके उपभोग के लिये (ताः) उन उपजों की (यमः) राष्ट्रनियन्ता (राजा) राजा (अनुमन्यताम्) अनुमति दे, स्वीकृति प्रदान करे।

[गृहस्थ पुरुषों का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे पितरों की भूमियों तथा वनों में ऋत्वनुसार बीज बोकर, और खेतियां काट कर पितरों की सेवा किया करें। अनुमन्यताम्=राजा उपज का नियतांश कर रूप में लेता है, परन्तु वैदिक प्रथानुसार विना कर लिये विरक्तों को उन की उपज के उपभोग के लिये राजनियम अनुमति प्रदान करे।]

२३८. इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥४४॥

(पूर्वम्) पूर्व अर्थात् अनादि काल का और (अपरम्) इस वर्तमान काल का (इदम्) यह (नियानम्) नियत मार्ग है, (येन) जिस नियत मार्ग से (ते) तेरे (पूर्वे पितरः) पूर्वपुरुष (परेताः) गृहस्थ जीवन परित्याग कर, परे के आश्रमों में जाते रहे हैं। (ये) जो (अस्य) इस नियत मार्ग के

(पुरोगवाः) अग्रणी हैं, नेता हैं, वे (अभिशाचः) इस नियत मार्ग के साक्षात् प्रवक्ता हैं। (ते) वे (त्वा) हे सद्गृहस्थ! तुझे, सदुपदेश देकर (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोकम्) आश्रम में (वहन्ति) ले जाते हैं।

[परेताः=परा+इताः (गताः)। पुरोगवाः=अग्रगामिनः। अभिशाचः=अभि+शच् व्यक्तायां वाचि।]

२३९. सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥४५॥

(देवयन्तः) देवाधिदेवपरमेश्वर की कामना वाले (सरस्वतीम्) ज्ञानमयी तथा सरसहृदया जगन्माता का (हवन्ते) सहायतार्थ आह्वान करते हैं। (अध्वरे) हिंसारहित उपासनायज्ञ (तायमाने) रचाए जाने पर, उपासक सहायतार्थ (सरस्वतीम्) ज्ञानमयी तथा सरसहृदया जगन्माता का (हवन्ते) आह्वान करते हैं। (सुकृतः) परोपकार आदि उत्तम-कर्मों के करनेवाले (सरस्वतीम्) ज्ञानमयी तथा सरसहृदया जगन्माता का (हवन्ते) सहायतार्थ आह्वान करते हैं। (दाशुषे) दानी तथा आत्मसमर्पण करनेवाले के लिये (सरस्वती) ज्ञानमयी तथा सरसहृदया जगन्माता (वार्यम्) उसके अभीष्टों को (दात्) देती है, पूर्ण करती है।

[अभिप्राय यह है कि अभीष्टों की सिद्धि के लिये परमेश्वर के मातृरूप का आवाहन करना चाहिये। सरस्=विज्ञानम् (उणा० ४।१९०), दयानन्द-भाष्य।]

२४०. सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥४६॥

(पितरः) गृहस्थी-माता-पिता (दक्षिणायज्ञम्) दक्षिणा वाले यज्ञों को (अभिनक्षमाणाः) रचाते हुए, (सरस्वतीम्) ज्ञानमयी तथा सरसहृदया जगन्माता का, सहायतार्थ (हवन्ते) आह्वान करते हैं। हे गृहस्थ पितरो! (अस्मिन्) इस यज्ञ में (बर्हिषि) कुशासन पर (आसद्य) बैठ कर (माद-

यध्वम्) हम सब को आप हर्षित कीजिये । और (अनमीवाः) रोगरहित (इषः) अन्न (अस्मे) हमें (आधेहि) प्रदान कीजिये ।

[दक्षिणायज्ञम्=गृहस्थी को ५ महायज्ञ करने होते हैं । इनमें ऋत्विजों की आवश्यकता नहीं होती । ये महायज्ञ गृहस्थी को स्वयं करने होते हैं । इन महायज्ञों के साथ दक्षिणा का कोई सम्बन्ध नहीं । इन महायज्ञों के अतिरिक्त और भी नाना यज्ञ हैं, जिन में ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है, और इनमें ऋत्विजों को दक्षिणाएं देनी होती हैं । ये यज्ञ प्रजा के मानसिक आदि स्वास्थ्य और अन्न को गुणकारी और रोगरहित करने के लिये किये जाते हैं । इन यज्ञों में कुशासनों पर बैठने का विधान है । अथवा "**दक्षिणाः यज्ञम्**"=यज्ञ रचाते हुए और दक्षिणाएं देते हुए ।]

२४१. सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥४७॥

(सरस्वति) हे ज्ञानमयि, सरसहृदये, जगन्मातः ! (या) जो आप (सरथम्) जीवात्मा के साथ एक हृदयरथ में, या शरीररथ में आरूढ़ हुई (ययाथ) सक्रिय हुई हैं, और (उक्थैः) वैदिक सूक्तों द्वारा सदुपदेश दे कर (स्वधाभिः) तथा आत्म-धारण-पोषण योग्य सात्विक अन्न देकर, तथा (पितृभिः) रक्षा तथा पालन करनेवाले माता-पिता आदि सम्बन्धी देकर (मदन्ती) हमें आनन्दित तथा मुदित-प्रमुदित कर रही हैं, वह आप (अत्र) इस हमारे पार्थिव जीवन में (यजमानाय) प्रत्येक यजन-कर्त्ता के लिये (इडः) वैदिक स्तुतियों में कथित (सहस्रार्घम्) महामूल्य तथा (भागम्) सेवनीय (रायस्पोषम्) सांसारिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति की परिपुष्टि (धेहि) प्रदान करें ।

[जगन्माता प्रत्येक के हृदय में तथा शरीर में बसी हुई उसके शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सक्रिय कर रही है । श्वास-प्रश्वास, हृदय की गति, पाचनक्रिया आदि परमेश्वररूप जगन्माता द्वारा संचालित हो रहे हैं । यह तब तक ही जब तक कि जीवात्मा इस शरीर के साथ कर्मों द्वारा बन्धा हुआ है । महामूल्य सांसारिक सम्पत्ति=स्वास्थ्य, जीवन की पवित्रता, यश, तेज, सद्बुद्धि, प्रज्ञा आदि । भागम्=भज सेवायाम् ।]

(६)

२४२. पृथिवीं त्वां पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥४८॥

हे मृत मनुष्य ! (पृथिवीं त्वा) पृथिवीरूप तुझको, मैं पुरोहित (पृथिव्याम्) पृथिवी में (आ वेशयामि) पूर्णतया प्रविष्ट करता हूं। (धाता) धारण-पोषणकर्त्ता (देवः) परमेश्वर देव (नः) हमारी (आयुः) आयु (प्रतिराति) बढ़ाए। (परापरैता) परे से परे पहुंचा हुआ सर्वव्यापक परमेश्वर (वः) तुम सब को (वसुविद्) आयु आदि श्रेष्ठ सम्पत्तियां प्राप्त करानेवाला (अस्तु) हो। (अधा) और (मृताः) शरीरत्याग किये हुए जीवात्मा (पितृषु) माता-पितादि सम्बन्धियों में (संभवन्तु) पुनः जन्म-धारण करें।

[श्मशान भूमि में अन्त्येष्टि पर पुरोहित कहता है कि मृत-मनुष्य का शरीर मिट्टी रूप था। अन्त्येष्टि संस्कार द्वारा मृण्मय शरीर को मृद् अर्थात् मिट्टी में मैं पुनः प्रविष्ट करता है। अथर्ववेद में कहा है कि "पृथिवी शरीरम्" (५।९।७) अर्थात् शरीर पृथिवीमय है, मिट्टीरूप है। "Dust thou art to dust reternth."। श्मशान तक गए सम्बन्धियों के लिये पुरोहित कहता है कि परमेश्वर हमारी आयुओं को बढ़ाए, और सर्वव्यापक परमेश्वर अन्य सब को भी आयु आदि श्रेष्ठ सम्पत्तियां प्रदान करे। तथा मृत व्यक्तियों के जीवात्मा को पुनर्जन्म देकर नए माता-पिता आदि सम्बन्धियों के दर्शन कराए। परापरैता=परा+परा+आ+इ+तृ। संभवन्तु=सम्+भू (भव=शरीरजन्म)। यथाः—"भवप्रत्ययो विदेह-प्रकृतिलयानाम्" (योग० १।१९) में भव=उत्पत्तिः। तथा भव= Birth (आपटे)।]

२४३. आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥४९॥

(आ प्र च्यवेथाम्) श्मशानभूमि में स्थित हे स्त्री-पुरुषो ! (तत्) उस पापकर्म को पूर्णतया छोड़ दो, उसे (अप मृजेथाम्) मार्जनविधि द्वारा हटा दो, (यद्) जिस पापकर्म के सम्बन्ध में (अभिभाः) साक्षात् प्रतिभा

वाले आचार्यों ने (वाम्) तुम्हारे लिये (अत्र) इस श्मशानभूमि में (ऊचुः) प्रवचन किया है। (अस्मात्) इस कारण (अघ्न्यौ) तुम मृत्यु से बचे रहकर (तद्) उस (वशीयः) अधिक अभीष्ट पुण्यमार्ग की ओर (एतम्) आओ। (पितृषु) पितरों के बीच में (दातुः) सदुपदेश देनेवाले (मम) मुझ पुरोहित के तुम (इहभोजनौ) इस जीवन में पालक बनो।

[अघ्न्यौ=अ+हन्=अहन्तव्यौ। वशीयः=वश कान्तौ (ईयसुन)=काम्य, अभीष्ट। भोजनौ=भुज् पालने+युच् (कर्तरि)=भोजयितारौ स्त्रीपुरुषौ। श्मशानभूमि में दिये उपदेश का वर्णन हुआ है।]

२४४. एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपराणयादिमान् ॥५०॥

पुरोहित कहता है कि (नः) हमें अर्थात् मुझे (भद्रतः) मृतव्यक्ति के भद्र सम्बन्धी से (इयम्) यह (दक्षिणा) अन्त्येष्टि संस्कार की दक्षिणा (अगन्) प्राप्त हुई है। (अनेन) इस भद्र सम्बन्धी द्वारा (दत्ता) दी गई दक्षिणा (सुदुघा) उत्तम फल वाली है, और (वयोधाः) आयु तथा अन्न प्रदान करनेवाली है। जब (यौवने) युवाकाल में (जीवान्) जीवितों के साथ (जरा) बुढ़ापा अर्थात् आलस्य निष्क्रियता आदि (उपपृञ्चती) गहरा सम्पर्क कर लेते हैं, तब बुढ़ापा (इमान्) इन जीवितों को (पितृभ्यः) जीवित पितरों से पृथक् कर (उप संपराणयात्) मृत्यु के समीप शीघ्र ले जाता है।

[उप संपराणयात्=उप (समीप)+सम+परा+नयात्। वयः=अन्न (निघं० २।७); आयु (प्रसिद्ध)। **"न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्"** (कठ० उप० अ० १, वल्ली २, खं० ६)।

अथवा—जब यौवनकाल में जीवितों के साथ (जरा) स्तुति वा भक्ति गहरा सम्पर्क कर लेती है, तब स्तुति वा भक्ति इन जीवितों को वनस्थ तथा संन्यस्त पितरों के प्रति, उनके समीप शीघ्र अगले आश्रमों में पहुंचा देती है। यथा—**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद् वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्"** (जाबालोपनिषद्)। जरा=स्तुति; यथा जरति जरते=अर्चतिकर्मा (निघं० ३।१४); जरिता=स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)। तथा **"वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे"** (अथर्व० २०।२३।७) जरामहे=स्तुमः।]

२४५. इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्यः उत्तरं स्तृणामि ।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।।५१।।

(जीवं=जीवन्) जीवित मैं (पितृभ्यः) पितरों के लिए (इदम्) यह (बर्हिः) कुशासन (प्रभरामि) लाता हूं, और (स्तृणामि) बिछाता हूं। परन्तु (देवेभ्यः) दिव्यकोटि के पितरों के लिये (उत्तरम्) अधिक उत्कृष्ट आसन लाता और बिछाता हूं। (पुरुष) हे आश्रम परिवर्तन करनेवाले दिव्य सद्गृहस्थ ! तू (मेध्यः) वानप्रस्थ-निमित्तक यज्ञ करने के योग्य (भवन्) होता हुआ (तद्) उस ऊंचे कुशासन पर (आ रोह) आरूढ़ हो। ताकि (परेतम्) अगले आश्रम में आए हुए (त्वाम्) तुझ को (पितरः) ये उपस्थित पितर (प्रति जानन्तु) जान लें, और अपने आश्रम में आने की स्वीकृति दे दें।

[आसन बिछाए जाते हैं, बैठने के लिये। सूक्ष्म शरीरों वाले मृत-पितरों के लिये आसनों की आवश्यकता नहीं होती। तथा मृत-पितरों के सूक्ष्म शरीर तथा जीवात्मा न जाने किस-किस योनि में तथा किस-किस शरीर में निवास कर रहे हैं। अतः गृहस्थी के घर में उनका आना भी सम्भव नहीं। साथ ही पितरों को दो भागों में बांटा है, साधारण पितर तथा देव पितर। सद्गृहस्थ जब आश्रम परिवर्तन करना चाहता है, तो वह वानप्रस्थी तथा संन्यस्त पितरों को इस संस्कार में पधारने के लिये निमन्त्रित कर उन्हें यथायोग्य आसन प्रदान करता है। और वे इस सद्गृहस्थ का संस्कार कर, अपने आश्रमों में आने की स्वीकृति इसे देते हैं।]

२४६. एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।
यथापरु तन्वं१ सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ।।५२।।

हे आश्रम परिवर्तन करनेवाले सद्गृहस्थ ! तू (इदम्) इस (बर्हिः) कुशासन पर (असदः) बैठा है। और (मेध्यः) यज्ञाधिकारी तथा पवित्र (अभूः) हो गया है। (परेतम्) परले आश्रम में आए हुए (त्वा) तुझ को (पितरः) आश्रमवासी पितर (प्रति जानन्तु) जान लें, और आश्रम में प्रवेश की स्वीकृति प्रदान करें। हे आश्रम परिवर्तन करनेवाले ! (यथा-परु) प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग की दृष्टि से (तन्वम्) अपने शरीर को, नए आश्रम में जाकर (संभरस्व) सम्यक् प्रकार से परिपुष्ट करते रहना। हे नवाश्रम-

वासिन् ! (ब्रह्मणा) मन्त्रोक्त विधियों द्वारा मैं (ते) तेरे (गात्राणि) अङ्गों-प्रत्यङ्गों को (कल्पयामि) सामर्थ्ययुक्त करता हूं।

[मन्त्र में पुरोहित की उक्तियां हैं। वनस्थ या संन्यस्त हो जाने पर शरीर को अति तपश्चर्या द्वारा सुखाना न चाहिये। अपितु शरीर के प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग की दृष्टि से शरीर का भरण-पोषण करना चाहिये, ताकि आश्रम के कर्त्तव्यों का पालन हो सके।]

२४७. पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥५३॥

(राजा) राष्ट्र का राजा (पर्णः) प्रजा की पालना करता, और उसे सुख-सामग्री द्वारा परिपूर्ण करता है। वह (चरूणाम्) खान-पान की सामग्री का (पिधानम्) भी निधान है, निधिरूप है। उसके कारण (नः) हम आश्रमवासियों को (ऊर्जः) अन्न (बलम्) बल (सहः) साहस और (ओजः) ओज (आगन्) प्राप्त हुआ है। वह राजा (जीवेभ्यः) राष्ट्र के जीवित सब प्राणियों के लिये (आयुः) अन्न का (विदधत्) विधान करता हुआ (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु और (शतशारदाय) १०० वर्षों की औसतन आयु का विधान करता है।

[पर्णः=पॄ पालनपूरणयोः। पिधानम्=अपि+धानम् (निधानम्, निधिः); A place where anything is placed, a receptacle, reservoir, store (आपटे)। ऊर्जः=ऊर्क्=अन्न (निघं० २।७)। आयुः =अन्न (निघं० २।७)। पर्णः=पिपर्ति पालयति पूरयति वा (उणा० ३।६) दयानन्द-भाष्य।]

२४८. ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥५४॥

वस्तुतः (ऊर्जः) अन्न का (भागः) यथोचित विभाग करनेवाला वह है, (यः) जिसने कि (इमम्) इस प्राणिवर्ग को (जजान) पैदा किया है। वह (अश्मा) मेघ के सदृश-व्यापक परमेश्वर (अन्नानाम्) अन्नों के (आधिपत्यं जगाम) आधिपत्य को प्राप्त किये हुए है। (विश्वमित्राः) हे सब भूतों के साथ मैत्री वालो! (हविर्भिः) अन्न-प्रदान द्वारा (तम्) उस अन्नाधिपति

की (अर्चत) अर्चनाएं=स्तुतियां किया करो। (सः यमः) वह नियामक परमेश्वर (प्रतरं जीवसे) अधिक जीने के लिये (नः) हमारा (धात्) धारण-पोषण करे।

[भागः=संभक्ता (सायण)। तथा—

"विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम्॥ यजु० ३०।४॥

"सुखों के निवास के हेतु, आश्चर्यस्वरूप धन का विभाग करनेहारे, सब के उत्पादक, सब मनुष्यों के—अन्तर्यामीस्वरूप से—सब कामों के देखनेहारे परमात्मा की हम लोग प्रशंसा करें" (दयानन्द-भाष्य)। तथा "रत्ना विभजासि" (अथर्व० १८।१।२६)=अर्थात् हे परमेश्वर! आप रमणीय पदार्थों का विभाग करनेवाले हैं, वांटने वाले हैं।

अश्मा=मेघ (निघं० १।१०); तथा अश्नुते व्याप्नोति=परमेश्वर। विश्वमित्राः=सब के मित्र, या सब प्राणी जिन के भिन्न बन गए हैं। हविर्भिः=हु दाने, देय अन्न। यमः=पौराणिक यम मृत्यु का अधिष्ठाता है, जीवनदाता और धारणपोषण का अधिष्ठाता नहीं।]

२४९. यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥५५॥

(यथा) जैसे (पञ्च मानवाः) पांच प्रकार के मनुष्य मिलकर (यमाय) यम-नियमों के परिपालक आचार्य के लिये (हर्म्यम्) निवासगृह का (अवपन्) निर्माण करते हैं, (एवा) वैसे इन सब के सहयोग द्वारा (मे) मैं अपने (हर्म्यम्) निवासगृह का (वपामि) निर्माण करता हूं, (यथा) ताकि मेरी (भूरयः) प्रभूत सन्तानें (असत) हों।

[पञ्च=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद। इनमें से कोई तो शुभाशीर्वाद द्वारा, कोई सुरक्षा प्रदान द्वारा, कोई धन की सहायता द्वारा, तथा कोई श्रमदान द्वारा गृह-निर्माण में सहायक होते हैं। अभिप्राय यह है कि ग्रामों और नगरों के बाहर सुरम्य स्थानों में ग्राम तथा नगर के वासियों को निवासगृह बनवाने चाहियें, जिन में कि वानप्रस्थी आचार्य=ग्रामों और नगरों के विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान कर सकें। ये निवासगृह ग्राम तथा नगरवासियों के सहोद्योगों द्वारा निर्मित होने चाहियें।

वैयक्तिक निवासगृहों के निर्माण के लिये भी सहोद्योग होना चाहिये, ताकि प्रत्येक परिवार को निवासगृह मिल सके ।]

२५०. इदं हिरण्यं बिभृहि यत् ते पिताबिभः पुरा ।

स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥५६॥

हे सद्गृहस्थ ! (हिरण्यम्) सुवर्णसदृश बहुमूल्य (इदम्) इस अन्न की (बिभृहि) परिपुष्टि कर। (ते) तेरे (पिता) पिता ने (पुरा) पहले (यत्) जिस अन्न की (अबिभः) परिपुष्टि की थी। (स्वर्गम्) "विशेष सुखभोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति" को लक्ष्य कर (यतः) जाते हुए (पितुः) पिता के (दक्षिणम्) कृषिकर्म में कौशल-सम्पन्न (हस्तम्) हाथ को (निर्मृड्ढि) परिमार्जित कर, निर्मल कर, यशस्वी कर।

[हिरण्यम्=अथर्व० ११।१।१—३७ में "ब्रह्मौदन" का वर्णन है । इस सूक्त का २८ वां मन्त्र हिरण्य के स्वरूप पर प्रकाश डालता है । यथा—

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा य एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ (११।१।२८)

अर्थात् "क्षेत्र से लाकर पकाया गया चावल मेरे लिये ज्योति है, अमृत है, हिरण्य है। यह मेरे लिये कामदुघा गौ है। इस धन को मैं ब्रह्म-वेत्ताओं को देता हूं, और उस मार्ग का अवलम्बन करता हूं, जो कि स्वर्गरूप है, और पितरों में जो स्थित है"। इस प्रकार पके ओदन को "हिरण्य" कहा गया है। ह्विटनी ने इसे Rice dish कहा है । इसी प्रकार अथर्व० १२।३।१-६० में "**स्वर्गौदन**" का वर्णन है। मन्त्र ५०वें का चतुर्थ पाद है— "**हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव**" । अर्थात् ओदन पकानेवाले के लिये, जब ओदन पक जाता है, तब वह पका ओदन ज्योतिर्मय हिरण्य हो जाता है। इस प्रकार २४७-२४९ के प्रकरण में पठित मन्त्र २५०वें के हिरण्य का अर्थ हिरण्यरूप अन्न, या हिरण्यसदृश बहुमूल्य अन्न उचित प्रतीत होता है। मन्त्र २४९ में सन्तानों का वर्णन हुआ है, तदर्थ अन्न का वर्णन २५० में किया है। बिभृहि अबिभः=भृ पोषणे। दक्षिणम्=प्रगतिकारक और वृद्धि-कारक (दक्ष गतिवृद्ध्योः)।दक्षिण=Able, Skilful, Deseterous (आपटे)। स्वर्गम्=स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, संख्या ४२, सत्यार्थप्रकाश, दयानन्द। यतः="नए आश्रम या परलोक" दोनों अभिप्राय सम्भव हैं। अधिक

सम्भावना नए आश्रम में जाने की है। इस सम्बन्ध में अगला मन्त्र विशेष प्रकाश डालता है।]

२५१. ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥५७॥

(ये च) जो (जीवाः) जीवित हैं, (ये च) और जो (मृताः) मर हैं, (ये) जो (जाताः) नवदीक्षित हुए हैं, (ये च) और जो पहिले से दीक्षित होकर हमारी पूजा और सत्कार के भाजन हैं, (तेभ्यः) उन सब पितरों के नाम (मधुधारा) मधुरधारा वाली, (व्युन्दती) और उन के खेतों तथा बागीचों को सींचती हुई (घृतस्य कुल्या) जल की छोटी नहर (एतु) प्रवाहित हो।

[गृहस्थों का कर्त्तव्य है कि वे वनस्थ तथा संन्यस्त आश्रमियों के लिये जल की व्यवस्था करें। जीवितों और मृतों के बन्धु-बान्धव मिलकर इस निमित्त श्रमदान तथा धनदान करें। घृतस्य=घृतम् उदकनाम (निघं० १।१२)। कुल्या=कुलेन कुलैर्वा निर्मिता ; A small canal;stream (आपटे)। जाताः=जैसे कि द्विज या द्विजन्मा में "जन्" धातु का प्रयोग है, उसी दृष्टि से "जाताः"में "जन्" का प्रयोग जानना चाहिये, अर्थात् नवदीक्षा द्वारा पुनः नवीन जन्म लिये हुये। प्रसिद्धार्थ में "जाता" का अर्थ "मातृगर्भ से नवजात" करना होगा। इस अर्थ में नवजात बच्चों को भी "पितर" कहना हास्यास्पद होगा।]

२५२. वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कुलशाँ अचिक्रदुदिन्द्रस्य हार्दिमाविशन् मनीषया ॥५८॥

(विचक्षणः) विविध जगत् का द्रष्टा परमेश्वर (मतीनाम्) वेदों द्वारा सत्यज्ञानों की (वृषा) वर्षा करता, और तद्-द्वारा (पवते) जीवनों को पवित्र करता है। वह (अह्नाम्) दिनों के निर्माता (सूरः) सूर्य के समान ज्योतिर्मय है,और प्रेरक है। वह(उषसां दिवः)उषाकालों और दिनों को (प्रतरीता) बढ़ाता है। (सिन्धूनाम्) रस-रक्त का स्यन्दन करनेवाली नस-नाड़ियों का (प्राणः) प्राणरूप है। वह (मनीषया) स्वेच्छया (इन्द्रस्य)

जीवात्मा के (हार्दिम्) हृदय के अन्तःस्थ प्रदेश में (आविशन्) प्रवेश करता हुआ, या निज सत्ता द्वारा उसे प्रभावित करता हुआ, (कलशान्) उस के पांचों कोशों में (अचिक्रदत्) अन्तर्नाद करता है, उन्हें गुञ्जा देता है।

[विचक्षणः=विचक्षते, अभिविपश्यन्ति (निरु० १२।३।२७)। सूरः=सूर्य, तथा प्रेरक। दिवः=दिन, सूर्य जो उषाकालों और दिनों को घटाता-बढ़ाता है, यह तन्निष्ठ परमेश्वरीय शक्ति द्वारा ही होता है। इन्द्रस्य=इन्द्र का अर्थ है—जीवात्मा। इसीलिये जीवात्मा की शक्तियों को "इन्द्रिय" कहते हैं।]

२८३. त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षञ्छुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥५९॥

हे परमेश्वर! आप का (धूमः) धूमल[1] (त्वेषः) प्रकाश (ऊर्णोतु) मुझे आच्छादित किये हुये है, घेरे हुये है। यह धूमल प्रकाश (शुक्रः सन्) शुभ्र होकर (दिवि) मेरे मस्तिष्क में, सहस्रार-चक्र में (आततः) अब फैल गया है। (त्वम्) आप अब (द्युता) द्युति द्वारा (हि) निश्चय से (सूरः न) सूर्य के सदृश हुये हैं। (पावक) हे पवित्र करनेवाले! (कृपा) आप निज सामर्थ्य के कारण (रोचसे) अत्यन्त रुचिर प्रतीत हो रहे हैं। [अभ्यासी को प्रारम्भ में परमेश्वर की ज्योति धूमल प्रतीत होती है। स्पष्ट स्वच्छरूप में प्रतीत नहीं होती। अभ्यासी ध्यान-प्रकर्ष द्वारा जब सहस्रार-चक्र में अवस्थित हो जाता है, तब उसे परमेश्वर का दिव्य शुभ्र प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ अनुभूत होने लगता है। वह प्रकाश सूर्य के प्रकाशवत् अत्यन्त निर्मल होता है। कृपा=कृप् सामर्थ्ये। वह दिव्य प्रकाश परमेश्वर का निज प्रकाश होता है, वह परतः-प्रकाश नहीं होता। दिवि=मूर्ध्नि। "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" (अथर्व० १०।७।३२); तथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" यजु० ३१।१३)।]

२८४. प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥६०॥

(इन्दुः)[1] चन्द्रसम शीतल प्रकाशवाला परमेश्वर (इन्द्रस्य) जीवात्मा

१. यथाः-नीहारधूमार्कानिलानलानाम्। खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि। ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥
(श्वेता० उप० २।११)॥

के (निष्कृतिम्) पवित्र हृदय में (वै) निश्चय से (प्र एति) आ प्रकट होता है। (सखा) परमेश्वर-सखा (सख्युः) जीवात्म-सखा के साथ की गई (संगिरः) प्रतिज्ञा का (न प्रमिनाति) भंग नहीं करता। (इव) जैसे (मर्यः) पति (योषाः) निज पत्नी के प्रति गमन करता है, वैसे (सोमः) सर्वोत्पादक आप (शतयामना) सैकड़ों उपमार्गोंवाले (पथा) पथों द्वारा (कलशे) उपासक के हृदय-घट या शरीर-घट में (समर्षसे) सम्यक्तया प्राप्त हो जाते हैं। [शतयामना=भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग, क्रियायोगमार्ग आदि उपमार्ग।]

(७)

२५७. अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥६१॥

पितरों ने (अक्षन्) भोजन कर लिया है, (अमीमदन्त) और तृप्त तथा प्रसन्न हुए हैं। (प्रियान्) और हम प्रिय गृहस्थों को सदुपदेश देकर (हि) निश्चय से (अव अधूषत) हमारे अज्ञानों और अवगुणों को झाड़ फैंका है। (स्वभानवः) निज सद्गुणों से प्रकाशमान, (विप्राः) विप्रों ने, मेधावियों ने (अस्तोषत) गृहस्थों के कर्त्तव्यकर्मों का स्तवन किया है, कथन किया है। (यविष्ठाः) हम युवा गृहस्थी (ईमहे) इनसे सदुपदेशों की याचना करते हैं।

[अक्षन्=अश भोजने। अमीमदन्त=मद तृप्तियोगे; मद हर्षे। विप्राः=मेधाविनः (निघ० ३।१५)। ईमहे=याञ्चाकर्मा (निघं० ३।१९) भोजन करना, तृप्त और प्रसन्न होना, तथा सदुपदेश देना, ये जीवित पितरों द्वारा ही सम्भव है, मृतों द्वारा नहीं। प्रियान्[1]=लक्ष्यीकृत्य।]

२५८. आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः ।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥६२॥

इस श्लोक में "धूम" और "अर्क" (सूर्य) मन्त्र २५३ के अभिप्राय पर प्रकाश डालते हैं। इन्दुः=शशी (श्वेता० २।११)।

१. अथवा इन "पितरों ने अपने प्रिय-सम्बन्धियों का परित्याग किया हुआ है", और ये अब सब के समानरूप में पितर हो गये हैं।

(पितरः) हे पितरो ! (पितृयाणैः) पितरों के निमित्त भेजे गये यानों अर्थात् रथों द्वारा, आप (गम्भीरैः) गहन और दुर्गम (पथिभिः) मार्गों से भी (आयात) आइये । आप (सोम्यासः) सोम्य अर्थात् मधुर स्वभाववाले हैं । (अस्मभ्यम्) हम गृहस्थों को (आयुः) श्रेष्ठ तथा दीर्घ आयु, (प्रजां च) और उत्तम सन्तानोत्पादन का उपदेश (दधतः) देते हुए, आप (रायः च पोषैः) हमारी परिपुष्ट सम्पत्तियों के कारण (नः) हमारे साथ (अभि) साक्षात् (सचध्वम्) सम्बन्ध बनाये रखिये । या अपनी परिपुष्ट आध्यात्मिक विभूतियों से हमें सम्पृक्त कीजिये ।

२५७. परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥६३॥

(सोम्यासः) हे सोम्य स्वभाव वाले, मधुर स्वभाव वाले (पितरः) पितरो ! (पूर्याणैः) नागरिक रथों द्वारा (गम्भीरैः) गहन और दुर्गम मार्गों से आप (परायात) अपने दूर-दूर के स्थानों में चले जाइये । (अधा) तदनन्तर (मासि) मास के पश्चात् (पुनः) फिर (नः गृहान्) हमारे घरों में (आ यात) आइये (हविः अत्तुम्) हविष्यान्नों को खाने के लिये । आप के सदुपदेशों द्वारा (सुप्रजसः) उत्तम सन्तानोंवाले (सुवीराः) और श्रेष्ठ वीरों वाले, या हम स्वयं श्रेष्ठ वीर हों ।

[यानों अर्थात् रथों द्वारा आना-जाना, और मास-मास के बाद आना-जाना, गृहस्थों के घर आकर हविष्यान्न का खाना, जीवित पितरों में ही सम्भव है ।]

२५८. यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः ।
तद् व एतत् पुनरा प्यायायामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥६४॥

हे पितरो ! (जातवेदाः अग्निः) जातवेदा अग्नि ने (पितृलोकं गमयन्) पितृलोक की ओर गमन कराते हुए (वः) तुम्हारे (यद्) जिस (एकम् अङ्गम्) एकाध-कर्माङ्ग को (अजहात्) पूर्ण नहीं किया था, (वः) आप के (तत्) उस कर्माङ्ग को (एतत्) यह सब मैं [आप का पुत्र] (पुनः) फिर (आ प्याययामि) पूर्ण करता हूं । ताकि (पितरः) हे पितरो ! (साङ्गाः) अपने कर्त्तव्यों में सम्पूर्णाङ्ग होकर आप (स्वर्गे) विशेष सुख-

भोग और उसकी सामग्री से सम्पन्न लोक में (मादयध्वम्) प्रसन्न तथा तृप्त रहें ।

[वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने पर अग्निहोत्र को सामग्री सहित लेकर अरण्यवास अर्थात् वनवास करना होता है । यथा—'अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः" (मनु० अ०६। श्लोक४)। परन्तु संन्यासाश्रमग्रहण करने पर अग्निहोत्र और उसकी सामग्री को साथ नहीं ले जाना होता। इस निमित्त प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्राजापत्येष्टि, जिसमें कि यज्ञोपवीत और शिखा का भी त्याग किया जाता है, कर आहवनीय गार्हपत्य और दाक्षिणात्यसंज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित कर ब्राह्मण विद्वान् संन्यास लेता है। यथा—"प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् । आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्" (मनु० अ० ६, श्लोक ३८),तथा संस्कारविधि का संन्यासप्रकरण (दयानन्द) ।

जातवेदाः अग्निः=आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—ये तीनों अग्नियां जातवेदाः हैं। संन्यास के लिये आश्रमानुक्रम का नियम नहीं । किसी भी आश्रम से संन्यास ग्रहण किया जा सकता है । और जिस दिन भी सच्चा वैराग्य हो जाय,संन्यास ग्रहण किया जा सकता है । ऐसी परिस्थिति में संन्यासेच्छुक के कई धार्मिक और सांसारिक कर्त्तव्य अपूर्ण रह सकते हैं। उन सब कर्त्तव्य-शेषाङ्गों की पूर्ति करने का आश्वासन पिता को पुत्र देता है। मनु के श्लोक में ब्राह्मण का अभिप्राय है वह व्यक्ति, जो कि ब्रह्म-साक्षात्कार का अभिलाषी है। पितृलोकम्=माता-पिता आदि बुजुर्गों का लोक, अर्थात् निवास-स्थान या आश्रम । स्वर्गं=स्वर्ग लोकम्=दर्शनीय अत्यन्त सुख को (संस्कारविधि, संन्यासप्रकरण, अथर्व० कां० ६। अनु० ३। सू० ६(२) की व्याख्या में । लोकम्=लोकृ दर्शने; दर्शनीय ।]

२५९. अभू॑द् दू॒तः प्रहि॑तो जा॒तवे॑दाः सा॒यं न्य॒ह्न उ॑प॒वन्द्यो॒ नृभिः॑ ।
प्रादाः॑ पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॒ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑ ॥६५॥

(जातवेदाः) सब उत्पन्न चराचर जगत् में विद्यमान परमेश्वर (दूतः) पापों को परितप्त करनेवाला, उन्हें जला देनेवाला, तथा (प्रहितः) अतिशय हितकर (अभूत्) हुआ हैं। वह (सायम्) सायंकाल और (न्यह्ने) दिनोद्गम के समय (नृभिः) नर-नारियों द्वारा (उपवन्द्यः) उपासना विधि

द्वारा स्तुत्य और अभिवन्दनीय है । हे परमेश्वर ! आप ने ही (पितृभ्यः) पितरों के लिये (प्रयता हवींषि) पवित्र हविष्यान्न (प्रादाः) प्रदान किया है, जिस का कि (ते) वे पितर (स्वधया) आतमधारण-पोषण की दृष्टि से (अक्षन्) भक्षण करते हैं । (देव) हे मेरे पितृदेव ! (त्वम्) आप भी यह पवित्र हविष्यान्न (अद्धि) खाया कीजिये ।

[जातवेदाः=मन्त्र २५८में 'जातवेदाः' द्वारा आहवनीय आदि अग्नियों का वर्णन हुआ है । परन्तु मन्त्र २५९में इन जातवेदा-अग्नियों में नियामकरूप में स्थित परमेश्वररूप जातवेदाः का वर्णन हुआ है । जातवेदा-अग्नियों में स्थित परमेश्वर को भी जातवेदा कहा है । जैसे कि अग्नि में स्थित परमेश्वर को अग्नि कहा है। यथा "**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः**"(अथर्व० ४।३९।९)। निरुक्त-कार ने भी जातवेदा के निर्वचनों में "**जातप्रज्ञः**" भी लिखा है। "जातप्रज्ञ" आहवनीयादि अग्नियां नहीं हो सकतीं। जातप्रज्ञ तो परमेश्वर ही है (निरु० ७।५।१९) । तथा "**जातवेदस इति जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्ति-प्रलयन्यायेनास्थाय विद्यते** (निरु० १३ (१४) । ३ (२) । ३४ (४७) । तथा "उपवन्द्यः" द्वारा जातवेदा को उपासनाविधि द्वारा स्तुत्य और अभिवन्दनीय कहा है । महर्षि दयानन्द प्रथम समुल्लास, सत्यार्थप्रकाश में कहते हैं कि—"जहां-जहां स्तुति, प्रार्थना,उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है" ।

प्रादाः=वनस्थ पितरों को परमेश्वर ने आरण्य कन्द मूल फल तथा आरण्यान्न दे रखे हैं, ये हविष्यान्न हैं । देव=पितृदेव, यथा—आचार्य-देव, मातृदेव, अतिथिदेव । जो गृहस्थी देव बनना चाहते हैं, उन्हें भी हवि-ष्यान्न का सेवन करना चाहिये ।]

२६०. असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः ।
अभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥६६॥

(असौ है) वह आप हे पितृदेव ! (मन्त्र २५९) (ते) आपका (मनः) मन (इह) इस वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम में लगा रहना चाहिये, (इव) जैसे कि (जामयः) जाया अर्थात् पत्नियां (ककुत्सलम) घर के मुखिया तथा जल समान शीतल स्वभाव वाले पतियों को प्राप्त कर इस गृहस्था-श्रम में अपने मनों को लगाए रखती हैं । (भूमे) हे मिट्टी की झोंपड़ी !

(एनम्) इस वानप्रस्थी या संन्यासी को (अभि ऊर्णु हि) सब ओर से आच्छादित कर सुरक्षित कर। [झोपड़ी गर्मी सरदी तथा वर्षा आदि से सुरक्षा करती है। वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों के वासगृह सादे होने चाहियें। ककुत्सल=ककुत् (Chief, head ; आपटे)+सल (water; आपटे)। जामिः=कुलस्त्री (उणा० ४।४४)।]

२६१. शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥६७॥

२६२. येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥६८॥

(पितृषदनाः) पितर अर्थात् पिता पितामह और प्रपितामह जहां रहते हैं, वे (लोकाः) दर्शनीय आश्रम (शुम्भन्ताम्) पितरों के निवास तथा उद्यान आदि द्वारा सदा सुशोभित रहें। हे पिता ! (पितृषदने) पितरों के रहने के ऐसे (लोके) दर्शनीय आश्रम में (त्वा) आप को (आ सादयामि) मैं पुत्र स्थापित करता हूं। आप के निवास के लिये सदन का निर्माण करवाता हूं ॥६७॥

हे दर्शनीय आश्रम ! [लोक, मन्त्र २६१] तू (तेषाम्) उन्हें (बर्हिः) आध्यात्मिक आदि दृष्टि से बढ़ानेवाला है, (ये) जो कि (अस्माकम्) हमारे (पितरः) पितर हैं ॥६८॥

[लोक—लोकृ दर्शने। बर्हिः=बृह वृद्धौ। पितृषदन=विद्या पढ़े हुए ज्ञानी लोगों का स्थान (यजु० ५।२६; दयानन्दभाष्य)।]

२६३. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥६९॥

(वरुण) हे अविद्यानिवारक, वरणीय श्रेष्ठ ईश्वर ! आप (अस्मत्) हमसे (उत्तमम्) उत्तम (पाशम्) फंदे को (उत् श्रथाय) शिथिल कीजिये, ढीला कीजिये, तथा विनष्ट कीजिये। (अधमम्) तथा निकृष्ट फंदे को (उत् श्रथाय) शिथिल ढीला तथा विनष्ट कीजिये। और (मध्यमम्) मध्य के फंदे को (विश्रथाय) शिथिल ढीला और विनष्ट कर अलग कीजिये। (अधा) इसके अनन्तर (आदित्य) हे विनाशरहित जगदीश्वर ! (तव) सद्गुरुरूप से उपदेष्टा आप के (व्रते) सत्याचरणरूपी व्रत को धारण

करके (अनागसः) निरपराधी होकर (अदितये) अखण्ड अर्थात् विनाश-रहित सुख अर्थात् मोक्ष के (स्याम) हम अधिकारी हों।

[मन्त्रार्थ महर्षि दयानन्द के अर्थ की छाया में किया है (ऋ० १।२४।१५)। पाशम्=जीवात्मा पर तीन फंदे पड़े हुए हैं। वे हैं—कारण-शरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर। कारणशरीर उत्तम पाश है, सूक्ष्म-शरीर मध्यम, तथा स्थूलशरीर अधम पाश है। कारणशरीर है—सत्त्वमय चित्त। सूक्ष्म शरीर के घटकावयव १८ हैं—५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ तन्मात्राएं, १ मन, १ अहंकार और १ रजस्तमस् से अभिभूत बुद्धि या चित्त। सूक्ष्म शरीर को लिङ्गशरीर भी कहते हैं। स्थूलशरीर में पंचभूतों के स्थूलावयव हैं। योगदृष्टि से विदेहावस्था में स्थूलशरीर का पाश ढीला पड़ जाता है। अस्मितानुगत-समाधि में प्रकृतिलयावस्था का सूक्ष्म-शरीररूपी पाश ढीला पड़ जाता है। तथा विवेकख्याति हो जाने पर इस में भी परवैराग्य हो जाने पर कारणशरीर का पाश भी ढीला पड़कर छूट जाता है, और जीवात्मा जीवन्मुक्त होकर मोक्ष पा लेता है।

वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों को मन्त्रोक्त प्रकार की प्रार्थनाएं करनी चाहियें, ताकि मोक्षप्राप्ति शीघ्र हो सके। श्रथ=To untie, loosen, liberate, release, to kill (आपटे)। अदिति=अ+दिति (दो अव-खण्डने)। मन्त्र में पाशों का अभिप्राय मानसिक ऐन्द्रियिक और शारीरिक पाप भी सम्भव है।]

२६४. प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मुञ्च सर्वा॑न् यैः स॑मामे ब॒ध्यते॒ यैर्व्या॒मे । अधा॑ जीवेम श॒रदं॑ श॒तानि॒ त्वया॑ राजन् गुपि॒ता रक्ष॑माणाः ॥७०॥

(वरुण) हे पापनिवारक, वरणीय श्रेष्ठ ईश्वर! (अस्मत्) हमसे (सर्वान्) सब (पाशान्) पाप-फंदों को (प्रमुञ्च) छुड़ा दीजिये, (यैः यैः) जिन-जिन पाप-फंदों द्वारा यह जीवात्मा (समामे व्यामे) लम्बे-चौड़े शरीर में (बध्यते) बन्ध जाता है। (अधा) तदनन्तर अर्थात् पाप-फंदों से छुटकारा पाकर (राजन्) हे जगत् के स्वामिन! (त्वया) आप के द्वारा (गुपिताः) सुरक्षित हुए, और (रक्षमाणः) पापों से अपनी रक्षा करते हुए हम (शतानि शरदम्) १०० वर्षों तक (जीवेम) जीवें।

[समाम=चौड़े। व्याम=लम्बे। **"समामो नाम व्यामसंज्ञितप्रदेशात् संकुचितप्रमाणको देशः। संनिकटे प्रदेशे दूरे प्रदेशे चेति यावत्"**(सायण)।]

(८)

२६७. अ॒ग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय स्व॒धा नम॑ः ॥७१॥

(अग्नये) प्रजाजन को जीवनमार्ग पर आगे ले जानेवाले (कव्य-वाहनाय) मेधावियों के लिये मेधावर्धक ज्ञान के वाहनभूत विद्वान् के लिये (स्वधा नमः) आत्म-धारण-पोषणकारी तथा मेधावर्धक अन्न देना चाहिये।

[अग्निः अग्रणीर्भवति (निरु० ७।४।१४), अर्थात् आगे ले जानेवाला। कव्य=कविः मेधाविनाम (निघं० ३।१५), तेभ्यो हितं कव्यम्=मेधावियों के लिये मेधावर्धक ज्ञान। स्वधा=स्वधारण-पोषणकारी। नमः=अन्न-नाम (निघं० २।७)।]

२६८. सोमा॑य पि॒तृम॑ते स्व॒धा नम॑ः ॥७२॥

(पितृमते) माता-पिता द्वारा सुरक्षा पाने वाले (सोमाय[1]) सौम्यस्वभाव वाले शिशु को (स्वधा नमः) आत्म-धारण-पोषणकारी सात्विक अन्न देना

---

१. 'सोम' का अर्थ "दूध" भी होता है। यथा "सोमो दुग्धाभिरक्षाः" (ऋ० ९।१०७।९), अर्थात् दुही गई गौओं से दूध क्षरित हुआ है। "अर्शआदिभ्योऽच्" (अष्टा० ५।२।२७) द्वारा अच् प्रत्यय होने पर 'सोम' का अर्थ होगा—सोमपायी, अर्थात् दुग्धपायी नवजात शिशु। इस नवजात शिशु को सात्विक दूध देना चाहिये। स्वस्थ माता का दूध सर्वाधिक सात्विक होता है। नवजात शिशु को माता का सात्विक दूध मिल सके, इस निमित्त माता को भी सात्विकाहार वाली होना चाहिये। यदि माता पिता सात्विक आहार वाले होगें, तो उन की सन्तानें भी सात्त्विक वृत्तियों वाली हो सकेगीं। अथर्व० २।१३।२ का मन्त्रार्थ निम्नलिखित है, जो कि सोम के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। यथा—"बृहस्पतिः प्रायच्छत् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ"। अर्थात् वेदवाणी के विद्वान् पुरोहित ने सोम-राजा के पहिनने के लिये यह वस्त्र दिया है। नवजात शिशु के संस्कार में पुरोहित शिशु के लिये जिस प्रकार के वस्त्र का विधान करता है, शिशु को वही वस्त्र पहिनाना चाहिये। नवशिशु को राजा कहा है। स्वस्थ नवशिशु का मुख कान्तिमान् होता है, इसलिये उसे राजा कहा है (राजृ दीप्तौ)। बृहस्पतिः=बृहती वाक् तस्याः पतिः।

चाहिये। अर्थात् ऐसे शिशु को गरिष्ठ तथा अधिक मसालों वाले अन्न न देने चाहियें।

२६७. पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥७३॥

[1](सोमवद्भ्यः) सौम्य स्वभाववाले शिशुओं के जन्मदाता (पितृभ्यः) माता-पिता को (स्वधा नमः) आत्म-धारण-पोषणकारी सात्विक अन्न सेवन करना चाहिये।

२६८. यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥७४॥

(पितृमते) पिता के सदृश रक्षक आचार्य वाले, (यमाय)[2] यमनियमों के पालक तथा संयमवाले ब्रह्मचारी के लिये (स्वधा नमः) आत्म-धारण-पोषणकारी सात्विक अन्न देना चाहिये।

[पितृमते=जननी जनकश्चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥ इसलिये विद्यादाता आचार्य भी पिता है।]

(९)

२६९. एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥७५॥

(प्र ततामह) हे प्रपितामह! (ते) आप के लिये (एतत्) यह (स्वधा) स्वधान्न है, आत्म-धारण-पोषणकारी अन्न है। (च) और (ये) जो पितर (त्वामनु) आप के बाद के होंगे, उनके लिये भी यह स्वधान्न है।

[प्रततामह=प्रपितामह। ततामह में "तन्" धातु हैं, जिसका अर्थ है—"विस्तार"। सन्तान सन्तति में भी "तन्" धातु है। प्रपितामह वंशपरम्परा का विस्तार करते हैं, इसलिये "तन्" का प्रयोग है। त्वामनु=आप के बाद वानप्रस्थ तथा संन्यास में जो गए हैं, या जाएंगे।]

२७०. एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥७६॥

(ततामह) हे पितामह! (ते) आप के लिये (एतत्) यह (स्वधा)

---

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी सं० १।

२. इसी प्रकार यमनियमों के पालन करने वाले ब्रह्मचारी को भी सात्विकाहार वाला होना चाहिये। सात्विक-आहार ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक होता है। उन के वनस्थ गुरुओं को भी सात्विकाहारी होना चाहिये।

स्वधान्न है, आत्मधारण-पोषणकारी अन्न है। (च) और जो पितर (त्वा-मनु) आपके बाद के होंगे, उनके लिये भी यह स्वधान्न है।

२७१. एतत् ते तत स्वधा ॥७७॥

(तत) हे पिता! (एतत्) यह (ते) आप के लिये (स्वधा) स्व-धान्न है, आत्म-धारण-पोषणकारी अन्न है।

[तत=तात (लौकिक संस्कृत)। अंग्रेजी में Dad=father, a word used by children। Dad शब्द "तत" का विकृतरूप है। तत =पिता, ततामह=दादा; प्रततामह=परदादा। पितृयज्ञ श्राद्ध तथा पितृमेध में इन्हीं तीन का, अर्थात् पिता पितामह और प्रपितामह का सम्बन्ध होता है। प्रपितामह के पिता आदि का नहीं। १०० वर्षों की आयु की दृष्टि से श्राद्धकर्त्ता पुत्र के लिये इन्हीं तीन का जीवित रहना अधिक सम्भावित है। पञ्चमहायज्ञों में पितृयज्ञ है। ये यज्ञ विवाहित पुरुष को करने होते हैं। २४ वर्षों की आयु में स्नातक बनकर, २५ वें वर्ष में विवाह द्वारा सन्तानोत्पादन कर ब्रह्मचारी पिता बनता है। अपत्य की सन्तान हो जाने के समय इस नवपिता के पिता की आयु ५० वर्षों की, पितामह की ७५ वर्षों की, तथा प्रपितामह की १०० वर्षों की सम्भावित है। इससे प्रतीत होता है कि पितृयज्ञ आदि में इन तीनों के ही जीवित होने के कारण इन्हीं तीन का यजन अर्थात् सत्कार होता है।]

२७२. स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥७८॥

(पृथिविषद्भ्यः=पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवी अर्थात् तप के द्वारा शरीर की साधना में स्थित (पितृभ्यः) पितरों के लिये (स्वधा) आत्म-धारण-पोषणकारी अन्न होना चाहिये।

[पृथिवी="**पृथिवी शरीरम्**" (अथर्व० ५।९।७), अतः पृथिवी= शरीर। योगदर्शन का सूत्र है "**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**" (२।४५)। **कायसिद्धिः अणिमादयः, तथेन्द्रियसिद्धिः दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति** (व्यास-भाष्य २।४५), तप द्वारा काय और इन्द्रियों की सिद्धि में संलग्न पितरों को "पृथिवीषद्" कहा है।]

२७३. स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥७९॥

(अन्तरिक्षसद्भ्य:) अन्तरिक्ष की साधना में स्थित (पितृभ्य:) पितरों के लिये (स्वधा) आत्म-धारण-पोषणकारी अन्न होना चाहिये ।

[अन्तरिक्ष=वक्षःस्थल के हृदय में ध्यानावस्थित हो कर आत्मा के साक्षात्कार में प्रवृत्त पितर। यथा—"**अन्तरिक्षमात्मा**" (अथर्व० ५।९।७)। शरीर तो पृथिवीरूप है (२७२), और वक्ष:स्थल अन्तरिक्षरूप है। क्योंकि वक्ष:स्थल के फेफड़ों में वायु का निवास है, और हृदय में रक्तरूपी जल का निवास है। इस प्रकार प्राणाभ्यासी तथा हृदयध्यानी पितरों को "अन्तरिक्षषद्" पितर कहा है।]

२७४. स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥८०॥

(दिविषद्भ्य:) दिव् अर्थात् सिर में स्थित सहस्रारचक्र में ध्यानावस्थित (पितृभ्य:) पितरों के लिये (स्वधा) आत्म-धारण-पोषणकारी सात्त्विक अन्न होना चाहिये।

[दिवि="**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**" (अथर्व० १०।७।३२); तथा "**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजु० ३१।१३)। अत: दिव्=मूर्धा, सिर। सहस्रारचक्र में ध्यानावस्थित हो जाने पर योगी मोक्षसिद्धि का लाभ करता है। सहस्रारचक्र में ध्यानावस्थित योगियों को "**दिविषद्**" पितर कहा है।

तथा

२७२-२७४=पृथिवीषद:=जो पितर कि पृथिवी पर विचरते हैं, जिन्हें अन्तरिक्ष-गमन की सिद्धि अभी प्राप्त नहीं हुई, परन्तु अभ्यासमार्ग में प्रवृत्त हैं। अन्तरिक्षसद:=योगाभ्यास के उत्कर्ष द्वारा जिन्हें अन्तरिक्ष-गमन अर्थात् आकाशगमन की सिद्धि प्राप्त हो चुकी है। इस विभूति का वर्णन योगदर्शन में किया है। यथा—"**कायाकाशयो: सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्**" (३।४२)। ऋग्वेद में भी आकाशगमन तथा वायु में जाकर स्थित हो जाने की सिद्धि का वर्णन हुआ है। यथा—"**मुनयो वातरशना:**" (ऋ० १०।१३६।२); अर्थात् मुनिलोग "वायु की रस्सी" द्वारा अन्तरिक्ष में आरूढ़ हो जाते हैं। "**वातस्यानु ध्राजिं यन्ति**" (१०।१३६।२)= मुनिलोग बहती वायु के अनुकूल अन्तरिक्ष में गति करते हैं। "**उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्**" (१०।१३६।३)=मुनिभाव द्वारा मस्त हुए हम वायुओं में आकर स्थित हो गये हैं। "**अन्तरिक्षेण पतति विश्वा**

रूपावचाकशत्". (१०।१३६।४)=मुनि अन्तरिक्ष द्वारा उड़ता है, और स्थान-स्थान के विविध रूपों को देखता है। "**वातस्याश्वः**" (१०।१३६।५) =मुनि का अश्व है वायु।"**उभौ समुद्रा वा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः**"(१०। १३६।५); मुनि दोनों समुद्रों की सैर करता है, पूर्व समुद्र की और पश्चिम समुद्र की भी, या आकाशीय समुद्र की भी और पार्थिव समुद्र की भी। इस उपर्युक्त योग्यता वाले योगी **अन्तरिक्षसद्** पितर हैं। तथा अन्तरिक्ष से भी ऊपर महाकाशगामी योगी **दिविषद्** पितर हैं। जैसे कि वर्तमान में space crafts द्वारा चन्द्रलोक आदि में गमन करते हैं, और वहां जा स्थित होते हैं। सद्=गतौ अवसादने च।

तथा

पृथिवी में रह कर लोकोपकार करने वाले वानप्रस्थी, संन्यासी, आचार्यवर्ग, माता-पिता आदि **पृथिवीषद्** पितर हैं। वायुयानों द्वारा अन्तरिक्ष में गमन करने वाले वैमानिक(Pilots)**अन्तरिक्षसद्** पितर हैं। तथा spaceships द्वारा चन्द्र आदि तक पहुंचने वाले **दिविषद्** पितर हैं। वेदों में उत्कृष्ट विमानों का यत्र तत्र वर्णन है। देखो—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका(दयानन्द)।]

(१०)

२७५. नमो॑ वः पितर ऊ॒र्जे नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य ॥८१॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) आप की (ऊर्जे) बलशक्ति तथा प्राणनशक्ति की प्राप्ति के लिये (नमः) हम आप को नम्रभाव से प्राप्त होते हैं। (पितरः) हे पितरो ! (वः) आप के (रसाय) जीवनीय आनन्द रस की प्राप्ति के लिये (नमः) हम आप को नम्रभाव से प्राप्त होते हैं।

२७६. नमो॑ वः पितरो॒ भामा॑य॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॑ ॥८२॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) आप की (भामाय) प्रभा=दीप्ति की प्राप्ति के लिये (नमः) हम आप को नम्रभाव से प्राप्त होते हैं। (पितरः) हे पितरो ! (वः) आप के (मन्यवे) मनन-पूर्वक किये गए क्रोध की प्राप्ति के लिये (नमः) हम आप को नम्रभाव से प्राप्त होते हैं। [भामः=दीप्तिः (उणा० १।१४०)।]

२७७. नमो॑ वः पितरो॒ यद् घो॒रं तस्मै॒ नमो॑ वः पितरो॒ यत् क्रू॒रं तस्मै॑ ॥८३॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) आप का (यद्) जो (घोरम्) पापहनन का बल है, (तस्मै) उस की प्राप्ति के लिये (नमः) हम आप को नम्रभाव से प्राप्त होते हैं। (पितरः) हे पितरो ! (वः) आप का (यद्) जो (क्रूरम्) पापों के छेदन-भेदन का बल है, (तस्मै) उस की प्राप्ति के लिये (नमः) हम आप को नम्रभाव से प्राप्त होते हैं।

[घोरम्=हन्+अच्+घुर (उणा० ५।६४)। क्रूरम्=कृत् छेदने; कृ+रक् (उणा० २।२१)। नमः=नम् प्रह्वत्वे।]

२७८. नमो॑ वः पितरो॒ यच्छि॒वं तस्मै॒ नमो॑ वः पितरो॒ यत् स्यो॒नं तस्मै॑ ॥८४॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) आप का (यत्) जो (शिवम्) शिव-संकल्प है, (तस्मै) उसकी प्राप्ति के लिये (नमः) हम नम्रभाव से आप को प्राप्त होते हैं। (पितरः) हे पितरो ! (वः) आपका (यत्) जो (स्योनम्) सुखमय जीवन है, (तस्मै) उसकी प्राप्ति के लिये (नमः) हम नम्रभाव से आप को प्राप्त होते हैं।

२७९. नमो॑ वः पितरः स्व॒धा वः॑ पितरः ॥८५॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) आप को (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितरो ! (वः) आप को (स्वधा) हम स्वधारण-पोषणकारी अन्न भेंट करते हैं।

२८०. येऽत्र॒ पि॒तरः॑ पि॒तरो॒ येऽत्र॑ यू॒यं स्थ ।
यु॒ष्माँस्तेऽनु॑ यू॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्थ ॥८६॥

(अत्र) इस भूमि पर (ये) जो (पितरः) हम पितर हैं, और (पितरः) हे पितरो ! (अत्र) इस भूमि में (ये) जो (यूयम्) तुम (स्थ) हो, (ते) वे हम पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल रहें, और (यूयम्) तुम (तेषाम्) उन सब पितरों में (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्थ) बनो।

२८१. य इ॒ह पि॒तरो॑ जी॒वा इ॒ह व॒यं स्मः॑ ।
अ॒स्माँस्तेऽनु॑ व॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्म ॥८७॥

(इह) इस भूमि पर (ये) जो (जीवाः) जीवित (पितरः) पितर हैं, और जो (वयम्) हम पितर (इह) इस भूमि पर (स्मः) हैं, (ते) वे पितर (अस्मान् अनु) हमारे अनुकूल रहें; और (वयम्) हम (तेषाम्) उन सब पितरों में (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्म) बनें।

[मन्त्र २८० में दो "अत्र" शब्दों के अर्थ ह्विटनी ने किये हैं "There"; यह सूचित करने के लिये कि मन्त्र में परलोकगत पितरों का वर्णन है। "अत्र" का अर्थ होता है "Here"। इसी के अनुसार मन्त्रार्थ किया गया है। मन्त्र २८० और २८१ में सामाजिक सुधार का निर्देश हुआ है। पृथक्-पृथक् परिवारों, पृथक्-पृथक् समाजों और राष्ट्रों में रहनेवाले पितरों अर्थात् बुजुर्गों के पारस्परिक व्यवहारों में अनुकूलता, और प्रत्येक वर्ग को अन्यवर्गों की अपेक्षा अपने-आप को श्रेष्ठ बनाने का आदेश मन्त्रों में दिया है। बुजुर्गों में परस्पर अनुकूलता हो जाने पर, और अपने आप को सद्गुणों में सर्वश्रेष्ठ बनाने की प्रवृत्ति हो जाने पर प्रत्येक वर्ग के बच्चों में भी ये दोनों प्रवृत्तियां सुतरां बद्धमूल हो जाती हैं।]

(११)

२८२. आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद् घ सा ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि।
इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥८८॥

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (देव) देवाधिदेव! (द्युमन्तम्) द्युतिमान् तथा (अजरम्) कभी भी जीर्ण न होनेवाले (त्वा) आप को (आ इधीमहि) हम अपने हृदयों में प्रदीप्त करते हैं, (यस्य ते) जिस आप की (पनीयसी) स्तुत्य और प्रशंसनीय (समिद्) प्रदीप्ति (द्यवि) द्युलोक [के सूर्य नक्षत्रों और तारागणों] में (दीदयति) अत्यन्त दीप्त हो रही है। आप (स्तोतृभ्यः) अपने स्तोताओं को (इषम्) बल व अन्न से (आ भर) भरपूर करो।

[इधीमहि=इध् दीप्तौ। पनीयसी=पन् स्तुतौ। समिद्=सम्+इध् (दीप्तौ)। अथवा सूर्यरूपी समिधा। द्यवि=आध्यात्मिक दृष्टि में मस्तिष्कस्थ सहस्रारचक्र। अथर्ववेद में सिर को तृतीय लोक कहा है। यथा—"**शीर्षलोकं तृतीयकम्** (१९।३९।१०), अर्थात् सिर तीसरा लोक है। आधिदैविक दृष्टि से द्युलोक भी तीसरा लोक है। वेदों में "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्**"

(अथर्व १०।७।३२); तथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३) द्वारा मूर्धा तथा सिर को क्रमशः दिव् तथा द्यौः कहा है ।]

२८३. चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥८९॥

जैसे (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (सुपर्णः) मानो उड़ता हुआसा, (दिवि) सूर्य के प्रकाश में वर्तमान हुआ (अप्सु अन्तः) आकाश के भीतर (आ धावते) दौड़ता है, वैसे (चन्द्रमाः) मेरा मन (दिवि) मस्तिष्क में और (अप्सु अन्तः) रक्तमय जलों वाले हृदय में (सुपर्णः) विषयों की ओर उड़ता हुआ (आ धावते) दौड़ता है । हे मनुष्यो ! (वः) तुम्हारे मनों की (पदम्) गतियों, चञ्चलताओं को (हिरण्यनेमयः) सुवर्णसदृश चमक-धमक वाली, या हिरण्य के सदृश चमकते वज्रवाली (विद्युतः) विजुलियां भी (न विन्दन्ति) नहीं प्राप्त होतीं । (मे) मेरे (अस्य) इस मन की (पदम्) गतियों को, चञ्चलताओं को (रोदसी) हे द्युलोक तथा पृथिवीलोक वासियो ! तुम (वित्तम्) जानो ।

[चन्द्रमाः=वेदों में चन्द्रमा और मन का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है । आध्यात्मिक दृष्टि में चन्द्रमा है मन । यथा "**चन्द्रमा मनसो जातः**" (यजु० ३१।१३) । तथा "**यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । चन्द्रो मा तत्र नयतु "मनश्चन्द्रो" दधातु मे**" (अथर्व० १९।४३।४) में "मन" और 'चन्द्र' अर्थात् चन्द्रमा का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है । मन्त्र २८०-२८१ में पितरों में पारस्परिक अनुकूलताऔर स्वयं श्रेष्ठ बनने की ओर निर्देश किया है । स्वार्थभावनाओं के रहते ये उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकते । इसलिये मन्त्र २८२-२८३ में हृदयों में, परोपकाररत परमेश्वर के समिन्धन और उसके स्तवन; तथा मनोवेगों और मानसिक चञ्चलताओं के संयमन का उपदेश किया है ।] **॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ।**

श्री पण्डित विश्वनाथ विद्यालङ्कार विद्यामार्त्तण्डकृत

'अथर्ववेद के अठारहवें काण्ड का'

हिन्दी-भाष्य पूरा हुआ ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

उन्नीसवां काण्ड

सूक्त १

१-३ ब्रह्मा । यज्ञः, चन्द्रमाश्च ।

१. सं सं स्रवन्तु नद्य॒ः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

हे परमेश्वर ! (नद्यः) मेरे राज्य की नदियां (सम्) सम्यक् प्रकार से (सम्) सदा सम्यक् प्रकार से (स्रवन्तु) प्रवाहित होती रहें; (वाताः) वायुएं (सम्) सम्यक् प्रकार से (स्रवन्तु) बहती रहें; (पतत्रिणः) पक्षिगण (सम्) सम्यक् प्रकार से अर्थात् निर्भय होकर (स्रवन्तु) उड़ते रहें। (गिरः) हे वेदवाणी के विज्ञो ! (इमं यज्ञम्) इस राज्य-यज्ञ को (वर्धयत) तुम बढ़ाओ ।(संस्राव्येण) संस्रावों द्वारा प्राप्य (हविषा) हवि द्वारा (जुहोमि) मैं राज्य-यज्ञ में आहुतियां डालता हूं ।

[मन्त्र में राज्यपति का कथन है । वह राज्य को यज्ञ जानकर धर्मभावना से राज्य की वृद्धि करना चाहता है। इस लिये वेदवाणी के रहस्यार्थवेत्ताओं की सहायता द्वारा राज्य-यज्ञ की वृद्धि चाहता है। संस्रावों द्वारा प्राप्त "कर" (Tax) को हवि जानता हुआ, वह उसे राज्य-यज्ञ की पूर्ति में समर्पित करता है। संस्राव्य हविः =संस्राव्य हविः पर निम्नलिखित मन्त्र विशेष प्रकाश डालते हैं—

ये नदीनां सं स्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥
ये सर्पिषः सं स्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ अथर्व० १।१५।३-४ ॥

अर्थात् नदियों के अक्षीण प्रवाह, जो सदा प्रवाहित होते रहते हैं, उन सब मेरे संस्रावों अर्थात् प्रवाहों द्वारा, हम प्रजाजन मिलकर, राज्य में धन का प्रवाह करते हैं। पिघला कर शुद्ध किये घी के दूध के और उदक के जो प्रवाह मेरे राज्य में प्रवाहित होते हैं, मेरे उन सब संस्रावों अर्थात् प्रवाहों द्वारा हम सब मिलकर राज्य में धन को बहा लाते हैं। यह धन संस्राव्य-हवि है, जिसका कि व्यय राज्य-वृद्धि के लिये राज्यपति करता है।

संस्राव्य हविः के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र भी विचार-योग्य हैं—

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ अथर्व० २।२६।३-५॥

अर्थात् पशु मेरे राज्य में प्राप्त हों, अश्व प्राप्त हों, पौरुष-सम्पन्न पुरवासी प्राप्त हों, धान्य की वृद्धि प्राप्त हो। इस संस्राव्य हवि द्वारा मैं राज्य-यज्ञ का सम्पादन करता हूं॥ मैं राज्य-पति राज्य में गोदुग्ध सींचता हूं, और गौओं के घृत द्वारा प्रजाजन में बल और रस-रक्त सींचता हूं। हमारे शूर-वीर दूध और घृत द्वारा सम्यक् प्रकार से सींचे गये हैं। मुझ पृथिवीपति के राज्य में गौएं सदा रहें॥ मैं राज्यपति गौओं के दूध को राज्य में उपस्थित करता हूं, धान्य और नानाविध रसों को उपस्थित करता हूं। हमारे शूर-वीर योद्धा राज्य में विद्यमान हैं, राज्य में पत्नियां अपने-अपने घर में सुख-पूर्वक विराजमान रहें॥ मन्त्र में जिन-जिन वस्तुओं का वर्णन हुआ है, वे सब "संस्राव्य हविः" रूप हैं, जिनके द्वारा कि राज्य-यज्ञ की वृद्धि होनी है।]

२. इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत ।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥२॥

(होमाः) राज्य-यज्ञ में निज सम्पत्तियों की आहुतियां देनेवाले हे प्रजाजनो ! (इमं यज्ञम्) इस राज्य-यज्ञ की (अवत) तुम रक्षा करो। (उत संस्रावणाः) तथा संस्रावों द्वारा प्राप्त सम्पत्तियों वाले हे प्रजाजनो ! (इमम्)

इस राज्य-यज्ञ की रक्षा करो। (यज्ञमिमं वर्धयता……) पूर्ववत् (मन्त्र ११।१।१)। [संस्रावणाः=यथा—

इहैव हवमा यांत म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ अथर्व० १।१५।२।।

राज्यपति कहता है कि संस्रावों द्वारा प्राप्त सम्पत्तियोंवाले हे प्रजाजनो ! (इह) इस राज्य में तुम रहो, और (मे) मेरे (हवम्) आह्वान पर (आयात) मेरे समीप आया करो; तथा (गिरः) हे वेदवाणियों के रहस्यार्थों के विज्ञो ! तुम भी (इहैव) इसी राज्य में रहते हुए (इमम्) इस राज्य की (वर्धयत) वृद्धि करते रहो। (यः) जो हमारा (पशुः) पशुसंघ है, वह (सर्वः) सब (इह एतु) इस राज्य में रहे। (या रयिः) राज्य की जो सम्पत्ति है, वह भी (अस्मिन्) इस राज्य में (तिष्ठतु) स्थित रहे।

संस्रावणा=संस्रावण+अच् । पशुः=**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (अथर्व०११।२।९)। इस प्रकार पशुओं के ५ विभाग हैं।]

३. रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे ।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३॥

(रूपंरूपम्) राज्य के प्रत्येक रूप पर (वयोवयः) तथा प्रत्येक प्राणि-विभाग पर (संरभ्य=संलभ्य, रलयोरभेदः) सम्यक् अधिकारलाभ करके मैं राज्यपति (एनम्) इस राज्य का (परिष्वजे) आलिङ्गन करता हूं, इसे अपनाता हूं। (चतस्रः प्रदिशः) राज्य के चतुर्दिक्वासी (इमम्) इस राज्य की (वर्धयन्तु) वृद्धि करें। मैं राज्यपति (संस्राव्येण) संस्रावों द्वारा प्राप्य (हविषा) धन को हविरूप जान कर, इस हवि द्वारा (जुहोमि) राज्य-यज्ञ में आहुतियां देता हूं।

[रूपंरूपम्=राज्य की भूमि, राज्य की नदियां तथा पर्वत, राज्य के खनिज पदार्थ तथा वन, राज्य के भवन तथा उपज आदि राज्य के विविध रूप हैं। वयोवयः=वयः का अर्थ है आयुः। मन्त्र में "वयः" द्वारा आयुवाले प्राणिवर्ग अभिप्रेत हैं, अर्थात् पशु, पक्षी, पुरुष-स्त्रियां, बच्चे आदि। मन्त्रों में राज्य को यज्ञ कहा है। राज्य के सभी प्रजाजन राज्ययज्ञ के यजमान हैं। राज्यपति इनका प्रतिनिधि बनकर प्रजा द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिये धन की आहुतियां राज्य-यज्ञ की वृद्धि के निमित्त देता है।

राज्य में यज्ञभावना होने पर प्रजाजन और अधिकारी, धनलालसा तथा पदलालसा से राज्य में शासन नहीं करते, अपितु राज्य को यज्ञ जानकर, धर्म-भावना से प्रेरित होकर राज्यवर्धन करते हैं ।

विशेष वक्तव्यः—(१) नदियों के प्रवाहों से नहरें निकाल कर उपज-वृद्धि कर, तथा नगरवासियों को जल देकर, इन प्रवाहों में नौकाओं द्वारा व्यापार कर, धन की वृद्धि की जा सकती है । (२) (वाताः) वायुओं की अनुकूलता में पतवारों द्वारा चलाई जानेवाली समुद्रिय नौकाओं तथा हवाई जहाजों द्वारा धन कमाया जा सकता है । हवाई जहाजों द्वारा धनोपार्जन के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है।यथा—"**ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति । ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि**"(अथर्व०३।१५।२)। मन्त्र में "देवयानाः पन्थानः" का अर्थ है व्यापारियों के जाने-आने के "पन्थानः" अर्थात् मार्ग । देव में "दिव्" धातु का अर्थ व्यवहार अर्थात् व्यापार । वायु-यानों के राज्याधिकारी को "वणिक्-इन्द्र" कहा है । यथा "**इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि**" (अथर्व० ३।१५।१)। (३) अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका में १९।१ सूक्त के दो देवता लिखे हैं—एक यज्ञ और दूसरा चन्द्रमा । यज्ञ शब्द तो १९।१ सूक्त के मन्त्रों में पठित है, परन्तु चन्द्रमा का निर्देश इन मन्त्रों में कहीं नहीं। सम्भवतः मन्त्र में "वाताः और पतत्रिणः" शब्दों द्वारा चन्द्रमा को भी देवता कहा गया हो । चन्द्रमा के कारण समुद्रों में ज्वार-भाटा होते रहते हैं,और सम्भवतः चन्द्रमा के कारण ही समुद्रिय वायुओं में भी परिवर्तन होते रहते हों, जो कि नौकाओं द्वारा किये जानेवाले व्यापार में सहायक हों। इन वायुओं को अंग्रेजी भाषा में "Trade winds" कहते हैं । साथ ही सम्भवतः १९।१ में "पतत्रिणः"पद द्वारा समुद्री-नौकाएं अभिप्रेत हों । ऋग्वेद मं० १, सू० ११६, मन्त्र ३-४ में "नौभिः" का विशेषण "पतङ्गैः" दिया है । पतङ्गाः और पतत्रिणः शब्द प्रायः पर्यायवाची हैं । पक्षियों की उड़ानों में "संस्राव्य-हविः" के उत्पादन की योग्यता नहीं ।]

सूक्त २

१-५ सिन्धुद्वीपः । आपः ।

४. शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः ।
शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः ॥१॥

हे मनुष्य ! (ते) तेरे लिये (हैमवतीः) हिमवाले पर्वतों के (आपः) जल (शम्) शान्तिदायक और रोगशामक (सन्तु) हों, (ते) तेरे लिये (उत्स्याः) कूपों के जल (शम् उ) निश्चय से शान्तिदायक और रोगनाशक हों। (ते) तेरे लिये (सनिष्यदाः) स्यन्दन करते हुए या शीघ्रप्रवाही (आपः) जल (शम्) शान्तिदायक और रोगनाशक हों। (ते) तेरे लिये (वर्ष्याः) वर्षा के जल (शम् उ) निश्चय से रोगनाशक और शान्तिदायक (सन्तु) हों। [उत्सः कूपनाम (निघं० ३।२३)। सनिष्यदाः=स्यन्द्+यङ्लुक्+अच्।]

८. शं त आपो धन्वन्याः३ शं ते सन्त्वनूप्याः।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः ॥२॥

(ते) तेरे लिये (धन्वन्याः) मरुप्रदेश के (आपः) जल (शम्) शान्तिदायक और रोगशामक (सन्तु) हों। (ते) तेरे लिये (अनूप्याः) कच्छ भूमि या दलदल भूमि के जल (शम्) शान्तिदायक और रोगशामक हों। (ते) तेरे लिये (खनित्रिमाः) भूमि खोदकर निकाले गये कूप्य जल तथा खानों के जल (शम्) शान्तिदायक और रोगशामक हों। (याः) जो (कुम्भेभिः) घड़ों द्वारा (आभृताः) लाकर रखे हुए जल हैं, वे तेरे लिये (शम्) शान्तिदायक और रोगशामक हों।

९. अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः।
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि ॥३॥

(अनभ्रयः) विना कुद्दाल के (खनमानाः) पर्वत आदि को निज प्रवाहों द्वारा खोदते (आपः) जल, तथा (गम्भीरे) गम्भीर और गहन समस्याओं में भी (अपसः) कार्यकुशल (विप्राः) मेधावी जनों के सदृश (गम्भीरे) अतिकठिन रोगों में भी (अपसः) सफलतापूर्वक कार्य करनेवाले (अच्छा आपः) स्वच्छ जल, (भिषग्भ्यः) भेषज-चिकित्सा में निपुण वैद्यों से भी (भिषक्तराः) चिकित्सा में अधिक निपुण चिकित्सक हैं। हे मनुष्यो ! (वदामसि) यह हम तुम्हें कहते हैं।

[अथर्व० ६।२४।२ में 'आपः' को "भिषजां सुभिषक्तमाः" कहा है। अच्छाः=यथा "किं रत्नमच्छा मतिः" (भामिनी-विलास १। ६)।]

७. अपामह दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम् ।
अपामह प्रणेजनेऽश्वा भवथ वाजिनः ॥४॥

(दिव्यानाम्) आकाश के अधिक ऊंचे स्थल से बरसते हुए (अपाम्) जलों के, तथा (स्रोतस्यानाम्) भूमि के स्रोतों से उपजे (अपाम्) जलों के, और (अपाम्) अन्य स्वच्छ जलों के सामर्थ्यों द्वारा (प्रणेजने) शारीरिक मलों से शुद्ध हो जाने पर, हे मनुष्यो ! तुम (अश्वाः) अश्वों के सदृश बलवान् तथा (वाजिनः) वेगोंवाले (भवथ) हो जाओ।

[अह=विनिग्रहार्थीयः। अर्थात् "अह" शब्द पृथक्-पृथक् जलों के पृथक्-पृथक् गुणों को दर्शाता है। आकाश के जितने ऊंचे स्थल से वर्षाजल बरसेगा, वह उतना ही अधिक शुद्ध होगा, इस भावना का द्योतक "दिव्य" शब्द है।]

८. ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मंकरणीरपः ।
यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः ॥५॥

(ताः अपः) उन जलों को, (शिवाः अपः) कल्याणकारी जलों को, (अयक्ष्मंकरणीः अपः) यक्ष्म रोग न होने देने वाले, या यक्ष्मरोग-निवारक जलों को, (ताः भेषजीः) उन भेषज अर्थात् औषधरूप जलों को (आदत्त) तुम ग्रहण करो। (ते) हे रोगिन् ! तेरे लिये (मयः) जलसेवन द्वारा सुख हो, (यथा एव) जैसे ही कि (तृप्यते) तृप्त व्यक्ति के लिये (मयः) सुख होता है।

[भिन्न-भिन्न भूभागों और आकाश के जलों में, उस-उस भाग के विशेष तत्त्व मिश्रित हो जाते हैं। इसलिये उन जलों के गुणों में भी विशेषताएं आ जाती हैं। इन विविध प्रदेशों के जलों के प्रयोगों द्वारा विविध रोगों का विनाश होता, और तद्-द्वारा शान्ति मिलती है। अथर्ववेद में जल-चिकित्सा के कई लाभ दर्शाए हैं। यथा—जल, बल और प्राणशक्ति देते हैं—"**ऊर्जे दधातन**" (१।५।१)। आंखों को महारमणीय बनाते हैं—"**महे रणाय चक्षसे**" (१।५।२)। हमें नवजीवन प्रदान करते हैं—"**आपो जनयथा च नः**" (१।५।३)।जल आंखों एड़ियों और पैरों के अग्रभागों की जलन को दूर करते हैं—"**यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्। आपः तत् सर्वं निष्करन्**" (६।२४।२)। जलों में सब भेषज विद्यमान हैं, और इन में अग्नि-

(=विद्युत्) होती है,जोकि सब रोगों को शान्त करती है—"अप्सु···अन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निं च विश्वशम्भुवम्" (१।६।२)। इसी प्रकार अथर्ववेद में जल-चिकित्सा का और भी पर्याप्त वर्णन है ।]

सूक्त ३

१-४ अथर्वाङ्गिराः । अग्निः (तथा ईश्वरः)।

९. दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षाद् वनस्पतिभ्यो अध्योषधीभ्यः ।
यत्रयत्र विभृतो जातवेदास्तत स्तुतो जुषमाणो न एहि ॥१॥

अग्निविद्या के विद्वानों द्वारा (स्तुतः) वर्णित, (जातवेदाः) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान अग्नि, (यत्र यत्र) जिस-जिस पदार्थ में (विभृतः) अपने विविधरूपों में विचरता है या स्थित है, (ततः) उस-उस पदार्थ से (नः जुषमाणः) हमारी सेवा करता हुआ, (एहि) आए, हमें प्राप्त हो। (दिवः) द्युलोक अर्थात् सूर्य से, (पृथिव्याः) पार्थिव पदार्थों से, (अन्तरिक्षात् परि) अन्तरिक्षस्थ विद्युत् से, (वनस्पतिभ्यः) वृक्षों से, (ओषधीभ्यः अधि) तथा ओषधियों से हमें अग्नि प्राप्त हो ।

[जातवेदाः=जाते जाते विद्यते (निरु० ७।५।१६) सूर्य, विद्युत्, पार्थिव पदार्थों, तथा काष्ठों द्वारा अग्नि को उत्पन्न कर उसे अपने सेवा-कार्यों में प्रयुक्त करना चाहिये । विभृतः=वि+हृ+क्त; हृग्रहोर्भः छन्दसि, अथवा वि+भृ (धारणे)+क्त ।]

१०. यस्ते अप्सु महिमा यो वनेषु य ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
अग्ने सर्वास्तन्व१: सं रभस्व ताभिर्न एहि द्रविणोदा अजस्रः ॥२॥

(अग्ने) हे जातवेदः अग्नि ! (ते) तेरी (यः महिमा) जो महिमा (अप्सु) जलों में है, (यः) जो (वनेषु) वनों में, (यः) और जो (ओषधीषु) ओषधियों में, (पशुषु) पशुओं में और (अप्सु) प्राणों के (अन्तः) भीतर तेरी महिमा है, उन (सर्वाः तन्वः) सब अपने विस्तारों का (संरभस्व=संलभस्व) हमें लाभ प्रदान कर। (ताभिः) उन विस्तारों द्वारा (अजस्रः) सदा (द्रविणोदाः) धन प्रदान करता हुआ तू (नः) हमें (एहि) प्राप्त होता रहे।

[जलों में अग्नि विद्युत्-रूप है। वनों के काष्ठों में आग के रूप में,

ओषधियों में स्वास्थ्यकर रूप में, पशुओं में जाठराग्नि तथा शारीरिक गर्मी के रूप में,प्राणों में प्राणनशक्ति के रूप में अग्नि की महिमा विस्तृत है। अग्नि के प्रयोगों के द्वारा वस्तुओं का निर्माण कर अग्नि के द्वारा धनोपार्जन होता है। अजस्रः=अ+जसु (हिंसायाम्)+रः=अहिंसित, सदा विद्यमान। अप्सु=प्राणेषु "सप्ताप: स्वपतो लोकमीयु:" (यजु०३४।५५)।]

११. यस्ते॑ दे॒वेषु॑ महि॒मा स्व॒र्गो या ते॑ त॒नूः पि॒तृष्वा॑वि॒वेश॑ ।
पुष्टि॒र्या ते॑ मनु॒ष्ये॒षु पप्र॒थेऽग्ने॒ तया॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥३॥

(अग्ने) हे अग्नि अर्थात् जगदग्रणी परमेश्वर ! (ते) आप की (यः) जो (महिमा) कीर्ति तथा शक्ति (देवेषु) देवयानमार्गी देवकोटि के लोगों में हैं, जो कि उन्हें (स्वर्गः) विशेष सुखभोग और सुखभोग की सामग्री पहुंचाती है, तथा (या ते तनूः) आप का जो विस्तार या स्वरूप (पितृषु) पितृयाणमार्गी गृहस्थियों में (आ विवेश) प्रविष्ट है, तथा (ते) आपका दिया हुआ (या पुष्टिः) जो परिपोषण (मनुष्येषु) सर्वसाधारण मनुष्यों में (पप्रथे) विस्तृत है, (तया) अपने उन स्वरूपों या विस्तारों द्वारा (अस्मासु) हम में (रयिम्) तत्तत् सम्पत्ति (धेहि) स्थापित कीजिये।

["चतुर्वेदविषयसूची" महर्षि दयानन्द के अनुसार सूक्त ३ के देवता अग्नि और ईश्वर हैं। मन्त्र ३।३ में ईश्वर-अर्थ प्रधान है,और अग्नि गौण। मन्त्र ३।१-२ में अग्नि-अर्थ प्रधान है, और परमेश्वर-अर्थ गौण है। मन्त्र में देवों पितरों और मनुष्यों का वर्णन है। देवों पितरों और मनुष्यों में उनकी उपार्जित सम्पत्तियां परमेश्वर द्वारा ही दी गयी हैं। मनुष्य प्रायः शारीरिक और आर्थिक पुष्टि चाहते हैं। देव दिव्य सम्पत्ति चाहते हैं, और पितर स्वस्थ परिपुष्टि तथा धार्मिक सन्तानें चाहते हैं।]

१२. श्रुत्क॑र्णाय क॒वये॒ वेद्या॑य॒ वचो॑भिर्वा॒कैरुप॑ यामि रा॒तिम् ।
यतो॑ भ॒यमभ॑यं॒ तन्नो॒ अ॒स्त्वव॑ दे॒वानां॑ यज॒ हेडो॒ अग्ने ॥४॥

(श्रुत्कर्णाय) स्तुतियों-प्रार्थनाओं का श्रवण करनेवाले, (कवये) वेद-काव्यों के कवि, (वेद्याय) जिज्ञासितव्य तथा प्रापणीय परमेश्वर की प्राप्ति के लिये मैं (वचोभिः) निज वचनों द्वारा, तथा (वाकैः) वैदिक वाक्यों द्वारा (उप) उपासनापूर्वक (रातिम्) वरदान की (यामि) याचना करता हूं। तथा याचना करता हूं कि (यतः भयम्) जहां से भय की आशङ्का हो,

(तत्) वह स्थान (नः) हमारे लिये (अभयम् अस्तु) भयरहित हो जाय। तथा (अग्ने) हे जगत् के अग्रणी! (देवानाम्) क्रीड़ाशील इन्द्रियों के (हेडः) क्रोध को (अव यज) हम में यज्ञ भावना उत्पन्न करके, नीचा कर दीजिये, शान्त कर दीजिये।

[श्रुत्कर्णाय=परमेश्वर "अकाय" है—"अकायमव्रणम्" (यजु० ४०।८) इसलिये परमेश्वर के कान आदि इन्द्रियां नहीं। इसलिये "श्रुत्कर्ण" का अर्थ है श्रुत् श्रवण करोतीति" श्रुत्=श्रु(श्रवणे)+क्विप्+तुक्। कर्णः=करोति इति कर्णः। उणादिकोश तथा निरुक्त में कर्णपद की व्युत्पत्तियां भी भिन्न-भिन्न हैं। अथवा "श्रुत्कर्णाय" में लुप्तोपमा है, अर्थात् कानों वाला व्यक्ति जैसे प्रार्थना-वचनों को सुनता है, वैसे परमेश्वर विना कानों के प्रार्थना वचनों को सुनता है। यथा "स शृणोत्यकर्णः" (श्वेताश्व० उप० ३।१९)। यामि=याच्ञाकर्मा (निघं. ३।१९) देवानाम्=दिव् क्रीड़ा। विषयों में क्रीडनशील इन्द्रियां। यथा "नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्" (यजु० ४०।४) की व्याख्या में (देवाः) चक्षु आदि इन्द्रियां (महर्षि दयानन्द)। हेडः=मन और आत्मा को विषयों की ओर बलात्कार से ले जाना, यह ऐन्द्रियिक क्रोध है। अवयज=जीवन को यज्ञ जानकर यज्ञियभावना से जीवन यापन करना, यज्ञ है। इसके द्वारा देवों के क्रोध से मुक्ति मिलती है। मन्त्र में अग्नि पद के द्वारा "ईश्वरार्थ" प्रधान है।]

सूक्त ४

१-४ अथर्वाङ्गिराः। अग्निः।

१३. यामाहुतिं प्रथमामथर्वा या जाता या हव्यमकृणोज्जातवेदाः।
तां त एतां प्रथमो जोहवीमि ताभिष्टुप्तो वहतु हव्यमग्निरग्नये स्वाहा ॥१॥

(अथर्वा) अचल कूटस्थ, (जातवेदाः) उत्पन्न प्रज्ञ परमेश्वर ने, जगन्निर्माणयज्ञ में (याम्) जिसे (प्रथमाम् आहुतिम्) प्रथम आहुतिरूप (अकृणोत्) किया, और (याः याः जाताः) जिन-जिन नवजात आहुतियों को [उत्तरोत्तर तत्त्वों के उत्पादन में] उस ने (हव्यम्) हविरूप (अकृणोत्) किया, (ताम्) तत्सदृश (एताम्) इस निज आहुति को, (प्रथमः) सर्वप्रथम मैं

(ते) हे परमेश्वर ! आप के प्रति (जोहवीमि) समर्पित करता हूं । (स्तुप्तः) त्रिपाद-रूप में जगद्रचना से ऊपर उठा हुआ (अग्निः) जगत् का अग्रणी परमेश्वर (ताभिः) उन मेरी आहुतियों द्वारा प्रसन्न होकर (हव्यम्) मेरी हवि को (वहतु) प्राप्त करे, स्वीकार करे । (अग्नये) जगदग्रणी के प्रति (स्वाहा) मैं आहुतियां समर्पित करता हूं ।

[अथर्वा=थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरु. ११।२।१६)। जातवेदाः=**जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः** (निरु. ७।५।१५) । स्तुप्तः=ष्टुप् उच्छ्राये (Raised; lifted up)। यथा—"**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः**)"(यजु०४०।४)**अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरु० ७।४।१४)। आहुति. =मन्त्र में इसका अभिप्राय है—"आकूतिः", जैसा कि इस सूक्त के अगले मन्त्रों में वर्णन है । आकूति=शुभ दृढ़-संकल्प । महाप्रलयानन्तर, सृष्टयारम्भ में, प्रथम ईश्वर ने ईक्षण किया । **तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेति, तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति, तदपोऽसृजत । ता आप ऐक्षन्त बह्वचः स्याम प्रजायेमहीति, ता अन्नमसृजन्त** (छा. उप. अध्या०६, खं.२)। इस खण्ड में "ऐक्षत" पद का प्रयोग ३वार हुआ है । ३तत्त्वों के सर्जन में, अर्थात् तेजः आपः और अन्नम् इन के सर्जन में। सृष्टिक्रम में उत्तरोत्तर तत्त्वों के सर्जन में तीन वार "ईक्षण" का वर्णन हुआ है । प्रत्येक नव-तत्त्व के उत्पादन-काल में परमेश्वर द्वारा "ईक्षण" दर्शाया है । उपनिषदों में सृष्टयुत्पादन काल में "**अकामयत**" शब्द का भी प्रयोग हुआ है । ईक्षण के साथ "स्याम" शब्द का प्रयोग हुआ है, जो कि सृष्टयुत्पादन में "परमेश्वरीय-इच्छा का द्योतक है । अतः ईक्षण, स्याम, अकामयत शब्द निरीक्षण और इच्छा को प्रकट करते है । इस प्रबल इच्छा को ही मन्त्रों में आकूति तथा आहुति शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । प्रत्येक नवीन-तत्त्व के सर्जन के प्रारम्भ में परमेश्वर द्वारा किया गया "ईक्षण"[1] तथा इच्छा आहुति रूप हैं । आकूतिः wish, desire (आपटे)]

१४. आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥२॥

---

१. निर्माण कार्य में "ईक्षण" गौण कारण है, और इच्छा मुख्य कारण है । इसलिये इच्छा (आकूति) को प्रथमा-आहुति कहा है ।

(सुभगाम्) सौभाग्यप्रदा, (देवीम् आकूतिम्) दिव्य संकल्पशक्ति को (पुरो दधे) मैं अपने सन्मुख रखता हूं, अपना लक्ष्य बनाता हूं। यह दिव्य संकल्पशक्ति (चित्तस्य माता) स्वस्थ तथा सबल चित्त का निर्माण करती है। यह (नः) हमारे लिये (सुहवा अस्तु) सुगमता से आह्वान योग्य हो जाय। (याम्) जिस (आशाम्) इच्छा को (एमि) मैं प्राप्त करूं, (सा) वह इच्छा (मे) मेरी (केवली) सेवनीया (अस्तु) हो। (मनसि प्रविष्टाम्) मन में रहनेवाली (एनाम्) इस दिव्य संकल्पशक्ति को (विदेयम्) मैं प्राप्त करूं।

[भग=ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। सुभगा=इन श्रेष्ठ भागों की दात्री। आशाम्=आङः शासु इच्छायाम्। केवली=केवृ सेवने तथा केवली=एक काल में एक ही इच्छा होनी चाहिये, नाना नहीं। युगपत् उत्पन्न नाना इच्छाएं सफल नहीं हो सकतीं।]

१५. आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि।
अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव ॥३॥

(बृहस्पते) हे महती शक्ति के स्वामिन्! (आकूत्या) हमारी दृढ़ संकलपशक्ति के कारण (नः) हमें (उपागहि) आप प्राप्त हूजिये। (आकूत्या) हमारी दृढ़ संकल्पशक्ति के कारण (नः) आप हमें (उपागहि) अवश्य प्राप्त हूजिये। (अथ उ) तदन्तर (नः) हमें (भगस्य धेहि) भग प्रदान कीजिये। (अथ उ) और (नः) हमारे लिये आप (सुहवः) सुगमता से आह्वान-योग्य (भव) हो जाइये। [भगस्य=देखो—मन्त्र १९।४।२।]

१६. बृहस्पतिर्म आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम्।
यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान् ॥४॥

(आङ्गिरसः) मेरे अङ्गों और अङ्गरसों में व्यापक, (बृहस्पतिः) महती शक्ति के स्वामी परमेश्वर (मे) मेरी (आकूतिम्) दृढ़ संकलपशक्ति को, तथा (एतां वाचम्) इस प्रार्थना-वचन को (प्रति जानातु) जाने-पहचाने, (यस्य) जिस बृहस्पति के प्रसाद में (देवाः) विषयों में क्रीड़ा करनेवाली इन्द्रियां (देवताः) दिव्यगुणी, तथा (सुप्रणीताः) सुमार्गगामी (संबभूवुः) हो जाती हैं, (सः) वह (कामः) काम्य अर्थात् हमारी

कामनाओं का विषयभूत परमेश्वर (अस्मान्) हमें (अन्वेतु) निरन्तर प्राप्त रहे ।

[देवाः=इन्द्रियां (मन्त्र १९।३।४) । कामः=object of desire (आपटे), यथा —"सर्वान् कामान् समश्नुते" (मनुस्मृति २।६) ।]

सूक्त ५

अथर्वाङ्गिराः । इन्द्रः ।

१७. इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति ।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥१॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (राजा) राजा है (जगतः) जगत् का, (चर्षणीनाम्) मनुष्यों का, तथा दर्शनशक्तिसम्पन्न सब प्राणियों का, और (क्षमि अधि) पृथिवी में (विषुरूपम्) विविध रूप (यद् अस्ति) जो कुछ है उस का। (ततः) इसलिये (दाशुषे) दानी के लिये, अर्थात् दान करनेवाले को वह (वसूनि) धन-सम्पत्तियां (ददाति) प्रदान करता है। और (उपस्तुतः चित्) स्तुति पाए दानी-मनुष्य के सदृश वह (अर्वाक्) हम दानियों की ओर (राधः) सब के कार्यों का साधक धन (चोदत) प्रेरित करता है ।

[अभिप्राय यह कि परमेश्वर धन-सम्पत्तियां देता है ताकि धनिक उस धन-सम्पत् का दान करें, जिससे सब के कार्य सिद्ध हो सकें। राधः=धन राधृ संसिद्धौ। चित् उपमार्थे (निरु० १।२।४) । इन्द्रः=इदि परमैश्वर्ये ।

सूक्त ६

१-१६ नारायणः । पुरुषः ।

१८. सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥१॥

(पुरुषः)[1] ब्रह्माण्ड पुरी में बसा हुआ परमेश्वर (सहस्रबाहुः) अनन्त बलवीर्य वाला, (सहस्राक्षः) सर्वद्रष्टा, तथा (सहस्रपात्) सर्वगत, सर्वाधार

१. पुरुष="पुरं यो वेद ब्राह्मणो यस्याः पुरुष उच्यते" (अथर्व० १०।२।२८), में "पुर्+वस=उस=उष"=पुरुष ।

है। (सः) वह (भूमिम्) पृथिवी को (विश्वतः) सब ओर से (वृत्वा) घेर कर, (अति) और इसे अतिक्रमण करके (दशाङ्गुलम्) ५ स्थूलभूतों ५ सूक्ष्मभूतों वाले ब्रह्माण्ड में (अतिष्ठत्) स्थित हैं।

[बाहुः=बलम्, "बहु बाह्वोर्बलम्" (अथर्व० १९।६०।१)। पात् = "पादयोः प्रतिष्ठा" (अथर्व० १९।६०।२) पादों का काम है=गति करना, और समग्र शरीर का आधार होना। दशाङ्गुलम्=१० अङ्गोंवाला ब्रह्माण्ड। ५ स्थूलभूत और ५ सूक्ष्मभूत ब्रह्माण्ड के १० अंग हैं। प्रथमार्ध मन्त्र का यह अर्थ भी है कि सब प्राणियों की हजारों बाहुएं, हजारों नेत्र, तथा हजारों पाद जिसके बीच में हैं, ऐसा सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक जगदीश्वर है। पुरुषः=पूरयतेर्वा (निरु० २।१।३)।]

१९. त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः।
तथा व्यक्रामद् विष्वङ्ङशनानशने अनु ॥२॥

(त्रिभिः पद्भिः) तीन पादों की दृष्टि से परमेश्वर (द्याम्) निज दिव्य प्रकाश में (अरोहत्) प्रादुर्भूत है। और (अस्य) इस परमेश्वर का (पाद्) एक पाद (इह) इस ब्रह्माण्ड में (पुनः) बार बार (अभवत्) प्रकट होता रहता है। (तथा) और (विष्वङ्) सर्वत्र विद्यमान परमेश्वर (अशनानशने अनु) भोजन करने वाले चेतन, तथा न भोजन करने वाले जड़ जगत् पर (अनु) निरन्तर (व्यक्रामत्) अपना विक्रम किये हुए है।

[अरोहत्= रुह् प्रादुर्भावे। द्याम् =द्यौः द्योततेः दीप्तिकर्मणः।]

२०. तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

(तावन्तः) उतने अर्थात् भूमि और दशाङ्गुल समग्र जगत्, अशन और अनशन वाले प्राणी अप्राणी (अस्य) इस परमेश्वर के (महिमानः) महत्व के सूचक हैं। (पुरुषः) परिपूर्ण परमेश्वर (ततः) उन सब से (ज्यायान्) अति प्रशंसित और बड़ा है। (विश्वा भूतानि) भूत भौतिक सब पदार्थ (अस्य) इस परमेश्वर के (पादः) एक अंशरूप हैं। और (अस्य) इस जगत्स्रष्टा के (त्रिपाद्) तीन अंश, (अमृतम्) नाशरहित महिमा वाले, (दिवि) परमेश्वर के द्योतनात्मक अपने स्वरूप में हैं।

[अमृतम्=मरणधर्मा जगत् के सम्पर्क से रहित। भावार्थ -"यह सब सूर्य चन्द्र तथा लोक लोकान्तर चराचर जितना जगत् है, वह सब चित्र-विचित्र रचना के अनुमान से परमेश्वर के महत्त्व को सिद्ध कर, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयरूप से तीन काल में घटने-बढ़ने से भी परमेश्वर के एक चतुर्थांश में ही रहता है, किन्तु इस ईश्वर के चौथे अंश की भी अवधि को नहीं पाता, और इस ईश्वर के सामर्थ्य के तीन अंश अपने अविनाशी मोक्षस्वरूप में सदैव रहते हैं। इस कथन से उस ईश्वर का अनन्तपन नहीं बिगड़ता, किन्तु जगत् की अपेक्षा उस का महत्त्व और जगत् का न्यूनत्व जाना जाता है" (यजु० ३१।३)। महर्षिदयानन्द भाष्य।]

२१. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह ॥४॥

(पुरुषः) ब्राह्माण्ड-पुरी में बसा हुआ, तथा सत्य गुण कर्म स्वभावों से परिपूर्ण परमेश्र (एव) ही (इदं सर्वम्) इस सब प्रत्यक्ष जगत् को, (यद् भूतम्) तथा जो उत्पन्न हुआ, (च) और (यत् भाव्यम्) जो उत्पन्न होने वाला है, —उसे रचता हैं। (उत) तथा वह ही (अमृतत्वस्य) अविनाशी मोक्षसुख का (ईश्वरः) अधीश्वर है, (यत्) जो मोक्षसुख कि (अन्येन) जीवात्मा से भिन्न अर्थात् शरीर के (सह) साथ रहते या सहायता द्वारा जीवात्मा को (अभवत्) प्राप्त होता है। [शरीर के रहते योगाभ्यास द्वारा मोक्ष-प्राप्ति होती है। अथवा जो मोक्षसुख (अन्येन) ईश्वर से अन्य जीवात्मा के (सह) साथ (अभवत्) सम्बद्ध होता है, अर्थात् मोक्षसुख मन्म-मरण आदि का सम्बन्ध जीवात्माओं के साथ हैं, परमेश्वर तो मोक्ष-सुख आदि का नियामक है।]

२२. यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥५॥

हे विद्वानो! (यत्) जो तुम (पुरुषम्) पूर्ण परमेश्वर को (व्यदधुः) हृदयों में विशेषरूप से धारण करते हो, उसके सम्बन्धवाली सृष्टि में तुम (कतिधा) कितने प्रकार की (व्यकल्पयन्) विशिष्ट कल्पनायें करते हो? अर्थात् (अस्य) इस परमेश्वर की सृष्टि में (मुखम्) मुख के समान श्रेष्ठ (किम्) कौन कहा जाता हैं? (बाहू) भुजबल का धारण करनेवाला (किम्)

कौन कहा जाता है? (उरू,पादा=पादौ) जंघाओं के कार्य करनेवाले, और पावों के समान निचले (किम्) कौन (उच्येते) कहे जाते हैं ? [महर्षि दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद ३१।१० के आधार पर अर्थ किया है ।]

२३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।६।।

(अस्य) इस ईश्वर की सृष्टि में (ब्राह्मणः) वेद और ईश्वर का ज्ञाता (मुखम्) मुख के तुल्य उत्तम ब्राह्मण (आसीत्) है। (बाहू) भुजाओं के तुल्य बलपराक्रम युक्त (राजन्यः) प्रजानुरञ्जक क्षत्रिय (अभवत्) हुआ है। (यत्) जो (अस्य) इसकी सृष्टि में (मध्यम्) शरीर के मध्य भाग के सदृश खान-पान की व्यवस्था करनेवाला है (तत्) वह (वैश्यः) सर्वत्र व्यापार के लिये प्रवेश करनेवाला वैश्य है। (पद्भ्याम्) पावों के समान नीचे रहकर समाज का आधार बनने से (शूद्रः) शूद्र (अजायत) प्रकट हुआ है। [पद्भ्याम्=पादयोः प्रतिष्ठा (अथर्व०१६।६०।२) । प्रतिष्ठा= आधार। महर्षि दयानन्द के भाष्यानुसार अर्थ किया है।]

२४. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ।।७।।

(मनसः) मन को लक्ष्य करके (चन्द्रमाः) चान्द (अजायत) प्रादुर्भूत हुआ। (चक्षोः) चक्षु को लक्ष्य करके (सूर्यः) सूर्य (अजायत) प्रादुर्भूत हुआ। (मुखात्) मुख को लक्ष्य करके (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र और अग्नि प्रादुर्भूत हुये। (प्राणात्) प्राण को लक्ष्य करके (वायुः) वायु (अजायत) प्रादुर्भूत हुई।

२५. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ।।८।।

(नाभ्याः) नाभि को लक्ष्य करके (अन्तरिक्षम् आसीत्) अन्तरिक्ष हुआ। (शीर्ष्णः) शिर को लक्ष्य करके (द्यौः) द्युलोक (समवर्तत) सम्यक् वर्तमान हुआ। (पद्भ्याम्) पैरों को लक्ष्य करके (भूमिः) पृथिवी प्रकट हुई। (श्रोत्रात्) श्रोत्र को लक्ष्य करके (दिशः) दिशाएं प्रकट हुईं। (तथा)

इस प्रकार विद्वान् लोग (लोकान्) लोक-लोकान्तरों को (अकल्पयन्) कल्पना करते हैं।

[मन्त्र १९।६।६-८, राजन्यः="सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत" (अथर्व० १५।८।१) अर्थात् उस व्रात्य अर्थात् प्रजापालन—व्रतधारी राजा ने प्रजा का रञ्जन किया, उसे प्रसन्न किया। तत्पश्चात् वह राजन्य हुआ। कवि ने कहा है कि "राजा प्रकृतिरञ्जनात्" अर्थात् प्रजाओं के रञ्जन से शासक को राजा कहते हैं। राजन्य पद में प्रजाओं के रञ्जन की भावना निहित है।

मन्त्र ६ में प्रजावर्गों का वर्णन एक-शरीर के रूप में किया गया है। अंग्रेजी में इसे Organic-whole कहते हैं। तभी ब्राह्मण को मुख, राजन्य को बाहू, वैश्य को शरीर का मध्यभाग और शुद्र को पादौ कहा है। मुख बाहू मध्यभाग तथा पाद मिलकर एक शरीर बनता है। मुख से अभिप्राय मुख-सहित सिर का है; बाहू से दोनों भुजाओं और इन के बीच की छाती का; मध्य से पेट तथा जंघाओं का; तथा पादौ से अभिप्राय पैरों का है। अभिप्राय यह है कि शरीर में मुख आदि अवयव जैसे पारस्परिक सांमञ्जस्य संज्ञान तथा समन्वय में कार्य करते हैं, वैसे समाज-शरीर में ब्राह्मण आदि वर्गों, तथा समाज के अन्य भेदोपभेदों में पारस्परिक सहानुभूति, परोपकारिता, परस्पर प्रेम और परस्पर वर्ताव आदि की भावनाएं होनी चाहियें।]

[मन्त्र ७,८—मनसः=मन अधिक वेगवान् है। इसलिये परमेश्वर की वेगवत्ता या सर्वव्यापकता का वर्णन "मनसो जवीयः" द्वारा किया गया है (यजु० ४०।४)। चन्द्रमा भी नक्षत्रमण्डल में सर्वाधिक वेग वाला प्रतीत होता है। इसीलिये आधिदैविक सृष्टि में चन्द्रमा का सम्बन्ध मन के साथ दर्शाया है। चन्द्रमा मनसो जातः=मनो लक्ष्यीकृत्य चन्द्रमा जातः। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। चक्षु तेजः प्रधान है। इसलिये तेजोमय सूर्य का सम्बन्ध चक्षुः के साथ दर्शाया है।

मुख के दो काम हैं। शब्द बोलना और मुख में चबाए ग्रास को भस्मीभूत कर देना। इन्द्र का अर्थ है—विद्युत्। विद्युत गर्जती है, शब्द पैदा करती है। अग्नि जलाकर वस्तु को भस्मीभूत कर देती है। इसलिये विद्युत् और अग्नि का सम्बन्ध मुख के साथ दर्शाया है। वायु का सम्बन्ध प्राण के साथ दर्शाया है। प्राण का अभिप्राय है—प्राणवायु, जो कि नासिका द्वारा शरीर में विचरती है।

नाभि शरीर का मध्यभाग है। इसलिये द्युलोक और भूलोक के मध्यवर्ती अन्तरिक्ष का सम्बन्ध नाभि के साथ दर्शाया है।

सिर ज्ञान-प्रकाश का स्थान है। द्युलोक भी प्रकाशमय है। इसलिये द्यौः का सम्बन्ध सिर के साथ दर्शाया है।

भूमि नीचे है, "पादौ" भी शरीर के निचले भाग हैं। इसलिये भूमि का सम्बन्ध "पादौ" के साथ दर्शाया है। श्रोत्र का सम्बन्ध दिशा के साथ दर्शाया है। शब्द सुनते ही ज्ञान हो जाता है कि शब्द किस दिशा से आया है। "शब्दवेधी बाण" की सफलता इसीलिये होती है, चूंकि शब्द का दिशा के साथ सम्बन्ध है।

अकल्पयन्=उपर्युक्त सब वर्णन कवितारूप में कल्पनामात्र है, वास्तविक नहीं। कल्पना का प्रयोजन निम्नलिखित है—

कवि की कल्पना में कोई प्रयोजन होता है। वेद दर्शाता है कि आधिदैविक सृष्टि भी एक संगठित शरीररूप है, एक organic whole है। मन्त्र ६ में आधिभौतिक दृष्टि से समाजशरीर का वर्णन है। मन्त्र ७,८ में आधिदैविक जगत् को एक शरीर कहने का यह अभिप्राय है कि जैसे वैयक्तिक शरीर के अवयव परस्पर में सांमञ्जस्य में संगठित हैं, और इस वैयक्तिक-संगठित शरीर का संचालक जीवात्मा है, वैसे ही इस आधिदैविक शरीर के भी अवयव परस्पर में सांमञ्जस्यरूप में संगठित हैं, और इस का भी संचालक एक आत्मा है, जिसे कि परमात्मा कहते हैं।]

२६. विराडग्रे समभवत् विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥९॥

(अग्रे) सर्जनकाल के प्रारम्भ में (विराट्=वि+राजृ दीप्तौ) प्रदीप्त अण्ड (समभवत्) प्रकट हुआ, (विराजः) प्रदीप्त अण्ड का (अधि) अधिष्ठाता (पूरुषः) परिपूर्ण परमेश्वर था। (जातः सः) उत्पन्न हुआ वह प्रदीप्त अण्ड (अति अरिच्यत) अत्यन्त-खण्डों में बिभक्त हुआ। (पश्चात्) तत्पश्चात् (पूरुषः) परिपूर्ण परमेश्वर ने (भूमिम्) भूमि को, (अथ उ) और तत्पश्चात् (पुरः) प्राणियों के शरीरों को अमैथुनी-सृष्टि के रूप में, पैदा किया।

['विराट्' का अभिप्राय है विशेषरूप में चमकता हुआ अण्ड । यथा "तदण्डमभवत् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम्" (मनुस्मृति) । अर्थात् वह अण्डाकार तत्त्व सुवर्ण समान वर्णवाला था, और सूर्य के समान प्रभा से संयुक्त था। छान्दोग्य उपनिषद् में भी अण्डाकार तत्त्व से जगत् की उत्पत्ति कही है। यथा "तत् सद् आसीत् तत् समभवत्, तदाण्डं निरवर्तत" । (अध्याय ३, प्रपाठक ३, खण्ड १९)।"अर्थात् आदित्यसम चमकता हुआ बृहत्तत्त्व पहिले असत् अव्याकृत स्वरूप था। वह व्याकृतरूप हुआ और प्रकट हुआ, वह अण्डाकार निर्मित हुआ" । "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" (ऋ० १०।१२१।१) में भी "हिरण्य" का अभिप्राय हिरण्यवर्णी अण्ड ही सम्भव है। इस हिरण्यवर्णी अण्ड को मनु ने "हैम अण्ड"[1] कहा है। वर्तमान वैज्ञानिक इस 'हैम अण्ड" को "Nebula" कहते हैं, जोकि नभस् अर्थात् मेघ के सदृश आकाश में फैला हुआ था। अत्यरिच्यत = अति + रिचिर् विरेचने, तथा रिच् वियोजने। अर्थात् विरेचन के सदृश वह अण्ड नाना ताराओं आदि में विभक्त हो गया। अर्थात् इस अण्ड का अति विरेचन हुआ। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र भी प्रकाश डालता है। यथाः—

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ।। १०।७२।६।।

अर्थात् हे द्युतिसम्पन्न तत्त्वो ! जो तुम उस गतिमान् विराट् या हैम अण्ड में अत्यन्त हलचल करते हुए स्थित थे, उस अवस्था में मानो नाचते हुए तुम से तीव्र-रेणु अलग हुआ।

इस मन्त्र में विराट या अण्ड में स्थित द्युतिसम्पन्न तत्त्वों को अत्यन्त हलचल की अवस्था में नाचते हुए दर्शाया है, और इन्हीं द्युतिसम्पन्न तत्त्वों से तीव्र रेणुरूप नक्षत्रों और तारागणों का पृथक होना दर्शाया है। सलिले = **सलति गच्छतीति सलिलम्** (उणा० १।५४)। सुसंरब्धाः = सु + संरब्धाः (Excited, agitated, आपटे)। तीव्र = Violent, hot, warm (आपटे)।

१. "ब्रह्माण्ड" पद में भी "ब्रह्म का अण्ड" अर्थ प्रतीत होता है। इसलिये अण्डाकार प्रदीप्त तत्त्व, "विराट्" का अर्थ अधिक उपयुक्त है। ब्रह्माण्ड का अर्थ जगत् भी है। यह समग्र जगत् भी ब्रह्म अर्थात् बृहत् अण्डाकार में विस्तृत है। या यह जगत् भी ब्रह्म का "बृहत् अण्ड" है। "मार्तण्ड" शब्द भी सूर्य की अण्डाकारता का द्योतक है।

तारागण उग्ररूप हैं, तीव्र हैं। यथा —"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" (यजु० ३२।६)। अपायत=अप (पृथक्)+आयत (अय् गतौ)। अप+आयत, और अति+अरिच्यत इन का एक ही अभिप्राय हैं, ये समानार्थक हैं। वर्त्तमान वैज्ञानिक जगदुत्पत्ति में "Big bang" Theory का पक्ष-पोषक है। "Bang" का अर्थ है—"भंग"=भग्न होना, विभक्त होना। इसे छान्दोग्य-उपनिषद् ने "तत् निरभिद्यत" (अध्या० ३।प्रपाठक ३। खण्ड १६) द्वारा प्रकट किया है। "निरभिद्यत" का अर्थ है—फटा, विभक्त हुआ। यही भावना अति+अरिच्यत और अप+आयत शब्दों द्वारा प्रकट की गई है। फटाव, विभाग या निर्भेद होने पर शब्द होता है। इसलिये अतिरेचन या अपायन सिद्धान्त को Explosion-Theory भी कहते हैं। 'Big bang' का अभिप्राय है—"महाविस्फोट"।"Tata institute of Fundamental Research" विभाग के दो विज्ञानवेत्ताओं डाक्टर विजय कपाही और डाक्टर गोविन्द स्वरूप ने रेडियो दूरदर्शक द्वारा परिणाम निकाला है कि—"The universe had a beginning some 10,000 to 20,000 million years ago, and it was likely to end too, according to two scientists of the said institute. They have based their assertion on data recarded with the help of the best giant-sized radio telescope in the world. This had added scientific credence to the "Big bang" theory of cosmology that the entire universe was contained in a primordial fire which exploded 10,000 to 20,000 million years ago, and has been expanding since then (Hindustane Times). लेखक—हरीश भनोट। अभिप्राय यह है कि—"टाटा के मौलिक अनुसन्धान विभाग के उपरिलिखित दो वैज्ञानिकों ने कहा है कि संसार का प्रारम्भ लगभग १० हजार से २० हजार मिलियन (मिलियन=१० लाख) वर्ष पूर्व हुआ था। और यह सम्भव है कि संसार किसी समय समाप्त भी हो जायगा। संसार में सब से बड़े "रेडियो-दूरदर्शक यन्त्र" की सहायता द्वारा वे वैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुंचे हैं। इस से संसारोत्पत्ति की "Big bang" (महाविस्फोट) की कल्पना को प्रामाणिकता प्राप्त हुई है कि यह समग्र संसार किसी समय मूलतः अग्निमय था, जिस का कि उपर्युक्त वर्षों पूर्व महाविस्फोट हुआ था। और जो कि तब से अधिकाधिक फैलता जा रहा है"। मिलियन=१०००००० (दस लाख) X १०००० (दस हजार)=

१०००००००,०००० (दस अरब) वर्ष पूर्व । या १००००००X२००००=
२००००००,०००० (बीस अरब) वर्ष पूर्व ।]

२७. यत् पुरुषेण हुविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥१०॥

(यत्) जब (पुरुषेण हविषा) पूर्ण परमेश्वररूपी हवि द्वारा (देवाः) दिव्यगुणी साध्य और वसु (यज्ञम्) परमेश्वरीय ध्यान-यज्ञ (अतन्वत) करते हैं, तब (अस्य) इस ध्यानयज्ञ के सम्बन्ध में (वसन्तः) वसन्त ऋतु (आज्यम्) घी (आसीत्) होती है, (ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु (इध्मः) इन्धन होती है, और (शरद्) शरद् ऋतु (हविः) हवि होती है।

[देवाः=साध्याः वसवः (मन्त्र अगला)। परमेश्वर के ध्यान में चित्त की लगन और एकाग्रतारूपी अग्नि में परमेश्वर का बार-बार चिन्तन करना, मानो परमेश्वररूपी हवि को चित्त में प्रदीप्त लगन और एकाग्रता-रूपी अग्नि में आहुतिरूप में डालना है। इस ध्यान-प्रकर्ष द्वारा परमेश्वर प्रदीप्त हो जाता है, जैसे कि अग्नि में आहुत द्रव्याहुति प्रदीप्त हो जाती है। अब इस प्रदीप्त अर्थात् प्रकाशित या साक्षात्कृत परमेश्वराग्नि में आज्य इन्धन और हवि समर्पित कर इस ध्यानयज्ञ को सम्पूर्ण करना होता है। इस ध्यानयज्ञ में वर्ष की तीन ऋतुएं क्रमशः आज्य इन्धन और हवि होती हैं। इन तीन ऋतुओं में अर्थात् एक वर्ष में यह ध्यानयज्ञ सम्पूर्ण हो जाता है। इस एक वर्ष में परमेश्वरीय साक्षात्कार कर उसके प्रति आत्मसमर्पण कर देना होता है। इसके लिये उग्र श्रद्धा, लगन, उग्र अभ्यास, उग्र वैराग्य आदि साधनों की अपेक्षा होती है। तब यह ध्यानयज्ञ एक वर्ष में सम्पूर्ण हो सकता है। घृताहुति द्वारा अग्नि शीघ्र प्रचण्ड हो जाती है। वसन्त ऋतु में प्रकृति की श्रीशोभा को देखकर श्री और शोभा के स्वामी का भान होता है। इन्धन गर्मी पैदा करता है, इसलिये ग्रीष्म ऋतु द्वारा परमेश्वर के रौद्र रूप का भान होता है। शरद् ऋतु में वैदिक भोजन "चावल" उत्पन्न होते हैं, इस अन्न के होने से जगत् के अन्नपति का भान होता है।]

२८. तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥११॥

(अग्रशः) समक्ष (जातम्) प्रकट हुए (तम्) उस (यज्ञम्)

पूजनीय (पुरुषम्) पूर्ण परमेश्वर को, (ये साध्याः वसवः च) जो योग-साधना-सम्पन्न, तथा ऋषि-कोटि के वसु आदि ब्रह्मचारी हैं, वे (प्रावृषा) भक्तिरस की प्रकृष्ट वर्षा द्वारा (प्रौक्षन्) सींचते हैं। और (देवाः) ये दिव्य साध्य और वसु (तेन) इस विधि द्वारा (अजयन्त) परमेश्वरोपासनारूपी यज्ञ रचाते हैं।

[यजुर्वेद में "साध्या ऋषयश्च ये" पाठ है (अ०३१। मं० ६)। इस लिये वसवः का अर्थ किया है "ऋषि-कोटि के वसु आदि ब्रह्मचारी, वसु रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी। यज्ञम्=यज् देवपूजा।]

२९. तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥१२॥

(अश्वाः) घोड़े तथा (ये) जो (के) कोई (च) और गदहा आदि (उभयादतः) दोनों ओर ऊपर-नीचे दांतों वाले हैं, वे (तस्मात्) उस परमेश्वर से (अजायन्त) पैदा हुए हैं। (तस्मात्) उसी से (गावः) गौएं (ह) निश्चय करके (जज्ञिरे) उत्पन्न हुईं, और (तस्मात्) उसी से (अजावयः) बकरियां भेड़ें (जाताः) उत्पन्न हुईं।

["गावः" शब्द एक ओर दांत वालों का उपलक्षक है। इस के द्वारा अन्य भी एक ओर दांतवाले लिये जाते हैं। (यजुर्वेद ३१।८) महर्षि-भाष्य।]

३०. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥१३॥

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) अत्यन्त पूजनीय, (सर्वहुतः) जिस के लिए सब लोग समस्त पदार्थों को देते वा समर्पण करते, उस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। (तस्मात्) उस परमात्मा से (ह) निश्चय से (छन्दः) अथर्ववेद के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। और (तस्मात्) उससे (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न हुआ है। [सर्वहुतः=सर्व+हु (दाने)+क्विप्, तुक्।]

३१. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥१४॥

(सर्वहुतः) जो सब के द्वारा ग्रहण किया जाता, (तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय परमात्मा से (पृषदाज्यम्) दधि-घृत आदि भोगनेयोग्य वस्तुएं (सम्भृतम्) सम्यक् उत्पन्न हुईं। तथा (ये) जो (वायव्यान्) वायु में रहनेवाले, (आरण्यान् ग्राम्यान् पशून्) वन्य और ग्राम के पशु हैं, (तान्) उन्हें (चक्रे) परमात्मा ने उत्पन्न किया।

[सर्वहुतः=सर्व+हु (आदाने)+क्विप्, तुक् (यजु० ३१।६), महर्षि दयानन्द। अभिप्राय यह है कि दधि और घृत यद्यपि पशुदुग्धजन्य हैं, तो भी दूध का दधिरूप में विकृत होना, तथा दधि से घृत प्रकट होना परमेश्वरकृत नियमों पर ही अवलम्बित है। दूध दधि घृत उन्हीं पशुओं से मिलता है, जो अन्तरिक्ष के वायुमण्डल के आश्रय रहनेवाले हैं, और ये पशु अरण्य तथा ग्राम-वासी होते हैं।]

३२. स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिध॑ः कृ॒ताः ।
दे॒वा यद् य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥१५॥

(यत्) जिस (यज्ञम्) मानस-ज्ञानयज्ञ तथा ध्यानयज्ञ को (तन्वानाः) विस्तृत करते हुये (देवाः) ध्यानी तथा विद्वान् लोग (पशुम्) जाननेयोग्य तथा सर्वद्रष्टा (पुरुषम्) परमात्मा को हृदय में (अबध्नन्) बांधते हैं, (अस्य) इस ज्ञानयज्ञ तथा ध्यानयज्ञ के (सप्त) सात गायत्री आदि छन्द (परिधयः) सब ओर से धारण-पोषण करनेवाले (आसन्) हैं। (त्रिः सप्त) इक्कीस अर्थात् प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पांच सूक्ष्मभूत, पांच स्थूलभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियां और सत्त्व रजस् तमस् ये तीन गुण (समिधः) इस यज्ञ के सामग्रीरूप (कृताः) किये हैं, साधनरूप किये हैं। [इक्कीस समिधाएं महर्षि दयानन्द द्वारा उपर्युक्त दर्शाई गई हैं।]

३३. मू॒र्ध्नो दे॒वस्य॑ बृह॒तो अ॒ंशव॑ः स॒प्त स॑प्त॒तीः ।
रा॒ज्ञः सोम॑स्याजाय॒न्त जा॒तस्य॒ पुरु॑षा॒दधि॑ ॥१६॥

(पुरुषात् अधि) परिपूर्ण परमेश्वर से (जातस्य) उत्पन्न हुए (मूर्ध्नः) सौरमण्डल के शिरोमणि, (देवस्य) प्रकाशमान, (बृहतः) सौरमण्डल में सब से बड़े सूर्य की (सप्ततीः सप्त) ७० सप्तक (अंशवः) रश्मियां (राज्ञः) प्रदीप्त (सोमस्य) चन्द्रमा की भी (अजायन्त) हो जाती हैं।

[देवस्य=देवो द्योतनात् (निरु. ७।४।१५)। अंशवः= किरणें,

रश्मियां । राज्ञः=राजृ दीप्तौ । सोमस्य=चन्द्रमसः । सप्त सप्ततीः=सूर्य की किरणें,जो भूमि पर पड़ती हैं,वे श्वेत होती हैं । इन्हें जब Prism अर्थात् स्फटिक-मणि में से गुजारा जाता है,तो सूर्य की श्वेत किरणें ७रंगोंवाली हो जाती हैं । इन्हें Prismatic colours कहते हैं । ये ७रंगोंवाली किरणें क्रमशः निम्नलिखित हैं—Violet (बैंजनी), indigo (नील-रंगी), blue (आकाश जैसी नीली), green (हरी), yellow (पीली), orange (नारङ्गी रंगवाली), red (लाल) । इन सात प्रकार की किरणों के मेल से श्वेत किरण बनती है । इन सात किरणों को मन्त्र में सप्त (सप्तक) कहा है । सम्भवतः भिन्न-भिन्न स्तरों से गुजर कर आने के कारण सूर्य की किरणों के कई सप्तक होते हों, और ये सप्तति अर्थात् ७०होते हों । कतिपय सम्भवत: Violet से लघु-लघुतर तरङ्गोंवाले, और कतिपय red की अपेक्षा बृहत्-बृहत्तर लम्बी तरङ्गोंवाले । यह कल्पनामय विचार है । इस पर वैज्ञानिक अनुसंधान की आवश्यकता है । सूर्य की ही किरणें चन्द्रमा को प्रकाशित करती हैं,इसलिये चन्द्रमा पर पड़ी सौर-किरणें भी सम्भवतः सप्त सप्तती हों । वर्षा ऋतु में "इन्द्रधनुष" में ये सातरंगी किरणें स्पष्ट दिखाई देती हैं । सायणाचार्य "सप्तसप्ततीः" का अर्थ करते हैं ७×७० =४६० ; और लिखते हैं कि सूर्य सहस्रांशु है, तो भी उसकी ४६० किरणें ही चन्द्रमा पर पड़ती हैं । तथा यह भी सम्भव है कि सूर्य से पृथक् हुआ रश्मिसप्तक, मार्ग में ७०स्तरों से गुजर कर चन्द्र पर पहुंचता हो, और प्रत्येक स्तर पर रश्मिसप्तक के गुणधर्मों में परिवर्तन हो जाने से ७० सप्तक कहे गये हों ।

तथा

परिपूर्ण परमेश्वर से उत्पन्न हुये (देवस्य) प्रकाश अर्थात् ज्ञानप्रकाश के आधारभूत मूर्धा अर्थात सिर की ७० सप्तक या ७×७०अर्थात् ४६० रश्मियां अर्थात् ज्ञानतन्तु, शिरोगत सुषुम्णानाड़ी के ज्ञानतन्तु ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित (सोमस्य) चित्त में प्रकट होते हैं ।

योगदर्शन के अनुसार चित्त की संविद् अर्थात् अनुभूति हृदय में होती है । यथा "हृदये चित्तसंवित्" (३।३४) । सम्भवतः शिरोगत ७०सप्तक हृदय में भी प्रकट होकर चित्त को प्रकाशित करते हों । सोम अर्थात् चन्द्रमा का सम्बन्ध मन के साथ दर्शाया गया है । यथा "चन्द्रमा मनसो जातः" (यजु० ३१। १२) ।]

सूक्त ७

१-५ गार्ग्यः। नक्षत्राणि।

३४. चि॒त्राणि॑ सा॒कं दि॒वि रो॑च॒नानि॑ सरीसृ॒पाणि॒ भुव॑ने ज॒वानि॑।
तु॒र्मिशं॑ सुम॒तिमि॒च्छमा॑नो अहा॑नि गी॒र्भिः स॑प॒र्यामि॒ नाक॑म् ॥१॥

(चित्राणि) चित्रविचित्र, (साकम्) साथ-साथ रहनेवाले, (दिवि) द्युलोक में (रोचनानि) रोचकरूप से चमकनेवाले, (सरीसृपाणि) सर्पणकरनेवाले, (भुवने) द्युलोक में (जवानि) वेगवाले नक्षत्र हैं। (तुर्मिशम्) प्रवचनों द्वारा शीघ्र ज्ञान देनेवाले नक्षत्रविद्याविज्ञ से (सुमतिम्) नक्षत्रों का यथार्थज्ञान (इच्छमानः) चाहता हुआ मैं (गीर्भिः) प्रवक्ता के कथनानुसार (अहानि) नाना दिन-रातें (नाकम्) द्युलोक के प्रति (सपर्यामि) भेंट करता हूं।

[तुर्मिशम्=तुर् त्वरणे+मिश् शब्दे=अर्थात् शीघ्र प्रवक्ता। अहानि =अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ. ६।९।१); "अहश्च कृष्णं रात्रिः, शुक्लं चाहः" (निरु.२।६।२१)। सुमतिम्=सु+मति (मनु अवबोधने मनज्ञाने)। नाकम्=द्यौः (निरु. २।४।१४)। नक्षत्रविद्या के लिये नाना रातें द्युलोक के निरीक्षण के लिये समर्पित करनी होती हैं, ताकि नक्षत्रों को ठीक प्रकार पहिचाना जा सके। और दिन में नक्षत्र-शास्त्र का स्वाध्याय किया जा सके। चित्राणि=चित्रों की आकृतिवाले। मृगशिर, हस्त, श्रवण आदि नाम नक्षत्रों की चित्राकृतियों के सूचक हैं।]

३५. सु॒ह॒वम॑ग्ने कृत्ति॑का॒ रोहि॑णी॒ चास्तु॑ भ॒द्रं मृ॒गशि॑रः॒ शमा॒र्द्रा।
पुन॑र्वसू सू॒नृता॒ चारु॒ पुष्यो॑ भा॒नुरा॑श्ले॒षा अय॑नं म॒घा मे॑ ॥२॥

(अग्ने)[1] हे रोगों को दग्ध करनेवाले जगन्नेता परमेश्वर! आप की कृपा से (कृत्तिका रोहिणी च) कृत्तिका और रोहिणी काल (सुहवम्) ऋत्वनुकूल उत्तम हवनों अर्थात् यज्ञोंवाला (अस्तु) हो। जिससे (मृगशिरः) मृगशिर नक्षत्रकाल (भद्रम्) सुखदायी हो, और (आर्द्रा) आर्द्रा नक्षत्रकाल (शम्) रोगशामक और शान्तिदायक हो। हे परमेश्वर! आप की कृपा

१. इतात्, अक्तात्, दग्धाद्वा नीतात् शाकपूणिः। (निरु० ७।४।१४)।

से (पुनर्वसू) पुनर्वसुओं का काल (सूनृता) प्रिय और सत्य वेदवाणी के स्वाध्याय के अनुकूल हो। (पुष्यः) पुष्य[1] नक्षत्रकाल (चारु) हमारे लिये रुचिकर हो। (आश्लेषाः) आश्लेषा नक्षत्रकाल (भानुः) सौर-प्रभा से युक्त हो। और (मघाः)[2] मघानक्षत्र काल (मे) मेरे लिये या मेरे सब प्राणियों के लिये (अयनम्) आने-जाने के अनुकूल हो जाय।

[सुहवम् अस्तु=सु (सुफल)+हवः (हवन=आहुतियां, यज्ञ)। हवः=An oblation, a sacrifice (आपटे)। अभिप्राय यह है कि कार्तिक मास से आरम्भ कर, यदि ऋत्वनुकूल ओषधियों द्वारा सब लोग नियमपूर्वक यज्ञ करते रहें, तो भिन्न-भिन्न मासों में ऋतुपरिवर्तन के कारण विकार नहीं होने पाते। इस प्रकार रोगों के अभाव में जीवन सुखमय हो जाता है। कृत्तिका से नक्षत्र-गणना क्यों आरम्भ की गई, इस पर ज्योतिर्विद्याविद् अधिक प्रकाश डाल सकते हैं। कृत्तिकाः के साथ "अग्नि" का सम्बन्ध, आर्द्रा के साथ आर्द्रता की भावना से "वर्षा" का सम्बन्ध, तथा मघाः के साथ "अयन" अर्थात् उत्तरायणान्त (summer solstice) का सम्बन्ध विचारणीय है। मे=मेरे सब प्राणियों के लिये। "अहंभावना" की दृष्टि से "मेरे सब प्राणियों के लिये" यह भावना भी "मे" पद में अन्तर्निहित है। यथा="अहं सर्वः" अथर्व०१९।५१।१॥]

३६. पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् ॥३॥

(पूर्वा फल्गुन्यौ) पहिले दो फल्गुनी-नक्षत्र-तारे (च) और (अत्र) यहां अर्थात् पूर्वा फल्गुन्यौ के साथ वर्त्तमान उत्तरा फल्गुनी के दो नक्षत्र-तारे (पुण्यम्) पुण्यकर्मों के लिये हों। अर्थात् इन नक्षत्रकालों में हम पुण्यकर्म करें, या आरम्भ करें। (हस्तः) तथा हस्त-नक्षत्र-काल में भी पुण्यकर्म करें। (चित्रा)

---

१. पुष्य के दो नाम और हैं—तिष्य और सिध्य।

२. मघाः के सम्बन्ध में अथर्व० १४।१।१३ मन्त्र निम्नलिखित है—"मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते"। अर्थात् माघ में विवाह के वचन प्रेरित किये जाते हैं, और फाल्गुन में विवाह किये जाते हैं। गौः=वाक् (निघं० १।११); हन्यन्ते=हन गतौ।

चित्रा-नक्षत्रकाल (शिवा) सुखदायक तथा कल्याणकारी हो। और (स्वाति) स्वाति-नक्षत्रकाल (मे) मेरे लिये (सुखः अस्तु) सुखदायक हो। (विशाखे) विशाखा नामक तारकाद्वय (राधे) हमारे अभीष्टसाधक हों। (अनुराधा) अनुराधा-नक्षत्रकाल (सुहवा) ऋत्वनुकूल उत्तम यज्ञों से युक्त हो। (ज्येष्ठा) ज्येष्ठा-नक्षत्रकाल (सुनक्षत्रम्) सुखदायी हो। (मूलम्) मूल या मूला-नक्षत्रकाल (अरिष्ट=अरिष्टम्) हमारे लिये रोगादि से रहित हो।

[पूर्वमन्त्र से इस मन्त्र में भी "सुहवम्" का सम्बन्ध जानना चाहिये, अर्थात् ऋत्वनुकूल यज्ञों के होते उत्तरोत्तर नक्षत्रकाल मङ्गल और सुखदायक हो जायें। इसी भावना को "सुहवा अनुराधा" द्वारा प्रकट किया गया है। सुहवा=सुहवना, सुयज्ञा। अनुराधा=इस का अर्थ है—राधा-नक्षत्र के पश्चात् का नक्षत्र। इसके द्वारा सूचित होता है कि "राधे विशाखे" में नक्षत्र का नाम "राधा" है। विशाखे द्वारा राधा-नक्षत्र के शाखामय दो ताराओं का निर्देश किया है। मन्त्रों में नक्षत्रवाची शब्दों के द्वारा उन-उन के काल अभिप्रेत हैं। यथा—"नक्षत्रेण युक्तः कालः" (अष्टा० ४।२।३) द्वारा "अण्" होकर "लुबविशेषे" (अष्टा० ४।२।४) द्वारा अण् का लोप हुआ। "अरिष्टमूलम्" सम्भवतः समस्तपद हो, अरिष्टं च तत् मूलम् च"।]

३७. अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥४॥

(पूर्वाः) पहिला (अषाढाः) अषाढ़ाकाल (मे) मुझे (अन्नम्) अन्न (रासताम्) देवे। अर्थात् अषाढकाल के प्रथम-भाग में मुझे अन्नप्राप्ति हो। (देव्युत्तराः)[1] बल तथा प्राणशक्ति देनेवाली पिछली अषाढ़ाएं मुझे (ऊर्जम्) बल और प्राणशक्ति (आ वहन्तु) प्राप्त कराएं। अर्थात् पूर्वाषाढा में अन्न सेवन करने से उत्तराषाढा में बल और प्राणशक्ति प्राप्त हो जाती है। (अभिजित्) अभिजित्-नक्षत्रकाल (मे) मुझे (पुण्यम्) पुण्यकर्म (एव) अवश्य (रासताम्) प्रदान करे। अर्थात् इस काल में नवान्न प्राप्त कर मैं नवान्नेष्टि तथा अन्नदान के पुण्यकर्म अवश्य करूं। (श्रवणः) श्रवणा-नक्षत्रकाल और (श्रविष्ठाः) श्रविष्ठाओं का काल मेरी (सुपुष्टिम्) उत्तम पुष्टि (कुर्वताम्) करें।

१. देवी=देवो दानात्।

[रासताम्=अथवा अषाढाः रासन्ताम् । देव्युत्तराः=समस्तपद प्रतीत होता है—**देव्यश्च ता उत्तराश्च**। मन्त्र में पूर्वाषाढा में अन्नप्राप्ति, उत्तराषाढा में अन्न-सेवनजन्य बल और प्राणशक्ति की प्राप्ति, अभिजित्काल में अन्न के द्वारा किये गये पुण्यकर्मों, तथा श्रवण और श्रविष्ठाकाल में सुपुष्टि का वर्णन हुआ है। श्रविष्ठा को धनिष्ठा भी कहते हैं। श्रविष्ठा =श्रवः अन्ननाम (निघं० २।७), तथा धननाम (निघं० २।१०)। अन्न-प्राप्ति द्वारा धन-प्राप्ति होती है।]

३८. आ मे॑ म॒हच्छ॒तभि॑षग्॒ वरी॑य॒ आ मे॑ द्व॒या प्रोष्ठ॑पदा सु॒शर्म॑ ।
आ रे॒वती॑ चाश्व॒युजौ॒ भगं॑ म॒ आ मे॑ र॒यिं भर॑ण्य॒ आ व॑हन्तु ॥८॥

(शतभिषक्) शतभिषक्-नक्षत्रकाल (मे) मेरे लिये (महत् वरीयः) महाश्रेष्ठ (सुशर्मं) उत्तम सुख। (आ=आ वहतु) प्राप्त कराए। (द्वया) दोनों (प्रोष्ठपदा) प्रोष्ठपदा-नक्षत्रों का काल भी (मे) मुझे (सुशर्म) उत्तम-सुख (आ) प्राप्त कराए। (रेवती) रेवती-नक्षत्रकाल (च) और (अश्वयुजौ) अश्विनी-नक्षत्रकाल (मे) मुझे (भगम्) भग (आ, आ) प्राप्त कराए। (भरण्यः) भरणीनक्षत्र के काल (मे) मुझे (रयिम्) रयि (आ वहन्तु) प्राप्त कराएं।

[शतभिषक्=शतभिषज्। शतभिषज् नक्षत्र में १०० तारा हैं। यह १०० ताराओं का काल मानो १०० वैद्यों की उपस्थिति का काल है। भिषज् का अर्थ है—वैद्य,चिकित्सक। इसके द्वारा इस काल को नीरोगकाल दर्शाया है, जिसमें कि १०० वैद्य उपस्थित हैं। द्वया प्रोष्ठपदा=दोनों प्रोष्ठ-पदा अर्थात् पूर्वा-भाद्रपद्रा और उत्तरा-भाद्रपदा। भगम्=ऐश्वर्य धर्म यश और श्री। रयिम्=आध्यात्मिक और प्राकृतिक सम्पत्ति। नीरोगता में उत्तम सुख ऐश्वर्य आदि, तथा आध्यात्मिक सम्पत्तियां प्राप्त हो सकती हैं।

मन्त्रानुसार नक्षत्रगणना

१. कृत्तिकाः। २. रोहिणी। ३. मृगशिरः। ४. आर्द्रा। ५. पुनवसू। ६. पुष्यः(तिष्यः, सिद्ध्यः)। ७. आश्लेषाः। ८. मघाः। ९. पूर्वा फल्गुन्यौ। १०. उत्तरा फल्गुन्यौ। ११. हस्तः। १२. चित्रा। १३. स्वाति। १४. विशाखे या राधे। १५. अनुराधा। १६. ज्येष्ठा। १७. मूलम्। १८. पूर्वा अषाढाः। १९. उत्तरा अषाढाः। २०. अभिजित्।

२१. श्रवणः । २२. श्रविष्ठाः (धनिष्ठाः) । २३. शतभिषक् । २४. पूर्वा प्रोष्ठपदा (भाद्रपदा) । २५. उत्तरा भाद्रपदा । २६. रेवती । २७. अश्वयुजौ (अश्विनी) । २८. भरण्यः ।]

सूक्त ८

१-७ गार्ग्यः । नक्षत्राणि, ७ ब्रह्मणस्पतिः ।

३९. यानि नक्षत्राणि दिव्य१न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥१॥

(यानि) जो (नक्षत्राणि) नक्षत्र (दिवि) द्युलोक में हैं, जो कि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में [हवाई जहाज द्वारा] जाकर, (अप्सु) समुद्रों में [समुद्रीय जहाजों द्वारा] जाकर, (भूमौ) भूमि पर स्थित होकर, (नगेषु) पर्वतों पर आरूढ़ होकर, (दिक्षु) तथा भिन्न-भिन्न दिशाओं में दृष्टिगोचर होते हैं; तथा (चन्द्रमाः) चान्द (यानि) जिन नक्षत्रों को (प्रकल्पयन्) कल्पित करता हुआ (याति) उनमें गति करता है, (एतानि) ये (सर्वाणि) सब नक्षत्र (मम) मेरा (शिवानि) कल्याण करने वाले (सन्तु) हों।

[सब नक्षत्र हैं तो द्युलोक में, परन्तु एक स्थान में स्थित हुए व्यक्ति को ये सब नक्षत्र एक समय में दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। इनमें से कई तो भूमिस्तर पर स्थित हुए को दिखाई पड़ते हैं, कई समुद्रों में समुद्रिय जहाजों द्वारा दूर जाकर क्षितिज के नीचे छिपे दृष्टिगोचर होते हैं, कई पर्वतों की ऊंचाइयों पर से, कई हवाई जहाजों द्वारा अन्तरिक्ष में दूर तक उड़कर जाने से दृष्टिगोचर होते हैं; कई भिन्न-भिन्न दिशाओं में जा-जाकर दृष्टिगोचर होते हैं।

इन नक्षत्रों के विभाग की कल्पना चन्द्रमा की गति पर निर्भर है। एक दिन-रात में चन्द्रमा क्रान्तिवृत्त (Ecliptic) के जिस नियत अंश पर पहुंचता है, उसे नक्षत्र कहते हैं, जिसकी कि कल्पना उस अंश पर स्थित तारा या तारागणों द्वारा निर्दिष्ट की जाती है। यह यतः काल्पनिक है, इसलिये "प्रकल्पयन्" शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रकल्पयन् का अर्थ—"समर्थ करता हुआ" भी होता है। इन सब नक्षत्रों को शिवकारी कहा है। यह तभी सम्भव है जब कि ऋत्वनुकूल यज्ञ सब करें, और सब पुण्य-पुनीत कर्मों को सदा करते रहें।]

४०. अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे ।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ।।२।।

(अष्टाविंशानि) २८ नक्षत्रों में प्रत्येक २८ वां नक्षत्र, इस प्रकार के २८नक्षत्र (शिवानि) मङ्गलकारी, और (शग्मानि) शान्ति पहुंचाने वाले हों। और ये सब नक्षत्र अर्थात् नक्षत्रकाल (सह) मिलकर (मे) मेरे लिये (योगम्) अभीष्ट की प्राप्ति (भजन्तु) कराएं, या अभीष्ट की प्राप्ति में(सह) सहयोगी बनें। और मैं (योगम्)अभीष्ट को(प्र पद्ये)प्राप्त करूं।(च) और (क्षेमम्) प्राप्त अभीष्ट की सुरक्षा करूं, (क्षेमम्) प्राप्त अभीष्ट की सुरक्षा करूं, (च) और (योगम्) उत्तरोत्तर अभीष्टों को प्राप्त करता रहूं। (अहोरात्राभ्याम्) तथा दिन-रात जगत्स्वामी को (नमः अस्तु) नमस्कार करता रहूं।

[शिवानि शग्मानि सह=इन शब्दों द्वारा यह सूचना दी है कि सब नक्षत्र या नक्षत्रकाल मंगलकारी और शान्तिदायक हो सकते हैं, यदि समग्र प्रजाजन ऋत्वनुकूल यज्ञ करते रहें। और पुण्यकर्म करते रहें,तथा दिन-रात परमेश्वरीय नियमों के प्रतिपालन में तत्पर रहते हुए परमेश्वरोपासनाएं करते रहें। "योगं च प्रपद्ये क्षेमं च, क्षेमं च प्रपद्ये योगं च" द्वारा यह दर्शाया है कि हम अभीष्ट को प्राप्त कर उस की सुरक्षा करें। और सुरक्षा करते हुए उत्तरोत्तर अभीष्टों को पुनः-पुनः प्राप्त करते रहें।"मे"पद में एकवचन है। इस के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यकर्म का निर्देश किया है। अहोरात्राभ्याम्=तृतीयाविभक्ति, द्विवचन।]

४१. स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु ।
सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन् ।।३।।

(स्वस्तितम्) सर्वत्र कल्याण का विस्तार हो। (मे) मेरे लिये (सुप्रातः) शोभन प्रातःकाल हो, (सु सायम्) शोभन सायंकाल हो, (सुदिवम्) शोभन दिन हो, (मे) मेरे लिये (सुमृगम्) पशु सुखकर हों,(सुशकुनम्) पक्षी सुखकर (अस्तु) हों। (अग्ने) हे जगदग्रणी परमेश्वर! (सुहवम्) ऋतुयज्ञों में दी गई उत्तम आहुतियां (स्वस्ति) सब के लिये कल्याणकारिणी हों। हे परमेश्वर! (अमर्त्यम्) अनश्वर मुझ जीवात्मा को (गत्वा) प्राप्त होकर, (अभिनन्दन्) और मेरी सर्वोन्मुखी समृद्धि करते हुए आप मुझे (पुनः)

बार-बार (आय) प्राप्त हूजिये, दर्शन दीजिये। [स्वस्तितम्=स्वस्ति+तन्(विस्तारे)। पुनः=प्रत्येक उपासना में बार-बार दर्शन देना। अभिनन्दन्=अभि+नदि समृद्धौ।]

४२. अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम्।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परा तान् सवितः सुव ॥४॥

(सवितः) हे सूर्य ! तथा हे प्रेरक परमेश्वर ! (अनुहवम्) निरन्तर अर्थात् देर तक रहनेवाली खांसी को, (परिहवम्) प्रदेशव्यापी खांसी को, (परिवादम्) ज्वर में होने वाली बकवास को, (परिक्षवम्) प्रदेशव्यापी छींकों और खांसी को, अर्थात् प्रदेशव्यापी प्रतिश्याय को, (सर्वैः) तथा अन्य सब रोगों समेत (मे तान्) मेरे उन रोगों को (रिक्तकुम्भान्) मेरे शरीर-घट से रिक्त अर्थात् रेचित करके (परा सुव)सूर्य दूर करे, या हे परमेश्वर! आप दूर कीजिये।

[अनुहवम्—आदि के अर्थ अधिक विचारणीय हैं। मन्त्र में यतः सविता (=सूर्य) का वर्णन है, इसलिये प्रतीत होता है कि शरत्कालीन ज्वर और खांखी जुकाम और ज्वर में प्रलाप करने का वर्णन मन्त्र में है। ये रोग ग्रीष्म ऋतु में प्रायः कम होते हैं। इसलिये सूर्य को इन रोगों का निवारक कहा है। रोगों के निवारण में परमेश्वरीय कृपा का भी वर्णन हुआ है। अनुहवम् आदि में "हवम्" का अर्थ है--खांसते हुए आवाज का होना। ह्वेञ् शब्दे।]

४३. अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम्।
शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम् ॥५॥

(पापम्) पापी (परिक्षवम्) छींकों और खांसी के रोग को (अप) हम दूर करते हैं, और (पुण्यम्) पुण्य (क्षवम्) छींकों और खांसी का (भक्षीमहि) हम सेवन करते हैं। (पाप) हे पापी जन! (ते) तेरी (नासिकाम्) नाक को (शिवा) शिवा नामक ओषधियां, (च) और (पुण्यगः) पुण्यमार्गगामी वैद्य (अभि मेहताम्) प्रतिश्याय-स्रावण द्वारा रोगरहित करें।

[अपपापम्=परिक्षव रोग प्रदेशव्यापी (Endemic) होता है—परि (परितः व्यापी)+क्षव। सम्भवतः यह इन्लफूएन्जा रोग हो। रोग हैं

पापों के परिणाम। इसलिये "परिक्षव" को पाप कहा है। परन्तु "क्षव" अर्थात् यदा कदाचित् छींकों का आना और खांसी का होना पाप नहीं, अपितु यह पुण्यकर्मों का परिणाम है। ऐसी छींकों द्वारा नासिका की खुजलाहट कम हो जाती है,और खांसी द्वारा बलगम निकल जाती है। परिक्षव और क्षव में अन्तर है। परिक्षव दुःखदायक रोग है, जब कि क्षव रोग नहीं, क्षव स्वास्थ्यकारी है। नासिका में खुजलाहट, और गले और छाती मे बलगम का कुछ काल के लिये रुक जाना "क्षव" है।

भक्षीमहि=भज् सेवायाम्। शिवा=आंवला, हर्र, हल्दी। इन का अलग-अलग या सम्मिलित प्रयोग परिक्षव रोग का शामक प्रतीत होता है। पुण्यगः=वैद्य, जो कि परोपकाररूपी पुण्यकर्मों को करता हुआ चिकित्सा करता है, लोभ-भावना से नहीं। अभि मेहताम्=मिह सेचने। जमे जुकाम को द्रव बना कर प्रवाहित कर उसे स्वस्थ करना।]

४४. इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते।
सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥६॥

(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्माण्ड के पति (इन्द्र) परमेश्वर! (याः) जो (इमाः) ये (विषूचीः) विषूचिकाएं (वाते) वायु में (ईरते) काम्पती हैं, (ताः) उन्हें (सध्रीचीः) मेरे अनुकूल (कृत्वा) करके (मह्यम्) मेरे लिये (शिवतमाः) कल्याण करनेवाली (कृधि) कर दीजिये।

[विषूचीः=सम्भवतः विषूचिका (cholera) रोग है। विषूचिका देशभेद कालभेद और व्यक्तिभेद के कारण, तथा उग्र और मृदु आदि की दृष्टि से नानारूप है। इसके कीटाणु शुद्ध वायु में मानो मृत्युभय से काम्पते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। मन्त्र ५ और ६ में ऋतुविकारों का वर्णन हुआ है। ऋत्वनुकूल यज्ञों तथा वायु की पवित्रता के होते ये विकार नहीं होने पाते।]

४५. स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥७॥

रोगरहित होने से हे परमेश्वर! (नः) हमारा (स्वस्ति अस्तु) कल्याण हो, हमारी सत्ता उत्तम हो; (नः) हमें (अभयम्) रोगों से अभय (अस्तु) हो; और (अहोरात्राभ्याम्) दिन-रात आप के प्रति (नमः अस्तु) हमारा नमस्कार हो॥

सूक्त ६

१-१४ वसिष्ठः । बहुदैवत्यम् ।

४६. शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्व१न्तरिक्षम् ।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥१॥

(नः) हमारे लिये (द्यौः) द्युलोक (शान्ता) शान्तिप्रद हो, (पृथिवी शान्ता) पृथिवी शान्ति-प्रद हो। (इदम्) यह (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (शान्तम्) शान्तिप्रद हो । (उदन्वतीः) प्रशस्त जलवाली (आपः) नदियां समुद्र, तथा प्रशस्त जलवाले अन्तरिक्षव्यापी मेघ (शान्ताः) शान्तिप्रद हों। (ओषधीः) ओषधियां (शान्ताः सन्तु) शान्तिप्रद हों।

[उदन्वतीः=प्राशस्त्ये मतुप् । आपः=नदियां; आप्लृ व्याप्तौ, अर्थात् अन्तरिक्षव्यापी मेघ, तथा समुद्रिय जल । उदन्वत् =समुद्र ।]

४७. शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥२॥

(नः) हमारे (पूर्वरूपाणि) कर्मों के करने के पूर्वरूप अर्थात् कर्मों के करने के विचार तथा संकल्प (शान्तानि) शान्तरूप हों । अर्थात् हम शान्त-स्वभाव होकर कर्मों के करने का विचार और संकल्प करें। (कृताकृतम्) किये शुभ कर्म और न किये अशुभ कर्म (शान्तम् अस्तु) हमें शान्ति प्रदान करें। (भूतं च) भूतकाल में किये गये कर्मों के संस्कार (भव्यं च) और भविष्यत् काल में किये जानेवाले कर्मों के संस्कार (शान्तम्) शान्तिदायक हों। (सर्वम् एव) सब ही पदार्थ (नः) हमें (शम् अस्तु) शान्तिप्रद हों। [कृताकृतम्=समाहारे नपुंसकम्, एकवचनं च ।]

४८. इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥३॥

(परमेष्ठिनी) परमशक्ति जीवात्मा के आश्रय में स्थित रहनेवाली (ब्रह्मसंशिता) वेद द्वारा प्रशंसित (या) जो (इयम्) यह (देवी) दिव्यगुणों वाली (वाक्) मानुष वाणी है, (यया एव) जिसके द्वारा ही (घोरम्) घोर-

कर्म (ससृजे) किया गया है (तया एव) उस मानुष वाणी द्वारा ही (नः) हम सब को (शान्तिः अस्तु) शान्ति प्राप्त हो।

[परमेष्ठिनी[1]=परमे सर्वोत्कृष्टे जीवात्मनि तिष्ठतीति । ब्रह्मसंशिता =ब्रह्म(वेदः उणा० ४।१४७, महर्षि दयानन्द) + संशिता(प्रशंसित; यजु० ११। ८१ महर्षि दयानन्द)। यथा—"तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति"(अथर्व० ९।१०। २७)। देवी=मानुषवाणी दिव्यगुणोंवाली है, जिसके द्वारा कि मानुष प्रशस्त-व्यवहार चल रहे हैं। घोरम्=असत्यभाषण निन्दा अपलाप, कटु और कठोरभाषण ये वाणी के घोर कर्म हैं। सत्य-प्रियभाषण, परस्पर की प्रशंसा तथा आदर के वचन, परमेश्वर की स्तुति आदि वाणी के ये कर्म सब को शान्ति देते हैं।]

४९. इ॒दं यत् प॑र॒मे॒ष्ठिनं॒ मनो॑ वां॒ ब्रह्म॑संशितम् ।
येनै॒व स॑सृ॒जे घो॒रं तेनै॒व शान्ति॑रस्तु नः ॥४॥

हे स्त्री-पुरुषो! (वाम्) तुम दोनों का (इदं यत्) यह जो (परमेष्ठिनम्)[2] परमशक्ति-जीवात्मा के आश्रय में स्थिति पानेवाला, (ब्रह्मसंशितम्) वेदों में प्रशंसित (मनः) मन है, (येन एव) जिस मन द्वारा ही (घोरम्) घोरकर्म किया जाता है, (तेन एव) उस मन द्वारा ही (नः) हम सब को (शान्तिः अस्तु) शान्ति प्राप्त हो।

[मन्त्र ३ में वाक् को परमेष्ठिनी कहा है। और मन्त्र ४ में मन को परमेष्ठी कहा है। जीवन में परम-शक्ति जीवात्मा है। इसी के आश्रय वाणी और मन सक्रिय हैं। ब्रह्माण्ड में परम-शक्ति परमेश्वर है। मन की प्रशंसा या स्तुति शिवसंकल्प-मन्त्रों में पाई गई है। अशिवसंकल्पों द्वारा घोर कर्म होते हैं, और शिवसंकल्पों द्वारा शान्तिप्रद कर्म होते हैं। मन्त्र में व्यक्ति शान्तिप्रद कर्मों द्वारा शान्ति के अभिलाषी हैं।]

५०. इ॒मानि॒ यानि॒ पञ्चे॑न्द्रि॒याणि॒ मनः॑षष्ठानि मे हृ॒दि ब्रह्म॑णा संशि॑तानि । यैरे॒व स॑सृ॒जे घो॒रं तैरे॒व शान्ति॑रस्तु नः ॥५॥

१. परमे+ष्ठा+इनि (परमे कित्० उणा० ४।१०)+ङीप्।
२. परमे+ष्ठा+इनन्।

(मनःषष्ठानि) छठे मन सहित (यानि) जो (इमानि) ये (पञ्चेन्द्रियाणि) पाँच इन्द्रियाँ, (मे) मेरे (हृदि) हृदय में वर्त्तमान (ब्रह्मणा) परमेश्वर द्वारा (संशितानि) तनूकृत की जाती हैं, (यैः एव) जिनके द्वारा ही (घोरम्) घोरकर्म (ससृजे) किया गया है, (तैः एव) उनके द्वारा ही (नः) हमें (शान्तिः अस्तु) शान्ति प्राप्त हो।

[पञ्चेन्द्रियाणि=५ ज्ञानेन्द्रियां और ५ कर्मेन्द्रियां। श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वा नासिका ये ५ ज्ञानेन्द्रियां हैं। गुदा, उपस्थ, हस्त, पाद, वाक् ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। मन इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों का संचालक है। अतः मन उभयात्मक इन्द्रिय है। अशुभ विचार और अशुभ विचारों द्वारा किये गये अति विषयभोग, ये मन तथा इन्द्रियों द्वारा किये गये घोरकर्म हैं। योगविधि से मानसिक-वृत्तियों के निरोध द्वारा, तथा प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय-दमन करके शुभ कर्म किये जाते हैं। इस प्रकार जो मन और इन्द्रियां पहले घोरकर्म कराते थे, वे जब शुभ कर्म कराने वाले बन जाते हैं, तब जीवन में शान्ति प्राप्त होती है। परन्तु इसके लिये ब्रह्मोपासना अत्यन्त आवश्यक है। हृदयस्थ परमेश्वर उपासक की वृत्तियों को तनूकृत करने में सहायक होता है। यथा—"समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च" (योग २।२), तथा "अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् (योग २।४); । संशितानि=सम्+शो (तनूकरणे)+क्त। योगसूत्रों में "तनू और तनु" शब्दों का जो अभिप्राय है, वही संशितानि पद में शो तनूकरणे का अभिप्राय है। तनूकरण=सूक्ष्म करना, निर्बल करना।]

९१. शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः॒ शं विष्णुः॒ शं प्र॒जाप॑तिः।
शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पतिः॒ शं नो॑ भवत्वर्य॒मा ॥९॥

(मित्रः)[1] स्नेह करनेवाला, तथा अशिव भावनाओं द्वारा होनेवाली हिंसा से रक्षा करने वाला परमेश्वर (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हो। (वरुणः) पापों से निवारण करनेवाला परमेश्वर (शम्) शान्तिदायक हो। (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर सब ओर से (शम्) शान्तिदायक हो। (प्रजापतिः) प्रजारक्षक परमेश्वर (शम्) शान्तिदायक हो। (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) महती वेदवाणी का पति (नः) हमें (शम्)

१. मित्रः=मिद् स्नेहने+त्र (त्रैङ् पालने)।

शान्तिदायक हो। (अर्यमा) न्यायकारी परमेश्वर (नः) हम सब को (शम् भवतु) शान्तिदायक हो।

[मित्रः=मेदयतेः (मिद् स्नेहने); प्रमीतेः त्रायते (निरु० १०।२।२२), प्रमीतिः=हिंसा, मीञ् हिंसायाम्+त्रैङ पालने। वरुणः=वारयतेः। विष्णुः=विष्लृ व्याप्तौ। इन्द्रः=इदि परमैश्वर्ये। बृहस्पतिः=बृहती वाक्, तस्याः पतिः। अर्यमा=योऽर्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा। जो सत्य न्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य, और पाप तथा पुण्य करनेवालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से उस परमेश्वर का नाम "अर्यमा" है (सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास)।]

८२. शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वाञ्छमन्तकः।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः ॥७॥

परमेश्वर की कृपा से (मित्रः) दिन (नः) हमें (शम्) शान्ति प्रदान करे। (वरुणः) रात्री (शम्) शान्ति प्रदान करे। (विवस्वान्) अन्धकार-विनाशक सूर्य (शम्) शान्ति प्रदान करे। (अन्तकः) मृत्यु (शम्) शान्तरूप हो। (पार्थिवाः) पृथिवी के (आन्तरिक्षाः) और अन्तरिक्ष के (उत्पाताः) उपद्रव शान्त हों, अर्थात् क्लेशदायक न हों। (दिविचराः) द्युलोक में विचरनेवाले (ग्रहाः) पृथिवी आदि प्रसिद्ध ८ ग्रह (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों।

[मित्रः वरुणः="अहोरात्रौ मित्रावरुणौ" (तां० २५।१०।१०)। मन्त्र ६ में परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुणधर्मों का स्मरण कर परमेश्वर से शान्ति की प्रार्थना की गई है। परमेश्वर की कृपा हो जाने पर परमेश्वराधिष्ठित प्राकृतिक रचनाएं भी शान्तिप्रदान करनेवाली हो जाती हैं। यह मन्त्र ७ में कहा है। पार्थिव उपद्रव हैं—भूचाल आदि। और अन्तरिक्ष उपद्रव हैं—अवर्षा अतिवर्षा विद्युत्पात आदि।]

८३. शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत्।
शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्यतीः ॥८॥

(वेप्यमाना) भूचाल द्वारा काम्पती हुई (भूमिः) भूमि (नः) हमें

(शम्) शान्तिदायक हो, हमें हानिकर न हो। (उल्काः) उल्काओं का पात (च) और (यत्) जो (निर्हतम्) निर्घात हैं, वे (शम्) शान्तरूप हों। (लोहितक्षीराः) रक्तमिश्रित दुग्धवाली (गावः) गौएं (शम्) शान्तरूप हों, अर्थात् इस रोग से मुक्त हो जायें। (अव तीर्यतीः) धसती हुई, या पर्वतों से नीचे की ओर ढलकती हुई (भूमिः) भूमि (शम्) शान्तिप्रद हो।

[निर्हतम्=निर्घातः=**वायुना निर्हतो वायुर्गगनाच्च पतत्यधः। प्रचण्डघोरनिर्घोषो निर्घात इति कथ्यते**॥ मन्त्र ७ में दी गई व्याख्या के साथ-साथ यह भी जानना चाहिये कि जैसे धार्मिक राजा के दण्ड व्यक्ति और समाज के सुधार और शान्ति के लिये होते हैं, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और न्यायकारी परमेश्वर द्वारा प्राकृतिक घटनाओं द्वारा दिया गया कर्मानुरूप दण्ड भी व्यक्ति और समाज के सुधार द्वारा अन्ततः उस की शान्ति के लिये ही होता हैं। अथवा—उल्कानिर्हतम्=उल्कापात द्वारा चोट खाया प्रदेश। **लोहितक्षीराः**—गौ के स्तनों और ऊध में क्षत आदि रोग के कारण दूध रक्त-मिश्रित हो जाता है। अथवा—इसका अर्थ है लोह-घटित दूधवाली गौएं। लोहघटित दूध स्वास्थ्यकर होकर शान्तिदायक होता है। खाद्य-पेय वस्तुओं में लोहमात्रा स्वास्थ्यप्रद होती है।]

९४. नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।
शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥९॥

(नः) हम सब की (नक्षत्रम्) क्षात्रशक्ति अल्प हो, (उल्का) वैद्युतास्त्र और (अभिहतम्) पारस्परिक हत्याएं (शम् अस्तु) शान्त हो जायें। (नः) हमारी (अभिचाराः) पारस्परिक विनाश की भावनाएं (शम्) शान्त हो जांय। (कृत्याः) हिंस्त्रकर्म (उ) निश्चय से (शम् शन्तु) शान्त हो जांय। (नः) हमारे देशों में (निखाताः) गाड़े गये बम, तथा (वल्गाः) डाले गये सैनिक घेरे (शम्) शान्त हो जांय। (उल्काः) आग्नेयास्त्रों की ज्वालाएं तथा (नः देशोपसर्गाः) हमारे देशों के उपद्रव (उ) निश्चय से (शम् भवन्तु) शान्त हो जांय।

[नक्षत्रम्=नञ् (अल्पार्थे) +क्षत्रम् (क्षात्रशक्ति); नञः प्रकृतिभावः (अष्टा० ६।३।७५)। उल्का=**ओषति दहतीति=विद्युत्, अग्नेर्ज्वाला वा। षकारस्य लत्वम्** (उणा० ३।४२) महर्षि दयानन्द। अथवा उल दाहे। कृत्याः=कृती छेदने। वल्गाः=वल संवरणे। **वलयन्तः गच्छन्ति सैनिका**

उपरोधे। "नक्षत्रमुल्काभिहतम्"=उल्काओं द्वारा चोट खाया नक्षत्र—यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि नक्षत्रों पर उल्काप्रहार असम्भव है।]

८५. शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥१०॥

(चान्द्रमसाः) चन्द्रमा के (ग्रहाः) ग्रहण (Eclipses, आपटे) (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों। (च) और (राहुणा) राहु के साथ (आदित्यः) सूर्य (शम्) शान्तिदायक हो। (मृत्युः) मृत्युरूप (धूमकेतुः) पुच्छल तारा (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हो।(तिग्मतेजसः) प्रखरतेज वाली (रुद्राः) वायवीय तरङ्गें (शम्) शान्तिदायक हों।

[राहुणा=राहु द्वारा आदित्य को ग्रहण लगता है। इसके द्वारा आदित्य के ग्रहण को सूचित किया है। राहु=In astronomy Rahu is regarded, as one of the nine Planets, or only as the asending node of the moon. (आपटे)। तथा An eclipse or moment of occultation (आपटे)।

धूमकेतु=पुच्छल तारा (Comet)। पुच्छल तारे की गति बड़ी वक्र होती है। इस का एक घना शिरोबिन्दु होता है, जो कि चमकीली विरलवाष्प द्वारा घिरा रहता है। और इस की एक चमकीली पूंछ होती है, जो कभी शिरोबिन्दु के आगे की ओर होती है, और कभी पीछे की ओर होती है। इस की गति बहुत वक्र होती है, इस लिये सदा सम्भावना रहती है कि किसी द्युलोक के पिण्ड के साथ टकरा कर यह नष्ट न हो जाय, और उस पिण्ड को भी नुक्सान न पहुंचा दे। इस लिये इसे "मृत्यु" कहा गया है। रुद्राः=ये अन्तरिक्षस्थ प्राण हैं। इन का वर्णन "रुद्रास इन्द्रवन्तः" (ऋ० ५।५७।१) इन शब्दों द्वारा भी हुआ है। इन्द्र का अर्थ है—विद्युत्। इस लिये विद्युत् से आविष्ट वायु-तरङ्गों को "रुद्राः तिग्मतेजसः" कहा है। तिग्मतेजस्=विद्युत्। ये आधिदैविक रुद्र हैं। इन्हीं के आध्यात्मिक रूप शरीरस्थ ११ प्राण हैं, जिन्हें कि "एकादश रुद्राः" कहा जाता है।]

८६. शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥११॥

(रुद्राः) ३६ वर्षों के रुद्र ब्रह्मचारी (शम्) हमें शान्ति प्रदान करें, (वसवः) २४ वर्षों के वसुनामक ब्रह्मचारी (शम्) शान्ति प्रदान करें, (आदित्याः) ४८ वर्षों के आदित्य ब्रह्मचारी (शम्) शान्ति प्रदान करें। (अग्नयः) अग्निहोत्र तथा यज्ञों की अग्नियां (शम्) शान्ति प्रदान करें। (महर्षयो देवाः) महर्षिदेव (नः) हमें (शम्) शान्तिप्रदान करें, (देवाः) मातृदेव पितृदेव आचार्यदेव अतिथिदेव आदि दिव्यगुणी (शम्) शान्ति प्रदान करें। (बृहस्पतिः) महती वेदवाणी का पति तथा महाब्रह्माण्ड का पति परमेश्वर (शम्) शान्तिप्रदान करे। [महर्षयः=जिनके द्वारा चार वेदों का प्रकाश हुआ। इन सब के सदुपदेशों द्वारा सन्मार्गगामी होकर हम जीवनों में शान्ति-लाभ करें।]

८७. ब्रह्म॑ प्र॒जाप॑तिर्धा॒ता लो॒का वे॒दाः स॑प्तऋ॒षयो॒ऽग्नयः॑ ।
तैर्मे॑ कृ॒तं स्व॒स्त्यय॑न॒मिन्द्रो॑ मे॒ शर्म॑ यच्छतु ब्र॒ह्मा मे॒ शर्म॑ यच्छतु ।
विश्वे॑ मे दे॒वाः शर्म॑ यच्छन्तु॒ सर्वे॑ मे दे॒वाः शर्म॑ यच्छन्तु ॥१२॥

(ब्रह्म) सर्वतोमहान् परमेश्वर, (प्रजापतिः) सब प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर, (धाता) सब का धारण-पोषण करनेवाला परमेश्वर, (लोकाः) उस के रचे लोक-लोकान्तर, (वेदाः) चारों वेद, (सप्त ऋषयः) सात ऋषि, (अग्नयः) इन सात ऋषियों की ज्ञान-ज्योतियां, (तैः) उन सब ने (मे) मेरा (स्वस्त्ययनम्) स्वस्ति अर्थात् कल्याण का अयन अर्थात् मार्ग (कृतम्) निश्चित कर दिया है। इसलिये (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर या इन्द्रियों का प्रेरक जीवात्मा (मे) मुझे (शर्म) सुख (यच्छतु) प्रदान करे। (ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता (मे) मुझे (शर्म) सुख (यच्छतु) प्रदान करे। (विश्वे) सब (देवाः) देव (मे) मुझे (शर्म) सुख (यच्छन्तु) प्रदान करें। (सव) सब (देवाः) देव (मे) मुझे (शम्) सुख (यच्छन्तु प्रदान करें।

[सप्त ऋषयः="सप्त ऋषय प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५), अर्थात् सात ऋषि शरीर में निहित हैं। "षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी आत्मनि" (निरु० १२।४।३८), अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन उभयात्मक इन्द्रिय, १ विद्या अर्थात् ज्ञान—ये सात ऋषि आतमा में निहित हैं। शर्म= सुख (निघं० ३।६)। स्वस्त्ययनं कृतम्=अथवा उन्होंने मुझे कल्याण की

प्राप्ति करा दी है । अयनम्=अय् गतौ । गतेः त्रयोऽर्था—ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च ।]

८८. यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।

सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥१३॥

(सप्त ऋषयः) सप्तछन्दोमयी वेदवाणी के रहस्यार्थवेत्ता (यानि कानि चित्) जिन-किन्हीं भी (शान्तानि) शान्तिदायक कर्मों को (लोके) इस पृथिवीलोक में (विदुः) जानते हैं, (सर्वाणि) सब वे शान्तिदायक कर्म (मे) मुझे (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) हों । उन सब कर्मों को करके (मे) मुझे (शम्) शान्तिलाभ (अस्तु) हो । (मे) और मुझे (अभयम्) अभय (अस्तु) हो ।

८९. पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः । ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥१४॥

(पृथिवी) पृथिवी (शान्तिः) शान्तिदायक हो, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (शान्तिः) शान्तिदायक हो, (द्यौः) द्युलोक (शान्तिः) शान्तिदायक हो, (आपः) जल (शान्तिः) शान्तिदायक हों, (ओषधयः) ओषधियां (शान्तिः) शान्तिदायक हों, (वनस्पतयः) वनस्पतियां (शान्तिः) शान्तिदायक हों, (विश्वे) सब (देवाः) देव (मे) मुझे (शान्तिः) शान्तिदायक हों, (सर्वे) सब (देवाः) देव (मे) मुझे (शान्तिः) शान्तिदायक हों । (शान्तिभिः) सब के द्वारा दी गई शान्तियों के कारण (शान्तिः) मेरी शान्ति बनी रहे, (शान्तिः) सदा शान्ति बनी रहे । (ताभिः) उन अनवच्छिन्न (शान्तिभिः) शान्तियों के साथ, (सर्वशान्तिभिः) और सार्वत्रिक शान्तियों के साथ (अहम्) मैं और हम सब (शम्) शान्ति को (अयामः) प्राप्त हों । (इह) इस भूमण्डल में (यद्) जो (घोरम्) घोरकर्म हैं, घातक कर्म हैं, (इह) इस भूमण्डल में (यत्) जो (क्रूरम्) क्रूरकर्म हैं, हिंस्र और दुःखदायी कर्म हैं, (इह) इस भूमण्डल में (यत्) जो (पापम्) पापकर्म

हैं, (तत्) वे सब (शान्तम्) शान्त हो जायें। (तत्) वे सब (शिवम्) सब को सुखदायी हो जायें। (नः) हम सब के लिये (सर्वम्) सब कुछ (एव) ही (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो ॥ **प्रथम अनुवाक समाप्त ॥**

सूक्त १०

१-१० वसिष्ठः । बहुदैवत्यम् ।

६०. शं न॑ इन्द्राग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒ः शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या ।
शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शं योः शं न॒ इन्द्रा॑पू॒षणा॒ वाज॑सातौ ॥१॥

(इन्द्राग्नी) परमेश्वर और अग्नि (अवोभिः) निज रक्षाओं द्वारा (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (भवतम्, होवें। (रातहव्या) हव्यों अर्थात् अदनीय = भक्षणीय पदार्थों के दाता (इन्द्रावरुणा) परमेश्वर और मेघ (नः) हमें (शम) शान्तिदायक हों। (इन्द्रासोमा) परमेश्वर और जल (सुविताय) सुख-प्राप्ति के लिये तथा (शंयोः) प्राप्त रोगों के शमन तथा रोगों के भयों से अभय करके (शम्) शान्तिदायक हों। (वाजसातौ) बल के प्रदान के निमित्त (इन्द्रापूषणा) परमेश्वर और सूर्य-वायु (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों।

[मन्त्र में अग्नि आदि देवता के पूर्व सर्वत्र इन्द्र का नाम पठित है। 'इन्द्र' पद द्वारा यहां परमेश्वर अभिप्रेत है। इन्द्र = इदि परमैश्वर्ये। परम-ऐश्वर्य केवल परमेश्वर में ही विद्यमान है। इसके द्वारा यह सूचित किया है कि परमेश्वर के ही परमैश्वर्य के कारण अग्नि आदि पदार्थों में यत्किंचित् ऐश्वर्य की मात्रा है, जिसके द्वारा कि ये पदार्थ स्व-स्व कार्यों में प्रवृत्त हो रहे हैं। अवोभिः = अग्नि हमारे व्यवहारों का साधक होने से हमारी रक्षा करता है। वरुण अर्थात् मेघ देवता है जल का—"**वरुणः अपामधिपतिः**" (अथर्व० ५।२४।४), अतः वरुण जल देकर ओषधि आदि अन्नों के उत्पादन द्वारा हमारी रक्षा करता है। हव्यम् = हु अदने; **हव्यम् = अदनम्** (निरु० ११।३।३१)। सोम = सोम का अभिप्राय है जल—"**सोमो वीरुधामधिपतिः**" (अथर्व ५।२४।७)। जल के द्वारा ओषधियों में रसों की वृद्धि होती है। रसों की वृद्धि के कारण ओषधियां रोगों का शमन कर और रोगभयों से छुड़ा कर हमें सुख देती हैं। वाजसातौ = वाज = बल (निघ० २।९) + साति (षण् दाने)। पूषा = **सूर्यो वायुर्वा** (उणा० १।१५९) महर्षि दयानन्द।

वायु प्राणशक्ति देकर बल प्रदान करता है, और सूर्य समग्र शक्तियों का स्रोत है। सोम=water (आपटे)।]

६१. शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरंधिः शमु सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२॥

(भगः) ६ प्रकार का भग (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हो, (शंस) महाजनों के सुवचन (नः) हमें (उ) निश्चय से (शम् अस्तु) शान्तिदायक हों। (पुरंधिः) बहुप्रज्ञ व्यक्ति (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हो, (रायः) विविध प्रकार की आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियां (उ) निश्चय से (शम् सन्तु) शान्तिदायक हों। (सत्यस्य) सत्य का, तथा (सुयमस्य) उत्तम यम-नियमों का (शंसः) उपदेश (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हो, (पुरुजातः) न्याय करने में बहुत प्रसिद्ध (अर्यमा) न्यायाधीश (नः) हमें (शम् अस्तु) शान्तिदायक हो।

[भगः=ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥ पुरंधिः=बहुधीः (निरु० ६।३।१३)। अर्यमा =अरीन् नियच्छति (निरु० ११।३।२३)।]

६२. शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥३॥

(धाता) सब का धारण-पोषण करनेवाला परमेश्वर (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख प्रदान करे, (धर्ता) सब लोकलोकान्तरों को अपने-अपने स्थानों में स्थापित करनेवाला परमेश्वर (उ) निश्चय से (नः) हमें (शम् अस्तु) शान्ति और सुख प्रदान करनेवाला हो। (उरूची) सब को आच्छादन करनेवाली सर्वपूज्या परमेश्वरीय जगन्माता (स्वधाभिः) अन्नों द्वारा (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख प्रदान करनेवाली (भवतु) हो। (बृहती) महती (रोदसी) परमेश्वरीय रुद्र-शक्ति (शम्) शान्ति और सुख प्रदान करे, (अद्रिः) आदरणीय महाविद्वान् (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख प्रदान करे, (देवानाम्) दिव्य विद्वानों के (सुहवानि) समादरपूर्वक आह्वान अर्थात् उन्हें दिये गये समादरपूर्वक निमन्त्रण (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख देनेवाले (सन्तु) हों।

[धाता=डुधाञ् धारणपोषणयोः। धर्ता=धृङ् अवस्थाने। उरूची=ऊर्णुञ् आच्छादने+अञ्चु पूजने। स्वधा=अन्न (निघं० २।७) रोदसी=रुद्रस्य पत्नी=शक्तिः (निरु० १२।४।४६)। अद्रिः=आदरणीयः (निघं० ६।१।१)। शम्=सुखनाम (निघं० ३।६)।]

६३. शं नो॑ अ॒ग्निर्ज्योति॑रनीको अस्तु॒ शं नो॑ मि॒त्रावरु॑णाव॒श्विना॒ शम् ।
शं नः॑ सु॒कृतां॑ सुकृ॒तानि॑ सन्तु॒ शं न॑ इषि॒रो अ॒भि वा॑तु॒ वात॑ः॥४॥

(ज्योतिः अनीकः) ज्योतिःस्वरूप और प्राणदाता (अग्निः) अग्नि (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख देनेवाला (अस्तु) हो। (मित्रावरुणौ) दिनरात (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख देनेवाले हों। (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा (शम्) शान्ति और सुख देनेवाले हों। (सुकृताम्) सुकर्मियों के (सुकृतानि) सुकर्म (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख देनेवाले (सन्तु) हों। (इषिरः) सदा गतिशील (वातः) वायु (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति और सुख देती हुई (अभि वातु) हमारी ओर बहे।

[अनीकः="अनिति जीवयतीति अनीकम्" (उणा० ४।१८) महर्षि दयानन्द। अनीक शब्द उभयलिङ्गी है—पुम् और नपुंसक। मित्रावरुणौ="अहोरात्रौ मित्रावरुणौ" (तां० २५।१०।१०)। अश्विना=सूर्याचन्द्रमसौ (निरु० १२।१।१)। इषिरः=इष् गतौ। ज्योतिरनीकः=अथवा जिस के आगे-आगे ज्योति होती है ऐसी अग्नि। जब अग्नि जलती है तो उस की अग्निशिखा से बहुत दूर तक उस की ज्योति फैली हुई होती है। अनीक=सामने; Front (आपटे)।]

६४. शं नो॒ द्यावा॑पृथि॒वी पू॒र्वहू॑तौ॒ शम॒न्तरि॑क्षं दृ॒शये॑ नो अस्तु ।
शं न॒ ओष॑धीर्व॒निनो॑ भवन्तु॒ शं नो॒ रज॑स॒स्पति॑रस्तु जि॒ष्णुः॥५॥

(पूर्वहूतौ) प्रातःकाल की प्रथम-उपासना में परमेश्वरीय सहायता के आह्वान में हम प्रार्थना करते हैं कि (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी-लोक (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख के देनेवाले हों; (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (नः दृशये) हमारी दृष्टि के लिये (शम् अस्तु) शान्ति और सुख देनेवाला हो, अर्थात् अन्तरिक्ष कोहरे तथा अन्धकार और अन्धेरी के कारण हमारी दृष्टि का विघातक न हो। (ओषधीः) ओषधियां और (वनिनः) वनों के वृक्ष (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक और सुखदायक

(भवन्तु हों । (रजसः पतिः) मनोरञ्जक-भूलोक का एकाधिपति (जिष्णुः) सदा विजयी होकर (नः) हम प्रजाजनों को (शम्) शान्तिदायक और सुखदायक हो ।

६८. शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥

(देवः) दिव्यगुणों वाला (इन्द्रः) इन्द्र पदवी का आचार्य (वसुभिः) २४ वर्षों तक किये ब्रह्मचर्य वाले वसु ब्रह्मचारियों द्वारा (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक और सुखदायक (अस्तु) हो । (जलाषः) जलवत् शान्तिदायक (रुद्रः) रुद्रपदवी का आचार्य (रुद्रेभिः) ३६ वर्षों तक किये ब्रह्मचर्य वाले रुद्र ब्रह्मचारियों द्वारा (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक और सुखदायक हो । (सुशंसः) पदार्थों के गुणधर्मों का यथार्थ कथन करनेवाला सुप्रशंसनीय (वरुणः) वरुणपदवी का आचार्य (आदित्येभिः) ४८ वर्षों तक किये ब्रह्मचर्य वाले आदित्य ब्रह्मचारियों द्वारा हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक हो । (त्वष्टा) संसार के रूपों और आकृतियों का रचयिता कारीगर परमेश्वर (ग्नाभिः) वेदवाणियों द्वारा की गई हमारी प्रार्थनाओं को (इह) हमारे इन्हीं जीवनों में (शृणोतु) सुन ले, और (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हो ।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त (११।५) में ब्रह्मचारी और आचार्य का वर्णन हुआ है । ब्रह्मचर्यसूक्त के मन्त्र ११।५।१६ द्वारा प्रतीत होता है कि "इन्द्र" चतुर्थाश्रमी आचार्य है । मन्त्र निम्नलिखित है । यथा—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥

अभिप्राय यह कि—"आचार्य को पहिले ब्रह्मचारी होना चाहिये । ब्रह्मचारी के पश्चात् वह प्रजापति अर्थात् गृहस्थी होना चाहिये । प्रजापति के पश्चात् उसे विराट् अर्थात् सब प्रकार की गार्हस्थ्य दीप्तियों और शोभाओं से विगत होकर वनस्थ होना चाहिये । विराट् अर्थात् वनस्थ के पश्चात् वशी अर्थात् इन्द्रियों और मन पर पूर्ण विजयी होकर वह इन्द्र पदवी को पाए" । ऐसा इन्द्रपदवी का व्यक्ति वसु ब्रह्मचारियों का आचार्य बने । बाल्यकाल से लेकर वसुकाल तक ब्रह्मचारी ने चरित्रनिर्माण करना है । अतः इस काल के ब्रह्मचारियों के आचार्यों को "वशी इन्द्र" कहा है । रुद्र ब्रह्मचारी ३६ वर्ष के होते हैं । इन के आचार्य

को मन्त्र में रुद्र कहा है। मन्त्र में रुद्र का विशेषण है—"जलाषः"। जलाषम् = उदकम् (निघं० १।१२)। रुद्र संहारकारी है। मृत्यु भी संहारकारी है। इसलिये अथर्व० ११।५।१४ में आचार्य को "मृत्यु" भी कहा है। जलाष अर्थात् उदक शान्तिदायक है। रुद्र ब्रह्मचारियों के आचार्य को रुद्र, तथा जलाष दो रूपोंवाला होना चाहिये। वह समय पर रुद्र भी हो, और समय पर जलाष भी हो।

४८ वर्षों के आदित्य ब्रह्मचारियों के आचार्य को "वरुण" कहा। अथर्व० ११।५।१४ में आचार्य को "वरुण" भी कहा है। वरुण का अर्थ है वरणीय। उच्च कोटि के ब्रह्मचारी अपने-अपने विषय की दृष्टि से अपने-अपने आचार्यों का स्वयं वरण करें। ये आचार्य "सुशंसः" अर्थात् अपने-अपने विषय के उत्तम-प्रवक्ता होने चाहियें।

"त्वष्टा" पद द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। त्वष्टा का अर्थ है—कारीगर, जो कि नानाविध रूपों का निर्माण करता है। त्वष्टा = त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः, त्वक्षते र्वा स्यात् करोतिकर्मणः (निरु० ८।२।१४)। त्वष्टा के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र विशेष प्रकाश डालता है। यथा—"य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशत् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्"॥(ऋ० १०।११०।९)।]

६६. शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥७॥

(सोमः[1]) जल (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक (भवतु) हो। ब्रह्म) ब्रह्मप्रतिपादक वेदमन्त्र (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक हों, (ग्रावाणः) वेदविद्या के विद्वान् (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक हों। (स्वरूणाम्) यज्ञों के (मितयः) यथार्थज्ञान (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक (भवन्तु) हों। (प्रस्वः) याज्ञिक प्रेरणाएं (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक हों, (वेदिः) यज्ञभूमि, यज्ञशाला तथा यज्ञकुण्ड (उ) निश्चय से (शम्) हमें शान्तिदायक तथा सुखदायक (अस्तु) हो।

---

१. तथा "सोम ओषधीनामधिपतिः" (पारस्कर गृह्यसूत्र १।५।१०)। तथा "सोम ओषधीभिरुदक्रामत्" (अथर्व० १९।१९।५)। सोम = water (आपटे)।

[स्वरूणाम्=स्वरुः=यज्ञ (a sacrifice, आपटे) । मितयः=प्रमितयः=यथार्थ ज्ञान । ग्रावाणः= गॄ शब्दे, "गृणातेर्वा" (निरु० ९।१।६); "विद्वांसो हि ग्रावाणः" (शत० ३।९।३।४) । प्रस्वः=प्र+षू प्रेरणे । ।]

९७. शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥८॥

(उरुचक्षाः) दूर तक दिखानेवाला (सूर्यः) सूर्य (नः) हमें (शम्) शान्ति तथा सुख देता हुआ (उदेतु) उदय को प्राप्त हो । (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) विस्तृत दिशाएं (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक (भवन्तु) हों । (ध्रुवयः) ध्रुव रहनेवाले, स्थिर रहनेवाले (पर्वताः) पर्वत (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक (भवन्तु) हों, (सिन्धवः) समुद्र तथा नदियां (नः) हमें (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक हों, (आपः) जल (उ) निश्चय से (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक (सन्तु) हों ।

[पर्वताः ध्रुवयः=पर्वत के दो अर्थ हैं—प्रसिद्ध पर्वत तथा मेघ (निघं० १।१०) । मेघ ध्रुव नहीं होते, प्रसिद्ध पर्वत ध्रुव होते हैं । गर्मियों में पर्वत-निवास शान्ति तथा सुख का कारण होता है, तथा स्रोतों और ओषधियों के प्रदान द्वारा भी । ध्रुवयः=ध्रुवि+प्रथमा बहुवचन । औणादिकः "इः" प्रत्यय; बाहुलकात् ।]

९८. शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥९॥

(अदितिः) अविनाशिनी वेदवाणी (नः) हमारे (व्रतेभिः) व्रत-निर्देशों द्वारा हमें (शम्) शान्ति तथा सुख देनेवाली हो, (स्वर्काः) प्रखर सौर दीप्तियों वाली (मरुतः) मानसून वायुएं (नः) हमें (शं भवन्तु) शान्ति तथा सुख देनेवाली हों । (विष्णुः) व्याप्त किरणों वाला सूर्य (नः) हमें शान्तिदायक तथा सुखदायक हो, (पूषा) पौष्टिक अन्न प्रदान करनेवाली पृथिवी (उ) निश्चय से (नः) हमें (शम्) शान्ति और सुख देनेवाली (अस्तु) हो । (भवित्रम्) भवित्र (नः) हमें (शम्) शान्ति तथा सुख देवे, (वायुः) वायु (उ) निश्चय से (शम् अस्तु) शान्ति तथा सुख देवे ।

[अदितिः=अ+दो अवखण्डने । अदितिः वाङ्नाम (निघं० १।११)।

मरुतः="उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत पातयाथ" (अथर्व० ४।१५।५)। "मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु" (अथर्व० ४।१५।८)। "मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु" (अथर्व० ४। १५।९)। विष्णुः=विष्लृ व्याप्तौ, किरणों द्वारा व्याप्त सूर्य। पूषा=पृथिवी (निघं० १।१)। भवित्रम्=उदकम् अन्तरिक्षं वा (सायण)। भवित्रम्= भावित्रम् ?=लोकत्रयी (उणा० ४।१७२), महर्षि दयानन्द।]

६९. शं नो॑ दे॒वः स॑वि॒ता त्राय॑माणः॒ शं नो॑ भवन्तू॒षसो॑ विभा॒तीः।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्यः॒ शं नः॒ क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु श॒म्भुः ॥१०॥

(त्रायमाणः) पालन करता हुआ (देवः) शक्तिप्रदाता (सविता) सौरमण्डल का उत्पादक तथा प्रेरक सूर्य (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक हो, (विभातीः) जगमगाती (उषसः) उषाएं (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक (भवन्तु) हों। (पर्जन्यः) पालन-कर्त्ता-जनहितकारी मेघ (नः) हमारे लिये और (प्रजाभ्यः) सब प्रजाजनों के लिये (शं भवतु) शान्तिदायक तथा सुखदायक हो, (क्षेत्रस्य) खेतियों का (पतिः) स्वामी अर्थात् राजा और किसान (नः) हमें (शम्) शान्ति-दायक तथा सुखदायक (अस्तु) हो। और (शंभुः) सदा शान्ति तथा सुख का करनेवाला हो।

सूक्त ११

१-६ वसिष्ठः। बहुदैवत्यम्।

७०. शं नः॑ स॒त्यस्य॒ पत॑यो भवन्तु॒ शं नो॒ अर्व॑न्तः॒ शमु॑ सन्तु॒ गावः॑।
शं न॑ ऋ॒भवः॑ सु॒कृतः॑ सु॒हस्ताः॒ शं नो॑ भवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥१॥

(सत्यस्य पतयः) सत्य के अधिपति अर्थात् सत्यव्रती [सत्य के उप-देशों द्वारा] (नः) हमें (शम्) सुखदाता (भवन्तु) हों। (अर्वन्तः) घोड़े [सवारी द्वारा] (नः) हमें (शम्) सुखदायी हों, (उ) तथा गावः) गौएं [दूध द्वारा] (शं सन्तु) सुखदायी हों। (ऋभवः) मेधावी (सुहस्ताः) तथा हस्तक्रिया में कुशल (सुकृतः) श्रेष्ठ कारीगर (नः) हमें (शम्) सुख प्रदान करें (पितरः) माता-पिता आचार्य आदि (हवेषु) सत्कारपूर्वक आह्वानों में (नः)हमें(शम् भवन्तु) सुखदायी हों।[ऋभवः=ऋभुः मेधावि-नाम (निघं० ३।१५)।]

७१. शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥२॥

(विश्वदेवाः) विश्वविख्यात (देवाः) दिव्यगुणी विद्वान् (नः) हमें (शं भवन्तु) शान्तिदायक तथा सुखदायक हों। (सरस्वती) ज्ञानमयी वेद-वाणी (धीभिः सह) सत्कर्मों के उपदेशों के साथ (शम् अस्तु) शान्ति और सुख प्रदान करे। (अभिषाचः) हमारे प्रति आसक्त अर्थात् प्रेमी विद्वान् (शम्) हमें सुखदायी हों, (रातिषाचः) सदुपदेशों के प्रदान में आसक्त अर्थात् रुचिवाले विद्वान् (शम् उ) हमें सुखदायी हों, (दिव्याः) द्युलोक-सम्बन्धी पदार्थ अर्थात् प्रकाश ताप आदि (पार्थिवाः) तथा पृथिवी सम्बन्धी पदार्थ अर्थात् खाद्य पेय तथा वस्त्र आदि (नः) हमें (शम्) सुखदायी हों, (अप्याः) अन्तरिक्ष के पदार्थ अर्थात् वर्षाजल वायु आदि (नः) हमें (शम्) सुखदायी हों।

[सरस्वती=सरो विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती=वाक् (उणा० ४।१९०) महर्षि दयानन्द। धीभिः=धीः कर्मनाम (निघं० २।१)। अभिषाचः=अभि+षच् समवाये। अप्याः=आपः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३), अथवा जल सम्बन्धी पदार्थ।]

७२. शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शमहिर्बुध्न्यः[1] शं समुद्रः ।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥३॥

(देवः) द्योतमान (अजः) गतिशील (एकपाद्) और अल्प रश्मियों द्वारा सौरमण्डल का रक्षक सूर्य (नः) हमें (शम् अस्तु) सुख-प्रदाता हो। (बुध्न्यः) अन्तरिक्षस्थ (अहिः) मेघ (शम्) सुखदायक हो, (समुद्रः) अन्तरिक्ष और पार्थिव समुद्र (शम्) सुखदायक हों। (अपां नपात्) विद्युत् (पेरुः) जो कि जल पिलाती है, (नः) हमें (शम्) सुखदायिका हो, (देवगोपा) परमेश्वर-देव तथा दिव्यगुणी राजा द्वारा रक्षित (पृश्निः) पृथिवी (नः) हमें (शं भवतु) सुखदायिका हो।

[अज एकपाद्="अजनः (=गमनः), एकेन पादेन पाति" (निरु०

१. एक=अल्प। यथा—एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते॥ पाद=सूर्य की रश्मियों को पद अर्थात् पाद कहा है। यथा "अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि" (ऋ० १।१५४।६)।

१२।३।२९), सूर्य प्रत्यक्षदृष्टया गतिमान् और अल्पकिरणरूपी एक पाद द्वारा सौर-मण्डल की रक्षा करता है। "अज एकपाद्" द्वारा परमेश्वर का भी ग्रहण सम्भव है। परमेश्वर अज है अजन्मा है, और अपने एक पाद् द्वारा समग्र विश्व की रक्षा कर रहा है। यथा—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजु० ३१।३), तथा "त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः" (यजु० ३१।४)। अहिः=मेघनाम (निघं० १।१०)। बुध्न्यः =बुध्नमन्तरिक्षं, तन्निवासात् (निरु० १०।४।४४)। अपां नपात्=नपादित्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम् (निरु० ८।२।५)। जलों की प्रजा है मेघ, और मेघ की प्रजा है विद्युत्। पेरुः=मीपीभ्यां रुः (उणा० ४। १०२)। पृश्निः=पृथिवी (तै० ब्रा० १।४।१५), तथा सायण ऋग्वेदभाष्य १।२३।१०; और (उणा० ४।५३ टिप्पणी) महर्षि दयानन्द।]

७३. आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः॥४॥

(आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी, (रुद्राः) रुद्र ब्रह्मचारी (वसवः) तथा वसु ब्रह्मचारी (इदम्) इस (क्रियमाणम्) किये जा रहे (नवीयः) अतिस्तुत्य (ब्रह्म) ब्रह्मोपासनारूपी कर्म का (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करें। और (ये) जो (दिव्याः) दिव्यगुणों वाले (पार्थिवासः) पृथिवीवासी (गोजाताः) वेदवाणी के प्रसिद्ध विद्वान्, (उत) और (यज्ञियासः) यज्ञाधिकारी तथा पूजार्ह ब्रह्मचारी-गण हैं, वे भी (नः) हमारी ब्रह्मोपासना का (शृण्वन्तु) श्रवण करें।

[गोजाताः=गौः=वाक् (निघं० १।११) +जाताः=प्रसिद्ध। या वेदवाणी के सेवन से द्विजन्मारूप से जन्म धारण किए हुए। ब्रह्म=ब्रह्माणि =कर्माणि (निरु० १२।४।३४)। नवीयः=स्तुत्य, नु स्तुतौ+ईयसुन्।]

७४. ये देवानामृत्विजो यज्ञियासो मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥५॥

(ये) जो (देवानाम्) विद्वानों में (ऋत्विजः) ऋतुयाजी हैं, (यज्ञियासः) जो ब्रह्मयज्ञ करते, (मनोर्यजत्राः) मानसिक ध्यानयज्ञ करते, (अमृताः) जीवन्मुक्त, तथा (ऋतज्ञाः) यथार्थज्ञानी हैं, (ते) वे (अद्य) आज की शुभ घड़ी में (नः) हमें (उरुगायम्) महास्तुत्य परमेश्वर की

(रासन्ताम्) प्राप्ति कराएं। इस प्रकार (यूयम्) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणमार्गों द्वारा (नः) हमारी (सदा पात) सदा रक्षा कीजिये।

[ऋत्विजः=प्रत्येक ऋतु को ब्रह्मोपासना का साधन बना कर ब्रह्मोपासना करनेवाले। यथा—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।। यजु० ३१।१४।।

इस मन्त्र पर महर्षि दयानन्द लिखित भावार्थ—"जब बाह्य सामग्री के अभाव में विद्वान् लोग सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के उपासनारूप मानसज्ञानयज्ञ को विस्तृत करें, तब पूर्वाह्ण आदि काल ही साधनरूप से कल्पना करने चाहियें"।]

७५. तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय ।।६।।

(मित्रावरुणा) हे स्नेह करने वाले, तथा कष्टों का निवारण करने वाले माता-पिता! आपके संग से (तद्) वह (शम्) सुख हमें (अस्तु) प्राप्त हो, और (तत्) वह (योः) कष्टों का निवारण हो। तथा (अग्ने) हे सर्वाग्रणी परमेश्वर! आप की कृपा से (अस्मभ्यम्) हमें (इदम्) यह (शस्तम्) प्रशंसनीय उत्तम जीवन (अस्तु) प्राप्त हो। तथा (गाधम्) गम्भीरता को (उत) और (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (अशीमहि) हम प्राप्त करें, और (सादनाय) उत्तमस्थिति प्राप्त करने के लिये हम (दिवे) ज्योतिःस्वरूप (बृहते) आप महाब्रह्म को (नमः) नमस्कार किया करें।

[मित्रावरुणा=माता-पिता; गाधम्=गम्भीरता; नमः=सत्कार (ऋग्भाष्य ७।४७।७) महर्षि दयानन्द। मित्र=मिद् स्नेहने। वरुण=निवारण करनेवाला।]

सूक्त १२

१ वसिष्ठः। उषा।

७६. उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ।।१।।

(उषाः) ज्योतिर्मयी प्रज्ञा (सुजातता) निज उत्तम उत्पत्ति के कारण, (स्वसुः) निज बहिन ज्योतिर्हीन रात्री के (तमः) अज्ञानान्धकार को, तथा (वर्तनिम्) उसके वर्ताव=व्यवहार को (अप संवर्तयति) हटा देती है। (अया) इस प्रज्ञा द्वारा हम (देवहितम्) देव बनने के लिये हित-कर (वाजम्) बल (सनेम) प्राप्त करते हैं। और (सुवीराः) श्रेष्ठ धर्मवीर होकर (शतहिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) प्रसन्न रहते हैं।

[वाजः=बलनाम (निघं० २।९)। सुजातता=सुजाततया। उषा और उसकी स्वसा (बहिन) रात्री के वर्णन द्वारा, योगी को प्राप्त प्राथमिक ज्योति, और उस से पूर्व की ज्योतिर्हीन अवस्था का वर्णन हुआ है। जैसे उषा के आविर्भाव में रात्रि का अन्धकार, और रात्रि के वर्तन=व्यवहार दूर हो जाते हैं, वैसे ही योगाभ्यासी में जब ज्योतिर्मयी चित्तवृत्ति का आवि-र्भाव हो जाता है, तब उसकी राजसिक और तामसिक वृत्तियां और उनके व्यवहार लीन होने लगते हैं। इससे योगी को बल और उत्साह प्राप्त हो कर उसके जीवन में प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। सूक्त ११, मन्त्र ६ के पश्चात्, सूक्त १२ का मन्त्र है, इसलिये इसकी आध्यात्मिक व्याख्या है।]

सूक्त १३

१-११ अप्रतिरथः। इन्द्रः।

७७. इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू।
तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्वर्यत् ॥१॥

(इन्द्रस्य) सेनापति की (बाहू) भुजाएं (स्थविरौ) सुदृढ़, (वृषाणौ) शक्तिशाली, (चित्रा=चित्रौ) अद्भुत कार्य करनेंवाली हैं, (इमा=इमौ) और ये (वृषभौ) अस्त्रों की वर्षा करती हुईं चमकती हैं, (पारयिष्णू) तथा उपस्थित युद्ध को सफलतापूर्वक समाप्त कर देती हैं। (प्रथमः) राष्ट्र का मुखिया मैं राजा, (योगे आगते) अवसर आने पर (तौः) सेनापति की उन भुजाओं का (योक्षे) प्रयोग करता हूं, (याभ्याम्) जिन भुजाओं द्वारा (असुराणाम्) स्वप्राणपोषणतत्पर शत्रुओं के (यत्) जो (स्वः) सुख तथा सुख-साधन हैं, (तत्) उन्हें (जितम्) जीत लिया जाता है।

[इन्द्रः=इन्दञ्छत्रूणां दारयिता (निरु० १०।१।८)। पारयिष्णू=पार कर्मसमाप्तौ। असुराः=असुः प्राणः तद्वन्तः; "असुरिति प्राणनाम,

ग्रस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः" (निरु० ३।२।८), अर्थात् जिनके जीवन का उद्देश्य स्वप्राणपोषणमात्र है। स्वः=सुख (यजु० ३२।६) महर्षिभाष्य। वृषभो=वृष (वर्षण)+भा।]

७८. आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥२॥

(इन्द्रः) सेनापति (आशुः) शीघ्रकारी, (शिशानः) तीक्ष्ण स्वभाव वाला, (वृषभो न) शक्तिशाली बैल के सदृश (भीमः) भयप्रद, (घनाघनः) गहरी चोट मारनेवाला, (चर्षणीनाम्) शत्रु के प्रजाजन में (क्षोभणः) हलचल मचा देनेवाला, (संक्रन्दनः) शत्रुओं को ललकारनेवाला, और उन्हें रुला देनेवाला, (अनिमिषः) सदा जागरूक, (एकवीरः) तथा अद्वितीय वीर होना चाहिये। ऐसा सेनापति (साकम्) एक साथ उमड़ी हुई (शतं सेनाः) सौ सेनाओं पर (अजयत) विजय पा लेता है।

[शतं सेनाः साकम्=हम लोगों के साथ अनेकों सेनाओं को जीतता है (यजु० १७।३३), महर्षि दयानन्द। संक्रन्दनः= क्रदि आह्वाने रोदने च।]

७९. संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनाऽयोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत् सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥३॥

(संक्रन्दनेन) शत्रुओं को ललकारनेवाले, और रुलानेवाले, (अनिमिषेण) सदा जागरूक, (जिष्णुना) जयशील, (अयोध्येन) जिसके साथ युद्ध नहीं किया जा सकता अर्थात् अजेय, (दुश्च्यवनेन) युद्धभूमि में अटल, (धृष्णुना) दृढ़ उत्साही, (इषुहस्तेन) बाण आदि अस्त्र-शस्त्रों को सदा अपने हाथ में रखनेवाले, (वृष्णा) अपनी प्रजा पर सुखों की, तथा परप्रजा पर अस्त्रों की वर्षा करनेवाले (इन्द्रेण) ऐश्वर्यशाली सेनापति के साथ (युधः नरः) हे नर-योद्धाओ! तुम (तत्) उस सेनाशत को (जयत) जीतो, और (तत्) शत्रु के प्रहारों को (सहध्वम्) सहो। [तत्=सेनाशतम् (मन्त्र २)।]

८०. स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्यु१ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥४॥

(सः) वह सेनापति (इषुहस्तैः) अस्त्रशस्त्रों से सम्पन्न, तथा (सः) वह सेनापति (निषङ्गिभिः) सदा साथ रहनेवाले, बन्दूक-तोप आदि से सम्पन्न वीर योद्धाओं द्वारा (वशी) सब को अपने वश में रखता है। (सः) वह (इन्द्रः) सेनापति (युधः) योद्धाओं के (गणेन) समूह के द्वारा (संस्रष्टा) शत्रुओं के साथ संसर्ग करता वा भिड़ता है। (संसृष्टजित्) वह भिड़े शत्रुओं पर विजय पाता, (सोमपाः) सोम आदि बलकारी ओषधियों के रसों का पान करता, और वीर्य का रक्षक होता है। वह (बाहुशर्धी) बाहु में बल वाला, और (उग्रधन्वा) भयानक शस्त्रास्त्रों वाला होकर (प्रतिहिताभिः) प्रत्येक का हित करनेवाली निज सेनाओं के साथ (अस्ता) शत्रुओं को परास्त करता है।

[इषुहस्तैः=शस्त्रों को हाथों में रखने वाले; तथा निषङ्गिभिः=जिन के पास भुशुंडी (=बन्दूक) शतघ्नी (=तोप) और आग्नेय आदि बहुत से अस्त्र विद्यमान हैं ऐसे भृत्यों के साथ; प्रतिहिताभिः=प्रत्यक्षता से स्वीकार की गई सेना के साथ (यजु० १७।३५) महर्षि दयानन्द।]

८१. बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन् ॥५॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्य के स्वामिन् तथा शत्रुओं के विदारक या द्रावक सेनापति! आप (बलविज्ञायः) अपने सैनिक बल को जानते, (स्थविरः) वृद्ध तथा अनुभवी, (प्रवीरः) प्रकृष्ट वीर, (सहस्वान्) अत्यन्त बलवान्, (वाजी) अन्नसामग्री से भरपूर, (सहमानः) सहनशील, (उग्रः) तीव्र तेजस्वी, (अभिवीरः) वीर सैनिकों से घिरे हुए, (अभिषत्वा) शत्रु विनाशक सैनिकों वाले, (सहोजित्) तथा निजबल से विजेता हैं। (गोविदन्) आप पृथिवी की समस्याओं को जानते हुए, विजयार्थ (जैत्रम्) विजयी (रथम्) रथ में (आतिष्ठ) आ बैठिये। [इन्द्रः="इन्दन् शत्रूणां दारयिता द्रावयिता वा" (निरु० १०।१।८)।]

८२. इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥६॥

(ग्रामजितम्) शत्रुओं के समूहों पर विजय पानेवाले, (गोजितम्) उनको भूमियों को जीतने वाले, (वज्रबाहुम्) वज्रधारी, (अजम जयन्तम्)

युद्धविजयी, (ओजसा) पराक्रम द्वारा (प्रमृणन्तम्) शत्रुओं को अच्छे प्रकार मारते हुए, (इमम्) इस (वीरम्) शूरवीर, (उग्रम्) और तीक्ष्ण प्रकृति वाले (इन्द्रम्) सेनापति के (अनु) अनुकूल होकर, (सखायः) हे समान ख्याति के मित्रजनो ! तुम (हर्षध्वम्) प्रसन्न होओ, और (अनु) तदनुकूल (सं रभध्वम्) परस्पर मिलकर युद्ध को आरम्भ करो। [अज्म= संग्रामनाम (निघं० २।१७)।]

८३. अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥७॥

(गोत्राणि) शत्रुओं के किलों को (सहसा) पराक्रम द्वारा (अभि गाहमानः) साक्षात् गाहता हुआ, (अदायः) शत्रुओं को दायभागों से बञ्चित कर देनेवाला, (उग्रः) उनके लिये उग्ररूप, (शतमन्युः) तथा उन पर सैंकड़ों प्रकार से क्रोध करनेवाला, (दुश्च्यवनः) युद्ध में अटल, (पृतनाषाट्) शत्रुसेना के प्रहारों को सहनेवाला, (अयोध्यः) अजेय (इन्द्रः) सेनापति (युत्सु) युद्धों में (अस्माकम्) हमारो (सेनाः) सेनाओं की (प्र अवतु) पूर्णतया रक्षा करे।

[अदायः=पदपाठ में प्रायः "अदयः" पाठ मिलता है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद में "अदयः" पाठ है। तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता और अथर्ववेद में "अदायः" पाठ है। परन्तु अन्य वेदों की दृष्टि से मन्त्र में "अदयः" पाठ होना चाहिये। "अदायः" का अर्थ होगा शत्रुओं को उनके दायभागों अर्थात् पैतृक-सम्पत्तियों से वञ्चित कर देनेवाला।]

८४. बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जञ्छत्रून् प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम् ॥८॥

(बृहस्पते) हे बृहती सेना के पति ! (रथेन) रथारूढ़ होकर आप (अमित्रान्) स्नेह न करनेवाले शत्रुओं को (परि दीया) सब ओर से काटिए। (रक्षोहा) आप इन राक्षसों का हनन करनेवाले, तथा (अपबाधमानः) दूर करनेवाले हैं। आप (शत्रून्) शत्रुदलों को (प्रभञ्जन्) तोड़ते हुए, और (अमित्रान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) खूब मारते हुए (अस्माकम्) हम प्रजाजनों के (तनूनाम्) शरीरों अर्थात् जीवनों के (अविता) रक्षक (एधि) हूजिये।

८५. इन्द्र॑ एषां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्ये ॥९॥

(इन्द्रः) मुखिया सेनाधीश (एषाम्) इन सैनिकों का (नेता) नायक हो, मार्गदर्शक हो। (बृहस्पतिः) और इस बृहती सेना का रक्षक अधिपति (दक्षिणा) सेनाओं के दाहिनी ओर हो। (यज्ञः) शत्रु सेना के साथ संग करनेवाला अर्थात् उनसे भिड़नेवाला, और (सोमः) अपनी सेनाओं को प्रेरणा देनेवाला अधिकारी (पुर एतु) सेनाओं के आगे-आगे चले। तथा (अभि भञ्जतीनाम्) संमुखस्थ शत्रुसेना के व्यूह को तोड़ती हुई, (जयन्तीनाम्) और उन पर विजय पाती हुई (देवसेनानाम्) दिव्य सेनाओं अर्थात् विजिगीषुओं की सेनाओं के (मध्ये) मध्यभाग में (मरुतः) वारुणास्त्रों द्वारा जलवर्षा करनेवाले सैनिक हों।

[यज्ञः=यज् संगतिकरणे। सोमः=षू प्रेरणे। देव=दिव् विजिगीषा। मरुतः=मानसून वायुओं के सदृश जलवर्षा करनेवाले सैनिक (देखो—कां० १९। सू० १०। मन्त्र ९)।]

८६. इन्द्र॑स्य वृष्णो वरु॑णस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥१०॥

(वृष्णः) वीर्यवान् (इन्द्रस्य) मुखिया सेनाधीश का, (वरुणस्य) प्रजा द्वारा चुने हुए सर्वश्रेष्ठ (राज्ञः) राजा का, (आदित्यानाम्) आदित्य ब्रह्मचारियों का, (मरुताम्) मानसून वायुओं के सदृश जलवर्षा करनेवालों का, (उग्रं शर्धः) शत्रुओं के लिये असह्य बल, तथा (महामनसाम्) महामनस्वी और महाधैर्य वाले, (भुवनच्यवानाम्) मानो भुवन को कम्पा देनेवाले, (जयताम्) जीतते हुए (देवानाम्) विजिगीषु सैनिकों का (घोषः) जयघोष (उदस्थात्) उठा है। [मरुताम्=देखो १९।१०।९)।]

८७. अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान् देवासोऽवता हवेषु ॥११॥

(ध्वजेषु) हमारी और शत्रु की पताकाओं के (समृतेषु) पारस्परिक संघट्ट में (अस्माकम्) हमारा (इन्द्रः) सेनाधीश विजयी हो। तथा

(अस्माकम्) हमारे (याः) जो (इषवः) वाण हैं, (ताः) वे (जयन्तु) विजयी हो। और (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर सैनिक (उत्तरे भवन्तु) युद्ध में सर्वोपरि हों। (देवासः) हे विजिगीषु वीरो! (हवेषु) शत्रुओं द्वारा स्पर्धा-पूर्वक ललकारों में, आप (अस्मान्) हम प्रजाजनों की (अवत) रक्षा कीजिये।

सूक्त १४

१ अथर्वा। द्यावापृथिवी।

८८. इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥१॥

(इदम्) इस (उत् श्रेयः) उत्कृष्ट श्रेयस्कर (अवसानम्) युद्ध-समाप्ति को (आगाम्) मैं प्राप्त हुआ हूं। (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (मे) मेरे लिये (शिवे) सुखकारी और कल्याणकारी (अभूताम्) हुए हैं। (प्रदिशः) दिशाएं और उपदिशाएं, परमेश्वरीय कृपा से (मे) मेरे लिये (असपत्नाः) शत्रुरहित (भवन्तु) हो जायें। हे परराष्ट्र के मुखिया! (वै) निश्चय है कि (त्वा) आप के साथ (न द्विष्मः) हम कोई द्वेषभावना नहीं रखते। (नः) हम सब के लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) हो।

[सूक्त १३, मन्त्र ११ के पश्चात् विजयी राजा विजित राजा को आश्वासन देता है कि इस युद्ध के उपरान्त हमारा कोई द्वेष आपके प्रति नहीं रहा। अब हम सब के लिये भय की कोई आशंका नहीं रही। वेदानुसार दो दृष्टियों से युद्ध किया जा सकता है—(१) परराष्ट्र को सत्यमार्ग पर लाने के लिये। तथा (२) परराष्ट्र द्वारा आक्रमण होने पर स्वराष्ट्र की रक्षा के लिये। परराष्ट्र को अपने अधीन कर उसकी भूमि और सम्पत्ति को हथियाने के लिये युद्ध करना वेदसम्मत नहीं हैं।]

सूक्त १५

१-६ अथर्वा। १-४ इन्द्रः; मन्त्रोक्ताः।

८९. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥१॥

(इन्द्र) हे सेनाधीश ! (यतः) जहां से (भयामहे) हम प्रजाजन भय की आशंका करते हैं, (ततः) वहां से (नः) हमें (अभयम्) निर्भय (कृधि) कीजिये। (मघवन्) हे धनों के स्वामिन् ! (तव) हम आप के हैं। (त्वम्) आप (ऊतिभिः) रक्षाओं द्वारा (नः) हमें (शग्धि) शक्ति प्रदान कीजिये। (द्विषः) पारस्परिक द्वेषभावों को (वि जहि) पृथक् कीजिये, (मृधः) पारस्परिक संग्रामों को (वि जहि) विगत कीजिये। [मृधः=संग्राम नाम (निघं० २।१७)। जहि=हन् गतौ।]

९०. इन्द्रं वयमनूराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा।
मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय ॥२॥

(वयम्) हम प्रजाजन (अनुराधम्) अनुरूप सिद्धि करनेवाले (इन्द्रम्) सेनाधीश को (हवामहे) सत्कारपूर्वक निमन्त्रित करते हैं। (अनु) तदनन्तर हम (द्विपदा) दो पैरों वाली मनुष्य-प्रजा द्वारा, और (चतुष्पदा) चार पैरों वाली गौ आदि प्रजा द्वारा (राध्यास्म) समृद्धियों को प्राप्त हों। (अररुषीः) दानरहित=लालची (सेनाः) परकीय सेनाएं (नः) हमारे (मा उपगुः) समीप न प्राप्त हों। (इन्द्र) हे सेनाधीश ! (विषूचीः) फैली हुई (द्रुहः) पारस्परिक द्रोह-भावनाओं का (विनाशय) विनाश कर दीजिये।

[अररुषीः=नञ्+रा (दाने)+क्वसुः। विषूचीः=विषु (सर्वत्र)+ अञ्च् (व्याप्त)।]

९१. इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः।
स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चात् स पुरस्तान्नो अस्तु ॥३॥

(इन्द्रः) सेनाधीश (त्राता) पालक है, (उत) और (वृत्रहा) राष्ट्र पर घेरा डालनेवालों का हनन करता है, (परस्फानः) वह प्रभूत वृद्धि करता, (वरेण्यः) तथा वरण करने योग्य श्रेष्ठ पुरुष है। (सः) वह (नः रक्षिता) हमारा रक्षक हो। (चरमतः) राष्ट्र की चरम सीमाओं से (सः) वह रक्षक हो। (मध्यतः) राष्ट्र के बीच के भाग से (सः) वह रक्षक हो। (पश्चात्) पश्चिम दिशा से, (सः) वह (पुरस्तात्) पूर्व दिशा से रक्षक (अस्तु) हो।

[मध्यतः=राष्ट्र के बीच यदि निज प्रजा के लोगों द्वारा विद्रोह या विप्लव उठे, तो उससे भी रक्षा करनेवाला। परस्फानः=पर (परम)+

स्फानः (स्फायी वृद्धौ)। वृत्रहा=वृत्र (वृत्र्) आवरण करने वाला, घेरा डालने वाला+हा (हनन करने वाला। वरेण्यः=राजा द्वारा चुना गया (Nominated)। राजा को तो प्रजा चुनती है, और इन्द्र आदि को राजा चुनता है।]

९२. उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्व१र्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।

उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता ॥४॥

(इन्द्र) हे सेनाधीश ! (विद्वान्) विद्वान् आप (यत्) जो (नः) हम प्रजाजनों को (उरुम्) महान् (लोकम्) आलोक, अर्थात् ज्ञान-प्रकाश की (अनु) ओर (नेषि) ले चलते हैं, तथा (स्वः) स्वर्गीय (ज्योतिः) ज्योति- (अभयम्) निर्भयता, और (स्वस्ति) कल्याणमार्ग की (अनुनेषि) ओर ले चलते हैं, इसलिये (स्थविरस्य) वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध (ते) आप के (उग्रा) प्रभावशाली (बाहू) बाहुरूप (बृहन्ता शरणा) महान् आश्रयों में (उपक्षयेम) हम निवास करते रहें।

[लोकम्=आलोकम्=लोकृ दर्शने। स्वः ज्योतिः=सुखमयी ज्योति, परमेश्वरीय ज्योति। यह ज्योति निर्भयता देनेवाली तथा कल्याणमयी है।]

९३. अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।

अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥५॥

हे परमेश्वरीय ज्योति ! (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (नः) हमें (अभयम्) निर्भय (करति) कर दे। (इमे) ये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (अभयम्) हमें निर्भय कर दें। (पश्चात्) पश्चिम से (नः) हमें (अभयम्) अभय (अस्तु) हो। (पुरस्तात्) पूर्व से (अभयम्) अभय हो। (उत्तरात्) उत्तर से, और (अधरात्) दक्षिण से (अभयम्) अभय हो।

९४. अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।

अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥६॥

(मित्रात्) मित्र से (अभयम्) अभय हो, (अमित्रात्) जो मित्र नहीं

उस से (अभयम्) अभय हो, (ज्ञातात्) जाने-पहिचाने से (अभयम्) अभय हो, (यः) जो (पुरः) सामने उपस्थित है उससे (अभयम्) अभय हो। (नः) हमें (नक्तम्) रात्रि (अभयम्) भयरहित हो, (दिवा) दिन (अभयम्) भयरहित हो, (सर्वाः आशाः) सब दिशाएं अर्थात् सब दिशाओं के निवासी (मम) मेरे (मित्रम्) मित्र (भवन्तु) हो जायें।

[मित्रात्=सच्चाई के कथन में मित्र-अमित्र का भेद नहीं करना चाहिये। मित्र की खराबी को मित्र से कहते झेंपना न चाहिये। तथा कोई व्यक्ति चाहे अपने सामने ही उपस्थित क्यों न हो, उसे भी उस की खराबी के कहने में संकोच न करना चाहिये। परन्तु इतना अवश्य चाहिये कि खराबी कहते समय वाणी प्रियरूप होनी चाहिये। यथा "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" (मनु०)। राथह्विटनी ने पुरो यः के स्थान में परोक्षात् पाठ माना है। यही महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि के शान्तिकरण के अन्त में इस मन्त्र में स्वीकार किया है। द्र०—संस्करण २।]

सूक्त १६

१-२ अथर्वा। मन्त्रोक्ता देवताः।

९७. असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥१॥

(नः) हमारा (सविता) राष्ट्र का प्रेरक राजा, तथा (शचीपतिः) राष्ट्र के ज्ञान-विज्ञान वाणियों और नानाविध कर्मों का अधिपति प्रधान-मन्त्री (मा मा) मुझ प्रत्येक प्रजाजन को (पुरस्तात्) पूर्व से, (पश्चात्) पश्चिम से, (दक्षिणतः) दक्षिण से, (उत्तरात्) उत्तर से (असपत्नम्) शत्रु-रहित, तथा (अभयम्) भयरहित (कृतम्) करें।

[कृतम्=कुरुतम् (सायण)। शचीपतिः=शची प्रज्ञानाम (निघं० ३।९); वाङ्नाम (निघं० १।११); कर्मनाम (निघं० २।१)। सविता=षू प्रेरणे।]

९८. दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म॥२॥

हे जगदीश्वर ! आप की कृपा से (आदित्याः) नानाविध सूर्य (दिवः) द्युलोक से (मा) मेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें। (अग्नयः) गार्हपत्य आहवनीय दक्षिणाग्नि,या सामान्य अग्नियां (भूम्याः) भूमि से मेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें। (इन्द्राग्नी) विद्युत् तथा विद्युत्पातजन्य अग्नि (पुरस्तात्) पूर्व से (मा) मुझ प्रत्येक प्रजाजन की (रक्षताम्) रक्षा करें। (अश्विनौ) दिन-रात (अभितः) सब ओर से (शर्म) सुख या आश्रय (यच्छताम्) प्रदान करें। (तिरश्चीन्) प्राप्त शुभकर्मों का चयन अर्थात् अधिकाधिक संचय करनेवालों को (रक्षतु) रक्षा करे। (अघ्न्या) नित्या वेदवाणी। और (जातवेदाः) प्रज्ञावान् तथा स्थिति उत्पत्ति और प्रलय द्वारा और न्याय द्वारा उत्पन्न सचराचर समग्र जगत् को आच्छादित कर इसमें विद्यमान परमेश्वर (तिरश्चीन्) प्राप्त शुभकर्मों का अधिकाधिक संचय करनेवालों की (रक्षतु) रक्षा करे। तथा (भूतकृतः) सत्यकर्मों का अनुष्ठान करनेवाले ऋषि (सर्वतः) सब ओर से (मे) मुझ प्रत्येक प्रजाजन के लिये (वर्म) कवच अर्थात् रक्षक (सन्तु) हों।

[आदित्याः—द्युलोक में नाना सूर्य हैं। कतिपय ग्रह आदि को छोड़ कर शेष दीखनेवाले तारागण सभी सूर्य हैं। हमारे सौरमण्डल का सूर्य इन में विष्णुरूप है,यह किरणों द्वारा व्याप्तरूपवाला दीखता है,क्योंकि यह हमारे अधिक समीप है (विष्णु=विष्लृ व्याप्तौ)। यथा—"आदित्यानामहं विष्णुः" (गीता० १०।२१)। पुरस्तात्=वर्षर्तु में पूर्व से आई मानसून में इन्द्र अर्थात् विद्युत् अधिक होती है, और विद्युत्पातजन्य अग्नियां भी प्रकट होती हैं। अश्विनौ = "अहोरात्रावित्येके" (निरु० १२।१।१)। तिरश्चीन्=तिरः प्राप्तान् चिन्वन्ति ते तिरश्चयः, तान् तिरश्चीन्। तिरः =प्राप्तस्य नाम (निरु० ३।४।२०)+चिञ् चयने। अघ्न्या=अघ्न्यः प्रजापतिः (उणा० ४।११३)। अतः सम्भवतः अघ्न्या=अघ्न्य की वेदवाणी। यथा—"वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः" (यजु० १९।७८), वेद =वेदवाणी। जातवेदाः=जातप्रज्ञानः (निरु० ७।५।१९)। तथा जातवेदाः ="जातवेदस इति जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायेनाच्छाय (आच्छाद्य ?) विद्यते" (निरु० १३।३।३४)। भूतकृतः=भूत अर्थात् सत्य=यथार्थ कर्मों के करनेवाले। यथा—"यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः" (अथर्व० ६।१०८।४)। भूत=True, right, proper (आपटे)।]

सूक्त १७

१-१० अथर्वा । मन्त्रोक्ता देवताः ।

९७. अ॒ग्निर्मा॑ पातु॒ वसु॑भिः पु॒रस्ता॒त् तस्मि॑न् क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्र॒ये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑। स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ ददे॒ स्वाहा॑ ॥१॥

(वसुभिः) वसुओं के साथ वर्तमान (अग्निः) प्राकृतिक अग्नियों में प्रविष्ट परमेश्वराग्नि (पुरस्तात्) पूर्व से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे। (तस्मिन्) उस परमेश्वराग्नि में (क्रमे) मैं विचरता हूं, (तस्मिन्) उस में (श्रये) मैं आश्रय पाता हूं। (ताम्) उस (पुरम्) दुर्गरूप परमेश्वर को (प्रैमि) मैं प्राप्त होता हूं। (सः) वह परमेश्वराग्नि (मा रक्षतु) मेरी रक्षा करे। (सः) वह (मा) मेरी (गोपायतु) पूर्ण रक्षा करे। (तस्मै) उस के प्रति (आत्मानम्) अपने आप को या आत्मा को (परि ददे) भक्ति और श्रद्धा से भेंट करता हूं, (स्वाहा) आहुत करता हूं, समर्पित करता हूं।

[अग्निः=प्राकृतिक अग्नि पाक तथा शिल्प आदि द्वारा हमारी रक्षा करती है। परन्तु इस में इस प्रकार की रक्षा की शक्ति तब तक है, जब तक कि इसमें अधिष्ठित परमेश्वर इस के स्वरूप को बनाए रखता है। इसका स्वरूप और इसमें विद्यमान रक्षाशक्ति, इसमें विद्यमान परमेश्वरीय प्रेरणा द्वारा जनित है। इसीलिये कहा है कि—"अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः" (अथर्व० ४।३९।९)। जिन गुणधर्मों के कारण अग्नि को अग्नि कहा जाता है, उन गुणधर्मों की पराकाष्ठा परमेश्वर में है। अतः मुख्यरूप से अग्नि परमेश्वर है। इसी प्रकार वायु आदि नाम भी मुख्यरूप से परमेश्वर के वाचक हैं। इसीलिये कहा है कि—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजु० ३२।१)

तथा—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (ऋ० १।१६४।४६)। आगे आने वाले मन्त्रों में भी वायु सोम वरुण आदि नामों द्वारा गौणरूप से प्राकृतिक पदार्थ, और मुख्यरूप से इनमें अधिष्ठित और नियामक परमेश्वर का ग्रहण समझना चाहिये।

वसुभिः=निवास के साधनों द्वारा। वसु ८ हैं—पृथिवी जल अग्नि

अन्तरिक्ष वायु चन्द्रमा और नक्षत्र तथा आदित्य। इन के द्वारा हमारा निवास हो रहा है। समग्र आग्नेय पिण्डों अर्थात् सूर्य चन्द्र नक्षत्रों और ताराओं का उदय पूर्व से हो रहा है, इसलिये मन्त्र में "पुरस्तात्" कहा है। ये सब आग्नेय पिण्ड परमेश्वरीय शक्ति से सम्पन्न होकर उदित होते हैं। इसलिये परमेश्वरसहित इन सब आग्नेय पिण्डों को मन्त्र में "अग्नि" पद द्वारा निर्दिष्ट किया है। मन्त्र के शेष भाग में परमेश्वर का साक्षात् वर्णन है, जिस के प्रति उपासक आत्म-समर्पण करता है।]

९८. वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥२॥

(अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष के साथ वर्तमान (वायुः) वायु में प्रविष्ट प्राणस्वरूप परमेश्वर (एतस्याः दिशः) इस अर्थात् पूर्व मन्त्रोक्त पूर्व दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे। तस्मिन्—शेष पूर्ववत्।

[सम्भवतः यह पूर्व दिशा "पूर्वी वायु" के प्रवाहित होने की दिशा हो। या यह अवान्तर दिशा हो, अर्थात् पूर्व-दक्षिण दिशा।]

९९. सोमो मा रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥३॥

(रुद्रैः) रौद्र विद्युतों के साथ वर्तमान (सोमः) अभिषुत जल में प्रविष्ट सोमनामक परमेश्वर (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे। तस्मिन्- पूर्ववत्।

[भूमण्डल को भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर तो भूमि है, और दक्षिण में समुद्र। वर्षा ऋतु में दक्षिण दिशा अर्थात् समुद्र से, प्रखर सूर्य किरणों के कारण जल मानो अभिषुत (Distilled) होकर शुद्ध हुआ अन्तरिक्ष में आरोहण करता है। इस शुद्ध जल को जिसमें कि कोई पार्थिव कण नहीं होते "सोम" कहा है। इस सोम में शक्तिरूप से प्रविष्ट परमेश्वर को भी 'सोम' कहा है। जैसे अग्नि में प्रविष्ट परमेश्वर अग्नि नाम वाला, और वायु में प्रविष्ट वायु नामवाला है, वैसे ही इस अभिषुत सोम में प्रविष्ट परमेश्वर

सोम नाम वाला है। सोमः=षुञ् अभिषवे। अभिषवः=सुरासन्धानम्[1]। समुद्र में जब सोमाभिषव क्रिया सूर्य की प्रखर किरणों के कारण होती है, तब यह अभिषुत सोम विद्युत् से आविष्ट होकर अन्तरिक्ष में आरोहण करता है। यह विद्युत् "रुद्र" है। इस प्रकार दक्षिणदिशा के साथ "सोमो रुद्रैः" का सम्बन्ध समझा जा सकता है। यही विद्युत् मेघ से पतन करती हुई रौद्ररूप वाली होती है।]

१००. वरु॑णो मादि॒त्यैरे॒तस्या॑ दि॒शः पा॑तु त॒स्मिन् क्र॒मे त॒स्मिं॑ञ्छ्र॒ये तां पुरं॒ प्रैमि॑। स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ ददे॒ स्वाहा॑ ॥४॥

(आदित्यैः) आदित्य अर्थात् सूर्य की किरणों के साथ वर्तमान (वरुणः) वरुण में प्रविष्ट वरुण नामक परमेश्वर (एतस्याः दिशः) इसी दक्षिण दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे। तस्मिन्—पूर्ववत्।

[वरुणः=अपामधिपतिः (पारस्कर १।५।१०।९); संस्कारविधि विवाह प्रकरण; तथा (अथर्व० ५।२४।४)। तथा "अप्सु ते राजन् वरुण गृहः" (अथर्व० ७।८३।१), अर्थात् हे वरुण राजन्! तुम्हारा घर जलों में है। आदित्यैः[2]=आदित्यकिरणैः। दक्षिण दिशा के समुद्र पर जब आदित्य-रश्मियां पड़कर जल को वाष्पीभूत कर, अन्तरिक्ष में मेघरूप में जल को प्रकट करती हैं, तब मेघ अन्तरिक्ष पर आवरण डाल देता है। आवरण डालने के कारण मेघस्थ जल 'वरुण' कहाते हैं। इनमें प्रविष्ट परमेश्वर को भी मन्त्र में 'वरुण' कहा है। क्योंकि परमेश्वर की शक्ति के कारण ही मेघ-रूपजल में आवरण करने की शक्ति होती है। वाष्परूप में जल सोम है, और मेघरूप में जल वरुण है। अतः वाष्परूप जल में प्रविष्ट परमेश्वर भी सोम है। और मेघरूप में प्रविष्ट परमेश्वर वरुण है, ऐसा अभिप्राय इन मन्त्रों में प्रतीत होता है। सोम और वरुण शब्द यौगिक दृष्टया इन से भिन्न अन्य अर्थों के भी वाचक हैं।]

१०१. सूर्यो॑ मा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शः पा॑तु त॒स्मिन् क्र॒मे

---

१. प्रकरण की दृष्टि से अभिषव=वाष्पीकरण।

२. आदित्यः=आदत्ते रसान् (निरु० २।४।१३)।

तस्मिँञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥८॥

(द्यावापृथिवीभ्याम्) द्युलोक और पृथिवीलोक के साथ वर्त्तमान (सूर्यः) सूर्य में स्थित परमेश्वर, सूर्यास्तकाल में (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा से (मा) मेरी (पातु) करे। तस्मिन्......पूर्ववत्।

[सूर्यः=षू प्रेरणे। वेदों में परमात्मा की सूर्य में स्थिति का वर्णन हुआ है। यथा—"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु०४०।१७)। सौर परिवार के ग्रह आदि का प्रेरक और शक्तिदाता सूर्य है, और सूर्य में शक्तिप्रदाता परमेश्वर है। सूर्य का अस्तंगमन जब पश्चिम में होता है, तब स्वरक्षा निमित्त सूर्यों के सूर्य परमेश्वर से रक्षा की प्रार्थना की गई है।]

१०२. आपो ओषधीमतीरेतस्यां दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि। ता मा रक्षन्तु ता मा गोपायन्तु ताभ्य आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥९॥

(ओषधीमतीः) ओषधि-सम्बन्धी (आपः) जलों में विद्यमान "आपः" नामक परमेश्वर (एतस्याः दिशः) इस पश्चिम दिशा से (मा पान्तु) मेरी रक्षा करे। तासु—पूर्ववत्।

[आपः=शरत्कालीन वर्षा का वर्णन प्रतीत होता है। सम्भवतः शरद्-कालीन वर्षा पश्चिम दिशा के समुद्रों के कारण होती हो। इस वर्षा-जल को "आपः" कहा है। वेदों में परमेश्वर को भी "आपः" कहा है। यथा—"ता आपः स प्रजापतिः" (यजु०३२।१); तथा अथर्व० १६।१७।१ की टिप्पणी। परमेश्वर पक्ष में "आपः" का अर्थ है "व्याप्त"। पश्चिम से आई वर्षा द्वारा गेहूं चना तथा नानाविध शरत्कालीन ओषधियां पैदा होती हैं।]

१०३. विश्वकर्मा मा सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिँञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥७॥

(विश्वकर्मा) जगद्रचयिता परमेश्वर (सप्तऋषिभिः) सात ऋषियों द्वारा (उदीच्याः दिशः) उत्तर-दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे। तस्मिन्······पूर्ववत् ।

[सप्तऋषिभिः="सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्" (यजु०३४।५५) अर्थात् सात ऋषि शरीर में स्थित हैं, सात विना प्रमाद के शरीर-गृह की रक्षा करते हैं। ये सात—५ ज्ञानेन्द्रियां १ मन और बुद्धि हैं। यथा—"षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी आत्मनि" (निरु० १२। ४।३७)। अभिप्राय यह है कि परमेश्वर की कृपा से यह मेरी सातों शक्तियां ऋषिरूप हुई हुईं, मेरे जीवन में सन्मार्गदर्शक बनी रह कर मेरी रक्षा करती रहें, और कभी विपथगामी न हों।

उदीच्याः दिशः=भूमध्यरेखा के दक्षिण की ओर भूमि तो प्रायः जलमग्न है=समुद्ररूप है, और उत्तर की ओर भूमि स्थलप्रायः है। स्थलप्रायः भूमि पर ही मन्त्रोक्त सात ऋषियों से सम्पन्न प्रजाजन अधिक संख्या में वास करते हैं। इसलिये उत्तर दिशा के साथ सप्तऋषियों का सम्बन्ध दर्शाया है। इस उत्तर दिशा की स्थलभूमि पर ही नानाविध ईश्वरीय कार्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसलिये इस दिशा के साथ विश्वकर्मा नामवाले परमेश्वर का सम्बन्ध भी दर्शाया है।

१०४. इन्द्रो मा मरुत्वानेतस्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिंञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥८॥

(मरुत्वान्) मनुष्य जाति का स्वामी (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (मा) मेरी (एतस्याः दिशः) इस उत्तर दिशा से (पातु) रक्षा करे। तस्मिन्···पूर्ववत्। [मरुत्=म्रियते इति मरुत्=मनुष्यजातिः (उणा० १। ९४), महर्षि दयानन्द। समग्र मनुष्यजाति का स्वामी एक परमेश्वर ही है। इसके द्वारा मनुष्यजाति को पारस्परिक सहानुभूति तथा सहयोग द्वारा रहने का उपदेश दिया गया है।]

१०५. प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिंञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥९॥

(सह=सः ह ?) वह (प्रजापतिः) प्रजाओं का स्वामी, तथा (प्रजननवान्) उत्पत्तियों का स्वामी परमेश्वर (प्रतिष्ठायाः) पृथ्वी की (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुवा दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे। तस्मिन्...पूर्ववत्।

[सह प्रतिष्ठायाः=सह प्रतिष्ठया; विभक्तिव्यत्यय; प्रजननेन सह वा (सायण)। प्रतिष्ठा=पृथिवी=Earth (आपटे)। परमेश्वर सब प्रजाओं का स्वामी है, और पृथिवी की जो भी उपजें हैं—अन्नादि और खनिज पदार्थ, उनका भी स्वामी है। अतः पार्थिव उपजों का यथोचित विभाग होना चाहिये। ताकि परमेश्वर की सब प्रजाओं का पालन-पोषण हो सके। यथा "भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः" (अथर्व० १२। १।६०)। अर्थात् भोगयोग्य और रक्षा और त्राण के जो साधन पृथिवी की गुहा में निधिरूप में रखे गये हैं, वे मातृमान् समग्र प्रजाजनों के भोग के निमित्त प्रकट हुए हैं।]

१०६. बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥१०॥

(बृहस्पतिः) महाशक्तियों का भी रक्षक तथा पालक परमेश्वर (विश्वैः) सब (देवैः) द्योतमान-प्रकाशमान सूर्य तथा नक्षत्रतारागण आदि के द्वारा (ऊर्ध्वायाः) ऊपर की (दिशः) दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे। (तस्मिन्)......पूर्ववत्॥

सूक्त १८

१–१० अथर्वा। मन्त्रोक्ता देवताः।

१०७. अग्निं ते वसुवन्तमृच्छन्तु।
ये माघायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात् ॥१॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (प्राच्याः दिशः) पूर्वदिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें, (ते) वे (वसुवन्तम्) वसुओं के

स्वामी (अग्निम्) ज्योतिर्मय जगदग्रणी अर्थात् जगन्नेता [के न्यायदण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों।

[वसुवन्तम्=वसुओं और प्राची दिशा, तथा उसके साथ अग्नि के सम्बन्ध के परिज्ञान के लिये, तथा इसी प्रकार वर्तमान सूक्त के अन्य मन्त्रों के स्पष्टीकरण के लिये पूर्वसूक्त (१७) द्रष्टव्य है। अग्निम्=अग्रणीम् (निरु०७।४।१४) अघायवः=अघेच्छवः, अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति (निरु०६।३।११)। अभिदासात्=दसु उपक्षये। ऋच्छन्तु=ऋछ् गतौ। वैदिकसंध्यागत मनसा-परिक्रमा के मन्त्रों में "योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः तं वो जम्भे दध्मः" का अभिप्राय सूक्त १८ वें के मन्त्रों में लक्षित होता है।]

१०८. वायुं तेऽन्तरिक्षवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायवं एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥२॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (एतस्याः दिशः) इस दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें, (ते) वे (अन्तरिक्षवन्तम्) अन्तरिक्ष के स्वामी (वायुम्) पूर्वा-वायु के सदृश प्राणप्रद परमेश्वर [के न्यायदण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों। [एतस्याः दिशः=सम्भवतः पूर्व-दक्षिण की अवान्तर दिशा या पूर्व दिशा।]

१०९. सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात् ॥३॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें, (ते) वे (रुद्रवन्तम्) रुद्र-सम्बन्धी (सोमम्) अभिषुत स्वच्छ-जल के सदृश पवित्र परमेश्वर [के न्याय दण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों।

११०. वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायवं एतस्यां दिशोऽभिदासात् ॥४॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (एतस्याः दिशाः) इस दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें (ते) वे (आदित्यवन्तम्) आदित्य

रश्मियों सम्बन्धी (वरुणम्) मेघ के सदृश आनन्दरस बरसानेवाले परमेश्वर [के न्यायदण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों। [एतस्याः दिशः=सम्भवतः दक्षिण-पश्चिम की अवान्तर दिशा या दक्षिण दिशा।]

१११. सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायवः प्रतीच्या दिशोऽभिदासात् ॥५॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें, (ते) वे (द्यावापृथिवीवन्तम्) द्युलोक और पृथिवीलोकसम्बन्धी (सूर्यम्) सूर्य के सदृश प्रकाशमान परमेश्वर [के न्यायदण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों।

[सूर्यम्="तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः"॥ (यजु० ३२।१) के अनुसार अग्नि आदित्य (सूर्य) आदि नाम परमेश्वर के भी हैं। तथा "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णम्" (यजु०३१।१८) में परमेश्वर को "आदित्यवर्णम्" अर्थात् सूर्य के सदृश प्रकाशमान कहा है।]

११२. अपस्त ओषधीमतीर्ऋच्छन्तु ।
ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥६॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (एतस्याः दिशः) इस दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें, (ते) वे (ओषधीमतः) अन्नादि ओषधियों सम्बन्धी (अपः) जल के सदृश अन्नादि ओषधियों के प्रदाता सर्वव्यापक परमेश्वर [के न्यायदण्ड को] (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों।

[एतस्याः दिशः=सम्भवतः पश्चिम-उत्तर अवान्तर दिशा या पश्चिम दिशा। अपः="आप"=परमेश्वर। आपः=आप्लृ व्याप्तौ, अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर। तथा देखो—मन्त्र ६ की टिप्पणी में यजुर्वेद मन्त्र (३२।१)।]

११३. विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव उदीच्या दिशोऽभिदासात् ॥७॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें, (ते) वे (सप्त ऋषिवन्तम्)

सात ऋषियों के स्वामी (विश्वकर्माणम्) विश्व के कर्त्ता परमेश्वर [के न्यायदण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों।

[सप्त ऋषिवन्तम्=सप्त ऋषि "६इन्द्रियां और सप्तमी विद्या" (निरु०१२।४।३८)। तथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५); तथा "तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः" (अथर्व० १०।८।९)। अभिप्राय यह है कि सात ऋषियोंवाली मानुष-प्रजा का स्वामी, जो कि उस प्रजा का भी कर्त्ता है, उसके न्यायदण्ड को पापेच्छुक-हत्यारा व्यक्ति प्राप्त हो। सप्त ऋषियोंवाले प्राणी प्रायः भूमध्यरेखा की उत्तर दिशा में रहते हैं।]

११४. इन्द्रं ते मुरुत्वन्तमृच्छन्तु ।
ये मांघायवं एतस्यां दिशोऽभिदासांत् ॥८॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (एतस्याः दिशः) इस दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें, (ते) वे (मरुत्वन्तम्) मनुष्यजाति के स्वामी (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर [के न्यायदण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों।

[मरुत्वन्तम्=मरुतः मनुष्या मरणधर्माणः (देखो—सूक्त १७ मन्त्र ८की टिप्पणी)। इन्द्रम्=इदि परमैश्वर्ये। एतस्याः दिशः=सम्भवतः उत्तर-पूर्व की अवान्तर दिशा या उत्तर दिशा।]

११५. प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु ।
ये मांघायवों ध्रुवायां दिशोऽभिदासांत् ॥९॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (ध्रुवायाः दिशः) स्थिर अर्थात् निचली दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें, (ते) वे (प्रजननवन्तम्) उत्पत्तियों के कर्त्ता, तथा (प्रजापतिम्) प्रजाओं के स्वामी और रक्षक परमेश्वर [के न्यायदण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों।

[ध्रुवायाः=निचली दिशा सदा ध्रुव रहती है, स्थिर रहती है। देश-भेद से पूर्व आदि दिशाएं बदलती रहती हैं। कोई प्रदेश अपने पश्चिम में स्थित प्रदेश से यदि पूर्व में है, तो वही अपने पूर्व में स्थित प्रदेश की अपेक्षा पश्चिम में है। इसी प्रकार उत्तर, दक्षिण आदि दिशाएं भी अपेक्षाकृत परिवर्त्तित होती रहती हैं।]

११६. बृहुस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासात् ॥१०॥

(ये) जो (अघायवः) पापेच्छुक-हत्यारे (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर की दिशा से (मा) मेरा (अभिदासात्) क्षय करें (ते) वे (विश्वदेववन्तम्) समग्र दिव्यगुणों समग्र दिव्यपदार्थों तथा समग्र मानुषदेवों के स्वामी, और (बृहस्पतिम्)बृहती वेदवाणी के रक्षक, तथा आकाशादि महातत्त्वों के रक्षक परमेश्वर [के न्यायदण्ड] को (ऋच्छन्तु) प्राप्त करें।

[उपर्युक्त मन्त्रों के अनुसार अपकारी के प्रति बदले में अपकार करना धर्म तथा उच्च सदाचार के विरुद्ध है। आत्मोन्नति चाहनेवाला व्यक्ति ऐसे अपकारियों को परमेश्वरीय न्यायव्यवस्था के सुपुर्द कर आत्मोन्नति में सदा तत्पर रहे। ऊर्ध्वायाः दिशः=हवाई जहाज द्वारा आक्रमण।]

सूक्त १६

१-११ अथर्वा। देवता मन्त्रोक्ताः।

११७. मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विंशत तां प्र विंशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥१॥

(मित्रः) मित्रभूत अग्नि ने (पृथिव्या) पृथिवी के कारण (उद् अक्रामत्) ऊंचाई की ओर पग बढ़ाया है। [हे उपासको! ऊंचाई की ओर पग बढ़ाने के लिये][1] (वः) तुम्हें मैं (ताम्) उस (पुरम्) पालिका तथा सुखों से परिपूर्ण ब्रह्मरूपी पुरी की ओर (प्रणयामि) आगे ले चलता हूं। (ताम्) उस ब्रह्मपुरी में (आविशत) पूर्णतया प्रवेश पाओ (ताम्) उसमें (प्र विशत) प्रविष्ट हो जाओ। (सा) वह ब्रह्मपुरी (वः) तुम्हें (शर्म च) सुख तथा आश्रय (च) और (वर्म) आवरण (यच्छतु) प्रदान करे।

[मित्रः=इस पद द्वारा अग्नि का वर्णन अभिप्रेत है। पृथिवी का देवता

(१) यथा—"अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः। आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ॥(अथर्व० ५।३०।७)में "उदयनं पथः" द्वारा उन्नतिपथ; "आरोहणम्" द्वारा ऊंचे चढ़ने, तथा "आक्रमणम्" द्वारा पग बढ़ाने का वर्णन हुआ है।

और अधिपति अग्नि है। प्राणियों या मनुष्यों के जीवनों का साधकतम होने के कारण अग्नि को मित्र कहा है। अग्नि प्राणियों या मनुष्यों का उपकारक होने से मित्र है।]

उदक्रामत्=उद् (ऊंचाई)+क्रमु पादविक्षेपे। वैदिक साहित्य में अग्नि को पृथिवी का अधिपति अर्थात् राजा कहा है। यथा="पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा" (अथर्व० ६।१०।१) में पृथिवी आदि के सम्बन्ध में अग्नि को अधिपति कहा है।[1] अधिपति अग्नि की मानो प्रजाएं हैं--पृथिवी और पार्थिव पदार्थ। अग्नि पृथिवीरूपी प्रजा के कारण अधिपतिपद की ऊंचाई की ओर पग बढ़ाए हुए है, जैसे कि पृथिवी का अधिपति राजा पृथिवी पृथिवीस्थ प्रजाजनों और पार्थिव सम्पत्तियों के कारण ऊंचे अधिपतिपद को प्राप्त होता है। पुरम्=पुर् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। यह शब्द "पृ" धातु से निष्पन्न होता है, जिसका कि अर्थ है—पालन और पूरण। पुर् का अर्थ हुआ पालन करनेवाली, और सुख सामग्री से पूर्ण नगरी। मन्त्र में "पुरम्" द्वारा ब्रह्मपुरी का वर्णन हुआ है, जो कि उपासकों का परिपालन करती और उन्हें आनन्दरस का पान कराती है। ब्रह्मपुरी के दो अर्थ सम्भव हैं—ब्रह्मरूपी पुरी, और ब्रह्म का जहां साक्षात्कार होता है वह पुरी अर्थात् ब्रह्म की पुरी। इस अर्थ में ब्रह्मपुरी है—हृदय। हृदय में हृदयवासी ब्रह्म के ध्यान से समय पर सुख या आनन्द की अनुभूति होती है। वर्म=वर्म के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र प्रकाश डालते हैं। यथा—

"प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहम्" (अथर्व० १७।१।२७)

"परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहम्" (अथर्व० १७।१।२८)

"इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परिधापयामः" (अथर्व० १९।४६।४)

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" (अथर्व० १।१९।४)

इन मन्त्रांशों में ब्रह्म को वर्म कहा है। अथर्व० १९।४६।४ में 'इन्द्र' का अर्थ है परमैश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर अर्थात् ब्रह्म। प्रथम के तीन उद्धरणों में "ब्रह्मणा" द्वारा ब्रह्मप्रतिपादित "वेद" प्रतीत होता है, अर्थात् वेदोपदेश वर्म अर्थात् कवचरूप है। चतुर्थ उद्धरण में ब्रह्म का अर्थ "परमेश्वर" प्रतीत

(१) पृथिवी, श्रोत्र, वनस्पतियों का सम्बन्ध अधिपति-अग्नि के साथ दर्शाया है। श्रोत्र का भी सम्बन्ध पृथिवी के साथ है। क्योंकि पृथिवी सम्बन्धी वायुमण्डल के माध्यम द्वारा श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है।

होता है, जिसे कि आन्तर-वर्म कहा है, अर्थात् हृदयान्तर्वर्ती वर्म या कवच । ब्रह्म को जीवन के लिये "परिधि" भी कहा है । यथा—

"यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्" (अथर्व० ८।२।२५) । वर्म और परिधि शब्दों के अभिप्राय समान हैं । 'वर्म' का अर्थ है—"आवरण करनेवाला"; और परिधि का अर्थ हैं—"सब ओर धारण किया गया" । उपरिलिखित मन्त्र (अथर्व० १६।४६।४) में "परिधापयामः" पद परिधि अर्थ का सूचक है ।]

११८. वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥२॥

(वायुः) वायु ने (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष के कारण (उद् अक्रामत्) ऊंचाई की ओर पग बढ़ाया है, अर्थात् वायु अन्तरिक्ष का अधिपति हुआ है । (तां पुरं—यच्छतु) पूर्ववत् ।

[वायुः—"वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु" (अथर्व० ५।२४।८) में वायु को अन्तरिक्ष का अधिपति कहा है । अभिप्राय पूर्व मन्त्र के सदृश है, अर्थात् अधिपति होना यह ऊंचाई की ओर पग बढ़ाना है ।]

११९. सूर्यो दिवोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥३॥

(सूर्यः) सूर्य (दिवा) द्युलोक के कारण (उद् अक्रामत्) ऊंचाई पर चढ़ा है, अर्थात् द्युलोक का अधिपति हुआ है । (तां पुरं—यच्छतु) पूर्ववत् ।

[सूर्यः—"दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा" (अथर्व० ६।१०।३) में द्युलोक के साथ अधिपति सूर्य का सम्बन्ध दर्शाया है । अधिपति होना=ऊंचाई पर चढ़ना, या पग बढ़ाना है । तथा "सूर्यो दिवोऽधिपतिः" (पारस्कर १।५।१०) ।]

१२०. चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥४॥

(चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्रैः) नक्षत्रों के कारण (उद् अक्रामत्)

ऊंचाई पर चढ़ा है, अर्थात् नक्षत्रों का अधिपति हुआ है ।(तां पुरं—यच्छतु) पूर्ववत् । [चन्द्रमाः—"चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।१०) में चन्द्रमा को नक्षत्रों का अधिपति कहा है । अधिपति होना=ऊंचाई पर चढ़ना है ।]

१२१. सोम॒ ओष॑धीभि॒रुद॑क्राम॒त् तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः ।
तामा विं॑शत॒ तां प्र विं॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु ॥५॥

(सोमः) सोम ओषधि (ओषधीभिः) अन्य ओषधियों के कारण (उद् अक्रामत्) ऊंचाई पर चढ़ी है, अर्थात् अन्य ओषधियों का अधिपति हुआ है । (तां पुरं—यच्छतु) पूर्ववत् ।

[सोमः—"सोमो वीरुधामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।७) में सोम को वीरुधों का अधिपति कहा है । अधिपति होना=ऊंचाई पर चढ़ना या पग बढ़ाना है । वीरुध् का अर्थ है—बेलें ।"वीरुध्"शब्द ओषधियों का उपलक्षक है । तथा "सोम ओषधीनामधिपतिः" (पारस्कर १।५।१०) ।]

१२२. य॒ज्ञो दक्षि॑णाभि॒रुद॑क्राम॒त् तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः ।
तामा विं॑शत॒ तां प्र विं॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु ॥६॥

(यज्ञः) यज्ञ (दक्षिणाभिः) दक्षिणाओं के कारण (उद् अक्रामत्) ऊंचाई पर चढ़ा है, उन्नतिपथ पर चढ़ा है । (तां पुरं—यच्छतु) पूर्ववत् ।

[यज्ञः—यज्ञों की महिमा दक्षिणाओं के कारण होती है । ऋत्विजों को दक्षिणाएं मिलने के कारण उन के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होते हैं, और यज्ञों के द्वारा ईश्वर-प्रसादन, वायुशुद्धि, नीरोगता, वर्षा तथा अन्नोत्पादन के कारण यज्ञों की महिमा बढ़ती है । प्रकरण के अनुसार कहा जा सकता है कि अधिपति-यज्ञ ऋत्विजों को दक्षिणा-दान करता है, क्योंकि यज्ञ दक्षिणाओं का अधिपति है ।]

१२३. स॒मु॒द्रो न॒दीभि॒रुद॑क्राम॒त् तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः ।
तामा विं॑शत॒ तां प्र विं॑शत॒ सा व॒ः शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु ॥७॥

(समुद्रः) समुद्र (नदीभिः) नदियों के कारण (उद् अक्रामत्) ऊंचाई पर चढ़ा है, नदियों के अधिपति के रूप में उच्च-पद प्राप्त किये हुये

है। (तां पुरं——यच्छतु) पूर्ववत्। [समुद्रः—"यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा" (अथर्व० १४।१।४३) में सिन्धु अर्थात् समुद्र को नदियों का सम्राट् अर्थात् अधिपति कहा है। इस कारण समुद्र नदियों की अपेक्षा उच्च-पद प्राप्त है। तथा "समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः" (पारस्कर १।५।१०) में भी समुद्र को स्रोत्यों अर्थात् नदियों का अधिपति कहा है।]

१२४. ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥८॥

(ब्रह्म) वेद तथा परमेश्वर (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों के कारण (उद् अक्रामत्) ऊंचे चढ़ा है। (तां पुरं⋯⋯ यच्छतु) पूर्ववत्।

[ब्रह्म—ब्रह्म के दो अर्थ हैं—वेद और परमेश्वर। ब्रह्मचारी के भी दो अर्थ हैं—ब्रह्म अर्थात् वेदाध्ययन के निमित्त जिसने व्रताचरण किया है, "ब्रह्म वेदः तदध्ययननिमित्तं व्रतमाचरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी"। तथा "ब्रह्म परमेश्वरः तत्प्राप्तिनिमित्तं व्रतमाचरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी", अर्थात् सदा ब्रह्म में विचरनेवाला। इन ब्रह्मचारियों द्वारा वेद तथा परमेश्वर सर्वोच्च महिमा को प्राप्त हुए हैं। ब्रह्मचारी ही वेद तथा परमेश्वर की महिमा का वर्णन कर सकते हैं।]

१२५. इन्द्रो वीर्ये३णोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥९॥

(इन्द्रः) सम्राट् (वीर्येण) वीरता के कारण (उद् अक्रामत्) उच्च पद पर चढ़ा है। (तां पुरं⋯⋯यच्छतु) पूर्ववत्।

[इन्द्रः—"इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७)।]

१२६. देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥१०॥

(देवाः) दिव्यकोटि के योगाभ्यासी (अमृतेन) अमर-अविनाशी परमेश्वर की कृपा के कारण (उद् अक्रामन्) योग के उच्चपद पर चढ़े हैं।

(तां पुरं ····यच्छतु) पूर्ववत् । [देवाः=साध्याः ऋषयश्च । यथा—"तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये" (यजु० ३१।९) । अमृतेन—"यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम" (यजु० २५।१३) में परमेश्वरीय छाया अर्थात् आश्रय को "अमृत" कहा है ।]

१२७. प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥११॥

(प्रजापतिः) उत्तम-सन्तानों का रक्षक सद्गृहस्थी (प्रजाभिः) उत्तमसन्तानों के कारण (उद् अक्रामत्) कीर्ति के उच्चपद पर आरूढ़ हुआ है ।

[प्रजाभिः—प्रजा का अर्थ है—प्रकृष्ट अर्थात् उत्तम सन्तान । जा=अपत्य । यथा—"जा अपत्यम्" (निरु० ६।२।९), तथा प्र=प्रकृष्ट । उत्तम प्रजाओं के कारण माता-पिता की कीर्ति बढ़ती है ।]

सूक्त २० (सुरक्षा)

१-४ अथर्वा । बहुदैवत्यम् ।

१२८. अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः ।
सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परि पातु मृत्योः ॥१॥

(पौरुषेयम्) पुरुषों के द्वारा किये गए (यं वधम्) जिस वध अर्थात् युद्ध-हत्या को वक्ष्यमाण व्यक्तियों ने(अप) राष्ट्रों से पृथक् कर दिया है, हटा दिया है, और उसे(नि अधुः)नीच ठहराया है,[1] वे हैं—(इन्द्राग्नी)इन्द्र और अग्नि, (धाता) विधाता (सविता) ऐश्वर्यों का अध्यक्ष, (बृहस्पतिः) महासेनापति;(सोमः) सेनाओं का प्रेरक(राजा वरुणः) वरुण राजा,(अश्विना) अश्वों के दो अध्यक्ष, (यमः) तथा यम-नियमों का अध्यक्ष । (पूषा) पुष्टिकारक अन्नों का अध्यक्ष (मृत्योः) क्षुधाजन्य मृत्यु से (अस्मान्) हमारी (परि पातु) पूर्ण रक्षा करे ।

[इस बीसवें सूक्त को 'सुरक्षा-सूक्त' कहते हैं, क्योंकि इसमें उत्तम-रक्षा

१. अथवा उसे नीच कोटि में स्थापित किया है ।

के साधनों का वर्णन है। पौरुषेय वध=इन पदों द्वारा युद्ध अभिप्रेत है, जिसमें कि सैनिक-पुरुष परस्पर एक-दूसरे का वध करते हैं। युद्ध अर्थात् संग्राम का नाम "पृतनाज्य" भी है (निघं० २।१७), अर्थात् जिस युद्धाग्नि में कि "पृतना" अर्थात् सेनाएं "आज्य" अर्थात् घी का काम करती हैं। अप न्यधुः—राष्ट्रों के नेता परस्पर मिलकर समझौते द्वारा, इस पौरुषेय-वध का परित्याग कर सकते हैं। और इसे नीचकर्म कहकर सर्वदा के लिये दूर कर सकते हैं। वे राष्ट्रिय-नेता निम्नलिखित हैं—

इन्द्र और वरुण राजा—इन्द्र का अभिप्राय है "सम्राट्", जो कि संयुक्त-प्रादेशिक-राज्यों का अध्यक्ष होता है; और "वरुण" है प्रादेशिक राजा लोग। यथा—"**इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा**" (यजु० ८।३७)। अग्निः—अग्नि का अर्थ है—अग्रणी। "**अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति**" (निरु० ७।४।१४)। इन्द्र अर्थात् सम्राट् की दृष्टि से, अग्नि अर्थात् अग्रणी है उसका प्रधानमन्त्री। और वरुण अर्थात् प्रादेशिक राजाओं की दृष्टि से अग्नि अर्थात् अग्रणी हैं उनके मुख्यमन्त्री। धाता—धाता का अर्थ है—विधाता। राष्ट्र की विधियों या विधानों का निर्देशक अध्यक्ष, अर्थात् राष्ट्र के कानूनों का अध्यक्ष। सविता—राष्ट्र का धनाध्यक्ष। सविता=षु ऐश्वर्ये।

बृहस्पतिः—बृहती सेना का पति। तथा सोमः—इस सेना का प्रेरक षू प्रेरणे। सेनाओं के सम्बन्ध में इन्द्र, बृहस्पति और सोम के स्वरूपों के विज्ञान के लिये देखो मन्त्र (१९।१३।९)। इन्द्र अर्थात् सम्राट् सेनाओं का मुख्याधीश होता है।

अश्विना=अश्वों के दो अध्यक्ष। सेना की दृष्टि से अश्वों के दो वग होते हैं। अश्वारोहियों के अश्व, तथा रथियों के अश्व। इन अश्वों के अध्यक्षों को अश्विना=अश्विनौ यहा है। यमः—यम-नियमों का अध्यक्ष, अर्थात् राष्ट्र की सदाचार-नीति का अध्यक्ष या धर्माध्यक्ष।

पूषा—राष्ट्र के पुष्टिकारक अन्नादिकों का अध्यक्ष। यथा—"**अनक्तु पूषा पयसा घृतेन। अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम्**" (अथर्व० ५।२८।३)। तथा—"**इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्**" (अथर्व० ३।१७।४)।]

**१२९. यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु । २॥**

(प्रजापतिः) समग्र प्रजाओं के रक्षक, और (प्रजाभ्यः) समग्र प्रजाओं के लिये (मातरिश्वा) प्राणवायुरूप, (भुवनस्य) तथा समग्र पृथिवी के (यः पतिः) जिस पति ने (यानि) जिन (बहुलानि) नानाविध (वर्माणि) कवचों अर्थात् रक्षा-साधनों को (चकार) कर रखा है, जो रक्षासाधन (दिशः प्रदिशः च) दिशाओं और अवान्तर दिशाओं' या भिन्न-भिन्न देशों और प्रदेशों में (वसते) बसाए गये हैं, अर्थात् स्थापित किये गये हैं,(तानि) वे रक्षासाधन(मे)मुझ प्रत्येक प्रजाजन के लिये(सन्तु) रक्षा के साधन हों।

**१३०. यत् ते तनूष्वनंह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः ।
इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान् पातु विश्वतः ॥३॥**

(द्युराजयः) ज्ञान-द्युतियों द्वारा प्रदीप्त (ते) उन (देहिनः) देहधारी (देवाः) देवकोटि के विद्वानों तथा महात्माओं ने (तनूषु) देहों में (यत्) जो (वर्म) कवच अर्थात् रक्षासाधन (अनह्यन्त) बांध दिये हैं, तथा(इन्द्रः) पृथिवी के सम्राट् ने (यत्) जो (वर्म) कवच अर्थात् रक्षासाधन (चक्रे) कर रखे हैं, (तद्) वे वर्म अर्थात् रक्षासाधन (अस्मान्) हम सब की (विश्वतः) सब ओर से और सब प्रकार से (पातु) रक्षा करें।

[वर्म पातु—जात्येकवचन है। तनूषु=तनुएं अर्थात् देहें तीन प्रकार की होती हैं—स्थूल सूक्ष्म तथा कारण देहें। देवों ने निज सदुपदेशों द्वारा ब्रह्मचर्य सादा भोजन परिश्रम सद्विचार पवित्राचरण आदि रक्षा के जो साधन निर्दिष्ट किये हैं, जिन्हें कि हमने निज देहों में मानो बांध रखना है। तभी हमारी रक्षा सम्भव है। इन्द्र ने जो रक्षासाधन उपस्थित किये हैं, वे बाह्य साधन हैं, और देवों ने जो रक्षासाधन निर्दिष्ट किये हैं, वे आभ्यन्तर साधन हैं। द्युराजयः=द्यु (ज्ञानद्युति)+राज् दीप्तौ। देहिनः—मन्त्र में इस पद द्वारा देहधारी देवों का वर्णन हुआ है, यथा—मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव अतिथिदेव आदि।]

**१३१. वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म मे विश्वे देवाः क्रन् मा मा प्रापत् प्रतीचिका ॥४॥**

(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (वर्म) कवच हैं, रक्षासाधन हैं; (अहः) दिन (वर्म) कवच है; (सूर्यः) सूर्य (वर्म) कवच है, (विश्वेदेवाः) सब दैवी शक्तियों ने (मे) मेरे लिये (वर्म) कवच अर्थात् रक्षासाधन (क्रन्) उपस्थित किये हुए हैं, ताकि (मे) मुझे (प्रतीचिका) प्रतिकूल परिस्थिति (मा) न (प्रापत्) प्राप्त हो।

[मन्त्र में द्युलोक और सूर्य की किरणों को, पृथिवी की मिट्टी आदि को, दिन के प्रकाश को, तथा संसार के अन्य दिव्य पदार्थों को कवच अर्थात् रक्षा के साधन कहा है। ये प्राकृतिक रक्षासाधन हैं। इस प्रकार समग्र सूक्त में ४ रक्षा साधन दर्शाए हैं—(१) राष्ट्रों के नेताओं द्वारा पारस्परिक समझौते से युद्धों को समाप्त कर देना। (२) आन्तरिक विप्लवों को न होने देने के लिये देशों और प्रदेशों में स्थान-स्थान पर सेना और पुलिस आदि का प्रबन्ध करना। (३) महात्माओं के सदुपदेशों के अनुसार जीवन ढालने। तथा (४) प्राकृतिक शक्तियों का सेवन। प्रतीचिका=प्रतिकूलताएं यथा रोग चिन्ता आदि।]

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त २१

१ ब्रह्मा। छन्दांसि।

१३२. गायत्र्यु१ष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै ॥१॥

(जगत्यै) जगती छन्द के निर्माण के लिये गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् बृहती पङ्क्ति और त्रिष्टुप् छन्द अपेक्षित हैं।

[मुख्य छन्द ७ हैं—गायत्री से आरम्भ कर जगतीपर्यन्त। गायत्री छन्द २४ अक्षरों का होता है। उत्तरोत्तर चार-चार अक्षरों की वृद्धि द्वारा उष्णिक् आदि छन्दों का निर्माण होता है। जगती छन्द अन्तिम छन्द है। इसके निर्माण के लिये ४८ अक्षर अपेक्षित होते हैं। इन्हीं सात छन्दों का अधिक प्रयोग वैदिक मन्त्रों में हुआ है। इन छन्दों को आर्ष-सप्तक कहते हैं। जगती से उत्तर दो सप्तक और हैं—"अतिजगती" आदि सप्तक, तथा "कृति" आदि सप्तक। इन दो सप्तकों का प्रयोग वैदिकमन्त्रों में अल्प हुआ है। इस सूक्त के अगले सूक्तों (२२, २३) में ऋक्, सूक्त, अनुवाक आदि शब्दों का प्रयोग हुआ हैं, जिनके स्वरूपों के परिज्ञान के लिये छन्दों के स्वरूपों का परिज्ञान आवश्यक है। इसलिये सूक्त २१ में छन्दों का परिचय दिया है।]

सूक्त २२

१-२१ अङ्गिराः । मन्त्रोक्ता देवताः ।

१३३. आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥१॥

(आङ्गिरसानाम्) शारीरिक अङ्ग, शरीर अङ्गी, और शारीरिक रसों सम्बन्धी ओषधों का वर्णन करनेवाले (आद्यैः) प्रारम्भ के (पञ्च अनुवाकैः) पांच अनुवाकों द्वारा (स्वाहा) रोगनिवारणार्थ आहुतियां हों।

[अङ्गिराः=आङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां हि यद् रसः (छा० १।२।१०); आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः (बृहदा० १।३।८)। तथा अङ्गिराः= जङ्गिड ओषध, यथा—"तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः" (अथर्व० १९।३४।६)। तथा आङ्गिरसीः=ओषधयः, यथा—"आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवी र्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि" (अथर्व० ११।४।१६)। इन प्रमाणों द्वारा प्रतीत होता है कि "अङ्गिराः" शब्द द्वारा शरीर और शारीरिक रसों तथा ओषधियो का ग्रहण सम्भव है। अथर्ववेद के प्रथमकाण्ड में ६ अनुवाक हैं, जिन में से प्रथम के ५ अनुवाकों में रोगों और रोगोपचारों का वर्णन हुआ है। भिन्न-भिन्न ओषधों द्वारा यज्ञ करने पर रोगनिवारण वेदानुमोदित है। औषधों की आहुतियों द्वारा यज्ञोत्थ धूम फेफड़ों में जाकर, रक्त में मिलकर, रक्तसंचार द्वारा रोगों का विनाशक होता है।]

१३४. षष्ठाय स्वाहा ॥२॥

(षष्ठाय) छठी संख्यावाले मन के स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) आहुतियां हों।

[मन्त्र १ में शारीरिक रोगों की निवृत्ति के लिये आहुतियों का विधान किया है। मन्त्र २ में मानसिक स्वास्थ्य के लिये आहुतियों का विधान किया है। "षष्ठ" शब्द द्वारा "मन" का ग्रहण किया है। यथा "इमानि या पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः" (अथर्व० १९।९।५)।]

१३५. सप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहा ॥३॥

(सप्तमाष्टमाभ्याम्) सप्तम अर्थात् अहंकार, और अष्टम अर्थात् बुद्धि के स्वास्थ्य के लिये आहुतियां हों।

[मन्त्र २ में मन को षष्ठ कहा है। मन की प्रकृति अहंकार है, इसलिये अहंकार सप्तम है। और अहंकार की प्रकृति बुद्धि अष्टम है। मन अहंकार और बुद्धि अन्तःकरण हैं। अन्तःकरण के स्वस्थ और रुग्ण होने पर शरीर का स्वास्थ्य और रुग्णपन प्रायः होता है। इसलिये मन्त्र २ और ३ में अन्तःकरण के स्वास्थ्य के लिये आहुतियों का विधान किया है।]

१३६. नीलनखेभ्यः स्वाहा ॥४॥

(नीलनखेभ्यः) नखों के नीलेपन के निवारणार्थ (स्वाहा) आहुतियां हों।

[नीलनखेभ्यः=नीलनखान् निवारयितुं स्वाहा। "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" (अष्टा० २।३।१४) द्वारा, अथवा वारणार्थ को बुद्धिगत करके "वारणार्थानामभीप्सितः" (अष्टा० १।४।२७) द्वारा चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यथा "मशकाय धूमः"=मशकनिवारणार्थो धूमः। नखों का नीलपन यक्ष्मरोगजन्य अभिप्रेत है। यथा—"अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः। यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते॥ (अथर्व० २।३३।६; तथा २०।९६।२२)। अथर्व० २।३३।६) में यक्ष्मरोग का निवारण "कश्यपस्य वीवर्हेण" द्वारा निर्दिष्ट किया है। यथा—"कश्यपस्य वीवर्हेण वि वृहामसि" (अथर्व० २।३३।७)। कश्यपस्य वीवर्ह=पश्यक अर्थात् द्रष्टा सूर्य की रश्मियों द्वारा। कश्यप=सूर्य (अथर्व० १७।१।२७, २८); तथा (अथर्व० २।३२।१)।]

१३७. हरितेभ्यः स्वाहा ॥५॥

(हरितेभ्यः) हरित रोगों के निवारण के लिये (स्वाहा) आहुतियां हों।

["हरितेभ्यः" में चतुर्थी विभक्ति के लिये देखो मन्त्र ४ की व्याख्या। इसी प्रकार अगले मन्त्रों में भी चतुर्थी विभक्ति की उपपत्ति जाननी चाहिये। हरित या हरिमा (अथर्व० १।२२।१-४; ९।८।९; १९।४४।२) सम्भवतः एक ही रोग है। कई इसे Jaundice अर्थात् पाण्डु कामला या पीलिया रोग कहते हैं। अथर्ववेद में "हरितभेषजम्" द्वारा "आञ्जन" का निर्देश

किया है। यथा "उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम्" (४।९।३)। "जीवभोजनम्" पद द्वारा जीवन के लिये भोजन-रूप में आञ्जन के प्रयोग का विधान प्रतीत होता है। यह जाठराग्नि में स्वाहा अर्थात् आहुति है। हरित रोग के निवारण के लिये हरिमा-सूक्त में निम्नलिखित उपचार कहे हैं—यथा (१) सूर्योदय के पश्चात् सूर्य रश्मियों का सेवन या स्नान, "अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते" (अथर्व० १।२२।१), (२) "गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि" (१।२२।१), अर्थात् लाल गौ या लाल बैल की गोरोचना द्वारा लेप। (३) लाल वस्त्र पहिनना, "परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि। यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत्" (१।२२।२); अथवा लाल रश्मियों द्वारा रश्मिस्नान। इसी भाव को "या रोहिणीर्देवत्या गावः···ताभिष्ट्वा परि दध्मसि" (१।२२।३) द्वारा दर्शाया है। अर्थात् जो दैवत लाल गौएं (=रश्मियां) हैं, उन द्वारा तुझे घेर देते हैं। "देवत्याः गावः" द्वारा आधिदैविक गौओं का वर्णन हुआ है। गावः =रश्मिनाम (निघं० १।५)।

१३८. क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥६॥

(क्षुद्रेभ्यः) क्षुद्र अर्थात् अल्पकाय रोगजन्तुओं अर्थात् कीटाणुओं के निवारणार्थ (स्वाहा) आहुतियां हों।

[रोग-क्रिमि दो प्रकार के हैं—दृष्ट तथा अदृष्ट (अथर्व० २।३१।२)। ये क्रिमि आन्तों, सिर, छाती आदि स्थानों में रहकर रोग पैदा करते हैं। (अथर्व० २।३१।४-५) क्षुद्र शब्द द्वारा अदृष्ट अर्थात् सूक्ष्म कीटाणुओं का वर्णन किया गया है। क्षुद्र कीटाणुओं की विनाशक ओषधियों की आहुतियों से उत्पन्न यज्ञिय धूम्र इन का विनाश करता है।]

१३९. पर्यायिकेभ्यः स्वाहा ॥७॥

(पर्यायिकेभ्यः) पर्याय अर्थात् बारी से उत्पन्न रोगों के निवारण के लिये, तदुचित औषधों की (स्वाहा) आहुतियां हों।

[पर्याय=Occasionally; now and then (आपटे)। पर्यायिक का अभिप्राय "पर्यायोक्त रोगों की निवृत्ति के लिये"—भी सम्भव है। "पर्याय" =सूक्त के अवान्तर विभाग। यथा—अथर्ववेद (१६।१।१-३२) का एक ही विषय है—"दुःखमोचन"। और इसके अवान्तर विभाग या पर्याय हैं (४)।

इन पर्यायों में दुःस्वप्न तथा इसके दुष्परिणामों, और अन्य भी कतिपय रोगों का वर्णन है।]

१४०. प्र॒थ॒मेभ्य॑ः श॒ङ्खेभ्य॒ः स्वाहा॑ ॥८॥

१४१. द्वि॒ती॒येभ्य॑ः श॒ङ्खेभ्य॒ः स्वाहा॑ ॥९॥

१४२. तृ॒ती॒येभ्य॑ः श॒ङ्खेभ्य॒ः स्वाहा॑ ॥१०॥

(प्रथमेभ्यः) प्रथम कोटि के अर्थात् सर्वश्रेष्ठ (शङ्खेभ्यः) शङ्खों द्वारा साध्य रोगों के निवारण के लिये (स्वाहा) जाठराग्नि में आहुतियां हों ॥८॥

(द्वितीयेभ्यः) द्वितीयकोटि के (शङ्खेभ्यः) शङ्खों द्वारा साध्य रोगों के निवारण के लिये (स्वाहा) जाठराग्नि में आहुतियां हों ॥९॥

(तृतीयेभ्यः) तीसरी कोटि के (शङ्खेभ्यः) शङ्खों द्वारा साध्य रोगों के निवारण के सिये (स्वाहा) जाठराग्नि में आहुतियां हों ॥१०॥

[शङ्खों से अभिप्राय है—शङ्खभस्में। शङ्ख या शङ्खभस्म, तत्साध्य रोगों का उपलक्षक है। मन्त्र ८-१० में तीन प्रकार के शङ्ख कहें हैं। प्रत्येक प्रकार के शङ्खों की भस्मों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। (अथर्व० (४।१०।१) में शंख की "जातः विद्युतः ज्योतिषस्परि", "हिरण्यजाः", और "कृशनः" कहा है। यह पीतवर्ण शंख है, जैसे कि पीतवर्ण की कौड़ियां होती हैं। पीत-वर्ण के कारण ही कविता में पीतवर्ण शंख को "विद्युत की ज्योति से उत्पन्न हुआ", "हिरण्य से उत्पन्न हुआ" तथा "कृशन" अर्थात् सुवर्णरूप कहा है। कृशनम्=हिरण्यनाम (निघं० १।२)। यह शंख प्रथम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। द्वितीय कोटि के शंख को "समुद्रजः" कहा है (अथर्व० ४।१०।४) अर्थात् समुद्र से पैदा हुआ। यह बड़े आकार का शुभ्रवर्ण का होता है। तृतीय कोटि के शंख को "सिन्धुतः पर्याभृतः" (अथर्व० ४।१०।४) कहा है, अर्थात् नदियों से प्राप्त हुआ। इस प्रकार के शंखों को "घोघा" कहते हैं। ये छोटे आकार के होते हैं। "हिरण्यजाः; कृशनः" को "विश्वभेषजः" कहा है (अथर्व० ४।१०।३)। "समुद्रज शंख" द्वारा राक्षसरूप और खा जाने-वाले रोगों, अमीवा रोगों, अमति, तथा सदा कष्टप्रद रोगों पर विजय पाने

का वर्णन है (अथर्व० ४।१०।२, ३) । तथा "कार्शन" शंख को आयुषे, वर्चसे, बलाय, दीर्घायुत्वाय, तथा शतशारदाय—रक्षार्थ बान्धने का वर्णन हुआ है (अथर्व० ४।१०।७) । बान्धने का अभिप्राय है—शंखभस्म का सेवन कर उस के प्रभाव को शरीर में स्थिर रखना, उस का अपव्यय न करना ।]

१४३. उ॒पो॒त्त॒मेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥११॥

१४४. उ॒त्त॒मेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥१२॥

१४५. उ॒त्त॒रेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥१३॥

(उपोत्तमेभ्यः) उपोत्तम अर्थात् उत्तम पाशों के समीप वर्तमान पाशों को शिथिल करने के लिये (स्वाहा) समर्पण हो ॥११॥ (उत्तमेभ्यः) उत्तम पाशों को शिथिल करने के लिये (स्वाहा) समर्पण हो ॥१२॥ (उत्तरेभ्यः) अगले पाशों को शिथिल करने के लिये (स्वाहा) समर्पण हो ॥१३॥

[मन्त्रों में उत्तम उपोत्तम और उत्तर शब्दों द्वारा उत्तम मध्यम और अधम पाशों का वर्णन प्रतीत होता है । यथा "**उदुत्तमं वरुण पाशमदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय । अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम**" ॥(अथर्व० ७।८८।३)। इस मन्त्र में वरुण अर्थात् पापनिवारक परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे इन पाशों(फंदों)को शिथिल करे, ताकि हम अदिति अर्थात् अविनाश = मोक्ष के अधिकारी बन सकें। "स्वाहा" पदों द्वारा वरुण के प्रति आत्मसमर्पण सूचित किया है। स्वाहा =सु+आ+हा (ओहाक् त्यागे) । जीवात्मा को उत्तम मध्यम तथा अधम पाशों ने बान्ध रखा है। कारणशरीर सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर या बुद्धि मन और शरीर ये बन्धन क्रम से उत्तम मध्यम और अधम, अथवा उत्तम उपोत्तम तथा उत्तर बन्धन या पाश हैं । पाश भी आत्मा के लिये रोगरूप हैं ।]

१४६. ऋ॒षिभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥१४॥

(ऋषिभ्यः) शरीरस्थ ५ ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि इन सात ऋषियों के स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) आहुतियां हों । [ऋषिभ्यः="सप्त

ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५), तथा "शरीये षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी आत्मनि" (निरु० १२।४।३७)।]

१४७. शिखिभ्यः स्वाहा ॥१५॥

(शिखिभ्यः) शिखाओं अर्थात् ज्वालाओंवाली अग्नियों के प्रति (स्वाहा) घृत तथा हव्यों की आहुतियां हों।

[शिखा=A flame, यथा "प्रभामहत्या शिखयेव दीपः" (आपटे)। अतः "शिखिभ्यः" द्वारा सम्भवतः गार्हपत्य, आहवनीय, और दक्षिणा आदि अग्नियां अभिप्रेत हों। इनमें आहुतियों द्वारा गृहशुद्धि, वायुशुद्धि, स्वास्थ्य, तथा रोगविनाश होता है।

१४८. गणेभ्यः स्वाहा ॥१६॥

(गणेभ्यः) गणों के स्वास्थ्य के लिये, तदुचित हवियों द्वारा (स्वाहा) आहुतियां हों। [सूक्त में प्रायः रोगनिवारण का वर्णन है। इस लिये "गण" शब्द द्वारा व्यक्ति के गणों का ग्रहण करना उचित है। यथा—ज्ञानेन्द्रियगण, कर्मेन्द्रियगण, पञ्चभूतगण, और तदुत्पन्न शरीर, पञ्चतन्मात्रागण, अन्तःकरणचतुष्टयरूपगण। इन गणों के स्वास्थ्य के लिये स्वाहा कहा है।]

१४९. महागणेभ्यः स्वाहा ॥१७॥

महागणों के स्वास्थ्य के लिये, तदुचित हवियों द्वारा (स्वाहा) आहुतियां हों।

[महागणों द्वारा महासमाज के गण अभिप्रेत हैं। इस प्रकार मन्त्र में सामाजिक स्वास्थ्य का वर्णन हुआ है। वैयक्तिकगणों की अपेक्षा सामाजिक गण संख्या में महान् हैं। इस वैयक्तिक और सामाजिक भावना को मन्त्र १६ द्वारा सूचित किया है।]

१५०. सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥१८॥

(विदगणेभ्यः) विद्वानों के गणों अर्थात् (सर्वेभ्यः) सब (अङ्गिरोभ्यः) प्राणविद्या के आचार्यों के संस्मरण में (स्वाहा) आहुतियां हों।

[विदगणेभ्यः, विद=विद्+कः कर्तरि। "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (अष्टा० ३।१।१३५) अङ्गिरा का अभिप्राय है—प्राण (मन्त्र १ की व्याख्या

देखो)। प्राणविद्या के जाननेवालों को प्राणाचार्य कहते हैं। अथर्ववेद में मुख्यरूप में आथर्वण विद्याओं और आङ्गिरस विद्याओं का वर्णन है। इसलिये अथर्ववेद को "अथर्वाङ्गिरसवेद" कहा जाता है। यथा—"यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।। (अथर्व० १०।७।२०)।]

१५१. पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा ।।१९।।

(पृथक्-सहस्राभ्याम्) पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के, तथा हजारों व्यक्तियों के समूहों के गणों के स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) आहुतियां हों।।

अथवा—मन्त्र १५ से १९ तक के अभिप्राय निम्नलिखित हैं—

(मन्त्र १५) शिखाधारी ब्रह्मचारियों के लिये अन्नादि का प्रदान हो।

(मन्त्र१६) ऋषियों और ब्रह्मचारियों के गणों अर्थात् समूहों के लिये अन्नादि का प्रदान हो।

(मन्त्र१७) इन के महागणों अर्थात् महासमूहों के लिये अन्नादि का प्रदान हो।

(मन्त्र १८) सब प्राणविद्याविज्ञानियों तथा विद्वद्गणों के लिये अन्नादि द्वारा सत्कार हो।

(मन्त्र १९) उपर्युक्त पृथक्-पृथक् गणव्यक्तियों तथा ऐसे हजारों व्यक्तियों के लिये अन्नादि द्वारा सत्कार हो।।

१५२. ब्रह्मणे स्वाहा ।।२०।।

ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो, और परमेश्वर के प्रसादन के लिये आहुतियां तथा समर्पण हो।

१५३. ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ।।२१।।

संसार में जो (वीर्याणि) शक्तियां (संभृता=संभृतानि) एकत्र हुई हैं, उनमें (ब्रह्मज्येष्ठा=ब्रह्मज्येष्ठानि) ब्रह्मशक्ति ज्येष्ठ शक्ति है। (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ में (ज्येष्ठं ब्रह्म) सब से ज्येष्ठ ब्रह्म ने (दिवम्) द्युलोक को (आ ततान) ताना था। (उत) तथा (भूतानाम्) भूतभौतिक जगत् की (प्रथमा)

प्रथम शक्तिरूप (ब्रह्म) ब्रह्म (आ जज्ञे) शक्तिरूप में प्रकट हुआ था। (कः) कौन (तेन) उस (ब्रह्मणा) ब्रह्म के साथ (स्पर्धितुम्) स्पर्धा करने के (अर्हति) योग्य हो सकता है ? [प्रथमोत=प्रथमा उत । ब्रह्मा= ब्रह्म+आ (जज्ञे)।]

सूक्त २३

१–३० अथर्वा । मन्त्रोक्ता देवताः ।

१५४. आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥१॥

(आथर्वणानाम्) अथर्वा अर्थात् अचलकूटस्थ ब्रह्म द्वारा प्रोक्त (चतुर्ऋचेभ्यः) चार ऋचाओंवाले सूक्तों के लिये (स्वाहा) प्रशंसायुक्त वाणी हो।

[अथर्वा=थर्वतिः चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः (निरु० ११।२।१९)। तथा "योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्। त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान्" ॥ (अथर्व० ४।१।७) में अथर्वा=अचल कूटस्थ ब्रह्म। चतुर्ऋचेभ्यः=अथर्ववेद का प्रारम्भ चार ऋचाओंवाले सूक्त से होता है। इसलिये १९।२३।१ का मन्त्र "चतुर्ऋचेभ्यः' द्वारा प्रारम्भ किया गया है। स्वाहा=वाक् (निघं० १।११) तथा स्वाहा=सु+आह (निरु० ८।३।२१), अर्थात् सुप्रशस्त वाणी। अर्थात् हम इन सूक्तों की प्रशंसा करते हैं। सूक्तों में सदुपदेशों की दृष्टि से सूक्तों की प्रशंसा की गई है। २३वें सूक्त में आगे के मन्त्रों के उत्तरोत्तर क्रमशः एक-एक ऋचा की वृद्धिवाले कतिपय सूक्तों का कथन किया गया है।]

१५५. पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा ॥२॥

५ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

१५६. षडृचेभ्यः स्वाहा ॥३॥

६ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

१५७. सप्तर्चेभ्यः स्वाहा ॥४॥

७ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

१५८. अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥५॥

८ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१५९. नवर्चेभ्यः स्वाहा ॥६॥

९ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६०. दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥७॥

१० ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६१. एकादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥८॥

११ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६२. द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥९॥

१२ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६३. त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१०॥

१३ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६४. चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥११॥

१४ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६५. पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१२॥

१५ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६६. षोडशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१३॥

१६ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६७. सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१४॥

१७ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६८. अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१५॥

१८ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१६९. एकोनविंशतिः स्वाहा ॥१६॥

१९ काण्डों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो । या १९ वें काण्ड के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो ।

१७०. विं॒श॒तिः स्वाहा॑ ॥१७॥

२० काण्डों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो। या २० वें काण्ड के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

१७१. म॒ह॒त्का॒ण्डाय॒ स्वाहा॑ ॥१८॥

महाकाण्ड अर्थात् २० वें काण्ड के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

१७२. तृ॒चेभ्य॒ः स्वाहा॑ ॥१९॥

३ ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो। सायणाचार्य ने मन्त्र १९ के पश्चात् "द्व्यर्चेभ्यः स्वाहा" मन्त्र लिखा है।

१७३. ए॒क॒र्चेभ्य॒ः स्वाहा॑ ॥२०॥

१ ऋचा वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

१७४. क्षु॒द्रेभ्य॒ः स्वाहा॑ ॥२१॥

क्षुद्र अर्थात् अल्प संख्या वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

[इस २३ वें सूक्त का प्रारम्भ "**चतुर्ऋचेभ्यः**" द्वारा किया गया है, क्योंकि अथर्ववेद का प्रथम सूक्त चतुर्ऋचात्मक है, चार ऋचाओं वाला है, जैसे कि २२ वें सूक्त का प्रारम्भ "**आद्यैः पञ्चानुवाकैः**" द्वारा किया है। अर्थात् अथर्ववेद के आदि के=प्रारम्भ के ५ अनुवाकों द्वारा किया है। "**चतुर्ऋचेभ्यः**" से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर क्रमशः एक-एक ऋचा की वृद्धि वाले "**अष्टादशर्चेभ्यः**" तक २३ वें सूक्त में कथन हुआ है। "**एकोविंशतिः स्वाहा**" (मन्त्र १९) में स्वाहा शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति नहीं है। यही परिस्थिति "**विंशतिः स्वाहा**" (मन्त्र १७) की है। यह भेद सम्भवतः यह दर्शाता है कि "**एकोनविंशतिः, तथा विंशतिः**" मन्त्र १९ तथा २० ऋचाओं वाले सूक्तों के लिये अभिप्रेत नहीं। अतः इन पदों के अर्थ क्रमशः १ से १९ काण्ड तथा १ से २० काण्ड ही प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद में २० काण्ड ही हैं। अथवा इन का अभिप्राय है केवल १९ वां काण्ड, तथा केवल २०वां काण्ड। "**चतुर्ऋचेभ्यः**"से पूर्व तत्संलग्न **तृचेभ्यः द्व्यृचेभ्यः एकर्चेभ्यः** तथा **एकानृचेभ्यः** का कथन शेष है, जिन्हें कि मन्त्र १९,२०,२१, २२ द्वारा निर्दिष्ट किया है। ये चार मन्त्र सूक्तों में ऋक्-संख्या के उत्तरोत्तर ह्रास के सूचक हैं। समग्र अथर्ववेद में "**तृच**" सूक्त लगभग १७३, "**द्व्यृच**" सूक्त

४६, "एकर्च" सूक्त ७५, तथा "एकानृच" सूक्त १ है। इस संख्या के क्रम से इसलिये "तृचेभ्यः, एकर्चेभ्य, क्षुद्रेभ्यः और एकानृचेभ्यः"—यह क्रम रखा प्रतीत होता है। वर्तमान २३ वें सूक्त में "द्व्यृचेभ्यः" का वर्णन नहीं। इसलिये सम्भवतः "क्षुद्रेभ्यः" द्वारा "द्व्यृचेभ्यः" सूक्तों का कथन हुआ है। क्योंकि अथर्ववेद में "द्व्यृच" सूक्त संख्या में तृच और एकर्च सूक्तों की अपेक्षया अल्प अर्थात् क्षुद्र हैं।]

१७५. एकानृचेभ्यः स्वाहा ॥२२॥

एक ऋचा वाले, परन्तु "अनृच" अर्थात् न सम्पूर्ण ऋचा वाले सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

[एकानृचेभ्यः=देखो अथर्व० (१९।२१।१)। इस सूक्त में जो ऋचा है, वह पूरी ऋचा नहीं, आधी ऋचा है।]

१७६. रोहितेभ्यः स्वाहा ॥२३॥

रोहितसूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

["रोहित" शब्दयुक्त सूक्त आरोहण करनेवाले अर्थात् उदित होने वाले सूर्य और परमेश्वरपरक हैं, यथा काण्ड १३ के सूक्त। इन सूक्तों में आधिदैवक दृष्टि से सूर्य का और आध्यात्मिक दृष्टि से परमेश्वर का वर्णन हुआ है। कौशिक सूत्रों (९९।४) में इन सूक्तों का निर्देश "रोहितैः" शब्द द्वारा हुआ है।]

१७७. सूर्याभ्यां स्वाहा ॥२४॥

सूर्या के दो सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

["सूर्याभ्याम्" द्वारा काण्ड १४ के दो सूर्या-सूक्तों का निर्देश किया है। सूर्यासूक्त सूर्या अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारिणी के विवाहपरक सूक्त हैं। विवाह-पद्धतियों में इन्हीं दो सूक्तों से कई मन्त्र लिये गये हैं।]

१७८. व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥२५॥

"व्रात्य" के वर्णन सम्बन्धी दो अनुवाकों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

[अथर्ववेद के १५वें काण्ड में दो अनुवाक हैं, जिनमें "व्रात्य" का वर्णन है। व्रात्य=व्रतं कर्मनाम (निघं०२।१); तथा व्राताः मनुष्यनाम

(निघं० २।३)। अर्थात् व्रतपति तथा मनुष्यजाति का हितकारी परमेश्वर, तथा व्रतधारी और मनुष्य जाति का कल्याण करनेवाला महाविद्वान् व्यक्ति।]

१७९. प्राजापत्याभ्यां स्वाहा ॥२६॥

प्रजापति-सम्बन्धी दो अनुवाकों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

[अथर्ववेद १६वें काण्ड के दो अनुवाक "प्राजापत्याभ्याम्" द्वारा अभिप्रेत हैं। सर्वानुक्रमणी में इन दो अनुवाकों को 'प्राजापत्य' कहा है। १६वें काण्ड के प्रथम पर्याय का देवता प्रजापति है।

अथवा "प्राजापत्याभ्याम्" द्वारा दो सूक्त अभिप्रेत हैं, जिनमें कि "प्राजापत्य" का वर्णन है। यथा—"**कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते**" (अथर्व० ३।२३।५)। इसमें प्राजापत्य का अर्थ है—"प्रजापति बनने का कर्म", अर्थात् गर्भाधान। तथा—"**प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति**" (अथर्व० कां० ९। सू० ६। पर्याय २। मन्त्र ११)। **प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति**" (अथर्व० कां० ९। सू० ६। पर्याय २। मन्त्र १२)। इन मन्त्रों में "**प्राजापत्य यज्ञ**" का कथन है, और कहा है कि जो गृहस्थी अन्नादि द्वारा अतिथि की सेवा करता है, वह मानो प्रजापति परमेश्वर के रचाए यज्ञ का विस्तार करता है, और वह प्रजापति का पदानुगामी होता है।]

१८०. विषासह्यै स्वाहा ॥२७॥

"विषासहि"पद द्वारा आरब्ध काण्ड के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

[अथर्ववेद काण्ड १७ का आरम्भ "**विषासहिं सहमानम्**" द्वारा होता है। इस काण्ड में इन्द्र अर्थात् राजा तथा परमेश्वर का वर्णन है, जिन्हें कि—"पराभव करने वाला, तथा सहनशील कहा है।]

१८१. मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा ॥२८॥

मङ्गलकारी सूक्तों के लिये प्रशंसायुक्त वाणी हो।

[वेद के सब सूक्त मंगलकारी हैं। वैदिक दण्डविधान भी मङ्गलकारी है। दण्ड द्वारा व्यक्ति सन्मार्गगामी बन जाता है। उपनिषद् में कहा

है कि परमेश्वर के भय से वायु बहती, भय से सूर्य तपता, विद्युत् तथा मृत्यु भी इस के भय से निजकर्मों में व्यापृत हैं। इसलिये दण्ड-विधान भी मङ्गलकारी है। क्रमानुसार अथर्ववेद के १८वें काण्ड का कथन सम्भवतः मन्त्र २८वें द्वारा अभिप्रेत हो। १८वें काण्ड में मृत्यु तथा पुनर्जन्म का वर्णन है। मृत्यु तथा पुनर्जन्म व्यक्ति या आत्मा के लिये मङ्गलकारी होते हैं। इसी दृष्टि से संहारकारी रुद्र-देवता को शिव तथा शंकर भी कहते हैं।]

१८२. ब्रह्मणे स्वाहा ॥२९॥

व्याख्या देखो (अथर्व० १९।२२।२०)।

१८३. ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥३०॥

व्याख्या देखो (अथर्व० १९।२२।२१)।

[**विशेष वक्तव्य**—१९।२२।१-२१ में कई रोगों तथा तत्सम्बन्धी कई सूक्तों तथा १९।२३।१-३० में ऋक्-संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के क्रम से वर्त्तमान कई सूक्तों का निर्देश नहीं है। ८ से १२ काण्डों में २१ ऋचाओं वाले सूक्त से लेकर ७३ ऋचावाले सूक्त हैं, जिनका निर्देश १९।२३।१-३० में अनुपलब्ध है। प्रतीयमान इन क्षतियों का समाधान १९।२२।१-२१ में पठित "**ब्रह्मणे स्वाहा**" द्वारा जानना चाहिये। यही "**ब्रह्मणे स्वाहा**" मन्त्र १९।२३।१-३०में भी पठित है। "ब्रह्मणे" शब्द द्वारा ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का भी ग्रहण होता है, और ब्रह्मवेद अर्थात् समग्र अथर्ववेद का भी। परमेश्वरार्थ में "स्वाहा" का अर्थ है—सुविधि द्वारा तथा पूर्णरूप में परमेश्वर के प्रति समर्पण। स्वाहा=सु+आ=हा (ओहाक् त्यागे)। इस प्रकार ब्रह्मवेद में, रहे सभी सूक्त समाविष्ट जानने चाहियें। एकोनविंशतिः विंशतिः तथा महत्काण्डाय में भी सभी अनिर्दिष्ट सूक्त समाविष्ट हो जाते हैं।]

सूक्त २४

१-८ अथर्वा। बहुदैवत्यम्, १ ब्रह्मणस्पतिः।

१८४. येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन ॥१॥

(येन) जिस विधि से (देवाः) द्योतमान ग्रह आदि ने (देवम्) द्योतमान (सवितारम्) ग्रहों आदि के उत्पादक और प्रेरक ऐश्वर्यशाली सूर्य को (परि) सब प्रकार से (अधारयन्) नियत स्थात में धारित किया हुआ है, (तेन) उस विधि से (ब्रह्मणस्पते) हे वेदों के विद्वान् ! आप, तथा हे अन्य राष्ट्रदेवो ! (इमम्) इस सम्राट् को (राष्ट्राय) भूमण्डलव्यापी राष्ट्र के प्रवन्ध के लिये (परि) सब प्रकार से (धत्तन) धारित करो।

[येन—ग्रह आदि और सूर्य पारस्परिक आकर्षण-शक्ति द्वारा एक दूसरे को धारण किये हुए हैं। इसी प्रकार प्रजावर्ग और राजवर्ग में पारस्परिक स्नेहाकर्षण होना चाहिये। तभी राज्य का प्रबन्ध उत्तम हो सकता है, और शासन में स्थिरता आ सकती है।]

१८५. परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन ।

यथैनं जरसे नयां ज्योक् क्षत्रेऽधि जागरत् ॥२॥

हे राष्ट्राधिकारियो ! तथा प्रजाजनो ! (आयुषे) राष्ट्र में अन्न की वृद्धि के लिये, (महे क्षत्राय) महार्घसम्पत्तियों की प्राप्ति तथा क्षतियों क्षतों से महात्राण के लिये (इमम्) इस (इन्द्रम्) सम्राट् का (परि) सब प्रकार से (धत्तन) धारण-पोषण करो। (यथा) ताकि (एनम्) इस सम्राट् को (जरसे) जरावस्था तक (नयाम्) मैं ब्रह्मणस्पति ले चलूं, और यह (ज्योक्) चिरकाल (क्षत्रेऽधि) महार्घसम्पत्तियों की प्राप्ति तथा क्षतियों-क्षतों से महात्राण के निमित्त (जागरात्) जागरूक रहे, सावधान रहे।

[इन्द्रम्="इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु०८।३७)। आयुषे=आयुः अन्न-नाम (निघं०२।७)। क्षत्राय=क्षत्रम् धन-नाम (निघं०२।१०)। तथा क्ष (क्षति)+त्रम् (त्राणम्); तथा "क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः"। अधि जागरत्=अथवा सम्राट् स्वाधिकारपूर्वक जागरूक रहे।]

१८६. परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन ।

यथैनं जरसे नयां ज्योक् श्रोत्रेऽधि जागरत् ॥३॥

हे राष्ट्राधिकारियो ! तथा प्रजाजनो ! (आयुषे) राष्ट्र में अन्न की वृद्धि के लिये, (महे श्रोत्राय) श्रोत्र द्वारा ग्राह्य महती वेद-विद्या के प्रसार के लिये, (इमम्) इस (सोमम्) सर्वप्रेरक तथा सौम्य स्वभाव वाले सम्राट्

का (परि) सब प्रकार से (धत्तन) धारण-पोषण करो। (यथा) ताकि (एनम्) इस सम्राट् को (जरसे) जरावस्था तक (नयाम्) मैं ब्रह्मणस्पति ले चलूं, और यह (ज्योक्) चिरकाल तक (श्रोत्रे अधि जागरत्) वेद-विद्या के प्रचार के निमित्त स्वाधिकारपूर्वक जागरूक रहे, सावधान रहे।

[मन्त्र में श्रोत्र पद वेदपरक है। श्रूयन्ते धर्मार्थकाममोक्षा अस्मात् इति श्रोत्रं वेदः। तथा 'श्रोत्रिय' शब्द का अर्थ है—"वेदाध्यायी", अर्थात् वेद-पाठक। इससे भी श्रोत्र का अर्थ वेद प्रतीत होता है। यथा—"श्रोत्रियंश् छन्दोऽधीते" (अष्टा० ५।२।८४)। अथवा छन्दसो वा श्रोत्रभावः निपात्यते "तदधीते" इत्येतस्मिन्नर्थे प्रत्ययः "घः"।]

१८७. परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः।
बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥४॥

हे राष्ट्राधिकारियो! तथा प्रजाजनो! (परि धत्त) सम्राट् को [राज्याभिषेक के समय] वस्त्र पहिराओ, (नः) हमारे सम्राट् का (वर्चसा) सम्राट्-उचित तेज और दीप्ति तथा शोभा द्वारा (धत्त) धारण और पोषण करो। (इमम्) इस सम्राट् को (जरामृत्युम्) बुढ़ापे से मरनेवाला (कृणुत) करो, (दीर्घम् आयुः) इसलिये इसका इस प्रकार धारण-पोषण करो, ताकि इस की दीर्घ आयु हो। (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी के पति पुरोहित ने (सोमाय राज्ञे) सर्वप्रेरक तथा सौम्यप्रकृति राजा के (परि-धातवै उ) पहिरने के लिये (एतत् वासः) यह वस्त्र (प्रायच्छत्) दिया है।

[वैदिक राज्य व्यवस्थानुसार जब किसी सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को राजार्थ चुन लिया जाय, तब उसे उस की पूर्ण आयु पर्यन्त, सुशासन का अधिकार दे देना चाहिये।]

१८८. जरां सु गच्छ परि धत्स्व वासो भवा गृष्टीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥५॥

हे सम्राट्! (वासः) राज्याभिषेक के वस्त्र को (परिधत्स्व) धारण कीजिये, और (जराम्) जरावस्था तक (सु) अच्छे प्रकार अर्थात् नीरोग रहते हुए (गच्छ) जाइये, (उ) तथा (गृष्टीनाम्) गौ आदि पशुओं की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करनेवाले (भव) हूजिये। (पुरूचीः) नाना कार्यों से व्याप्त (शतं शरदः) सौ वर्ष (जीव) जीवित रहिये, (च) और

(रायः पोषम्) परिपुष्ट अर्थात् प्रभूत सम्पत्ति से (उप संव्ययस्व) सम्यक् प्रकार घिरे रहिये।

१८९. परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चारुर्वि भजासि जीवन् ॥६॥

हे सम्राट्! (स्वस्तये) प्रजा के कल्याण के लिये (इदम्) इस (वासः) राज्याभिषेक के वस्त्र को (परि अधिथाः) आपने धारण किया है, पहरा है। आप (उ) निश्चय से (वापीनाम्) बीजबोई खेतियों, और बावडी आदि जलाशयों की (अभिशस्तिपाः) विनाश से रक्षा करनेवाले (अभूः) हुए हैं। (शतं······पुरूचीः) आप नाना कार्यों से व्याप्त सौ वर्ष जीवित रहिये, और (जीवन्) जीवित रहते हुए (वसूनि) सम्पत्तियों का (विभजासि) यथोचित विभाग प्रजाजनों में करते रहिये, (चारुः) इस प्रकार आप प्रजाजनों के लिये रुचिकर बनिये।

[वापीनाम्=वपन्ति बीजानि यत्रेति वापिः, जलाशयभेदो वा (उणा० ४।१२६)। वि भजासि=राष्ट्र की सम्पत्तियों का यथोचित विभाग प्रजाजनों में करना, यह राजा का काम है। चारुः=रुचेर्विपरीतस्य (निरु० ११।१।६)।]

१९०. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥७॥

(योगेयोगे) राष्ट्र की प्रत्येक योजना में, तथा (वाजे-वाजे) प्रत्येक प्रकार के अन्नोत्पादनों में, (तवस्तरम्) शीघ्रकारी तथा वृद्धिकारक (इन्द्रम्) सम्राट् का (सखायः) हे मित्र प्रजाजनो! (हवामहे) हम सब सत्कारपूर्वक आह्वान करते हैं, (ऊतये) ताकि हमारी रक्षा और वृद्धि हो सके।

[तवः=तवतेः वृद्धिकर्मणः (निरु० ६।३।२५)। तवः बलनाम (निघं० २।९)। वाजः अन्ननाम (निघं० २।७)।]

१९१. हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व।
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ॥८॥

हे सम्राट्! (हिरण्यवर्णः) सुवर्ण के समान तेजस्वीरूप वाले,

(अजरः) जरारहित, (सुवीरः) उत्तमवीर, तथा (जरामृत्युः) बुढ़ापे पर मृत्युवाले आप (प्रजया) प्रजाजनों के साथ (संविशस्व) मिल कर बैठिये। (तद्) यह बात (अग्निः) राष्ट्र के अग्रणी अर्थात् सर्वाग्रनेता प्रधानमन्त्री ने (आह) कही है, (तद् उ) उसे ही (सोमः) सेना के प्रेरक ने, तथा (बृहस्पतिः) महती सेना के पति ने भी (आह) कहा है, (सविता) ऐश्वर्यों के स्वामी वित्तमन्त्री तथा (इन्द्रः) वाणिज्य-व्यापार के अध्यक्ष ने भी (तद्) उस बात को कहा है।

[अग्निः=अग्रणीर्भवति (निरु० ७।४।१४)। सोमः, बृहस्पतिः=देखो (१६।१३।६)। सविता=षु ऐश्वर्ये। इन्द्रः=वणिक्। यथा—"इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु" (अथर्व० ३।१५।१)। संविशस्व=सं विष्टः (Seated to gather; आपटे)।]

सूक्त २५

गोपथः। वाजी।

१९२. अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मि प्रथमस्य च।
उत्कूलमुद्वहो भवोदुह्य प्रति धावतात् ॥१॥

हे सम्राट्! (त्वा) तुझे (अश्रान्तस्य) अथक-परिश्रमी (च) और (प्रथमस्य) राष्ट्र के प्रथम पुरुष अर्थात् अग्नि (१६।८।१) सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री के (मनसा) विचारों के साथ (युनज्मि) मैं पुरोहित संयुक्त करता हूं। (उत्कूलम्) ऊंचाई के उच्च-तट की ओर (उद्वहः) प्रजाजन को ऊंचे ले जानेवाला (भव) तू हो, (उदुह्य) और ऊंचे ले जाकर (प्रति) और अधिक ऊंचाई की ओर (धावतात्) तू दौड़ लगा।

[उद्=ऊंचाई। ऊंचाई की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। आर्थिक सामाजिक, सदाचारिक, आध्यात्मिक आदि नानाविध ऊंचाईयां हैं, तथा इन में प्रत्येक की ऊंचाई असीमित है।]

सूक्त २६

१—४ अथर्वा। अग्निः, हिरण्यं च।

१९३. अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु।
य एनद् वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति ॥१॥

(यत्) जो (हिरण्यम्) हितकर और रमणीय वीर्य-तत्त्व (अग्नेः परि) तपश्चर्या की अग्नि से (प्रजातम्) प्रकृष्टस्वरूप में प्रकट होता है, वह वीर्य-तत्त्व (मर्त्येषु अधि) मरणधर्मा मनुष्यों में (अमृतम्) अमृत परमेश्वर को (दध्रे) स्थापित करता है। (यः) जो कोई (एनत्) वीर्य-तत्त्व के इस स्वरूप को (वेद) जानता है, (सः इद्) वह ही (एनम्) इस अमृत परमेश्वर की प्राप्ति के (अर्हति) योग्य होता है। (यः) जो कोई (बिभर्ति) वीर्य-तत्त्व को धारण-पोषण करता है, वह (जरामृत्युः) बुढ़ापे पर मरनेवाला (भवति) हो जाता है।

[हिरण्यम्=हितरमणं भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा (निरु० २।३।१०)। हिरण्यम्=semen virtle (आपटे),अर्थात् पुरुष का वीर्य। अथर्व० १।३५वें सूक्त में हिरण्य के सम्बन्ध में कहा है कि हिरण्य "दाक्षायण" है, अर्थात् कर्मशक्ति और वृद्धि का अयन अर्थात् घर या मार्ग है, (दक्ष गतौ, वृद्धौ)। तथा "अपाम्" अर्थात् रक्त का तेज, ज्योति, ओज और बल है। आपः=रक्त (अथर्व० १०।२।११)। यथा—"कोऽस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः"। इस उद्धरण में 'सिन्धु' हृदय है। लोहिनीः=लोहयुक्त लाल खून, तथा ताम्रधूम्राः=नीला खून; तीव्राः=रक्त का तीव्र आस्वाद। तथा अथर्व०१।३५।३ में "हिरण्य" को वनस्पतियों का सार कहा है, यथा—"वनस्पतीनामुत[1] वीर्याणि"।]

१९४. यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे।
तत् त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान् भवति यो बिभर्ति ॥२॥

(सूर्येण) सूर्यसदृश तेजस्वी आदित्य ब्रह्मचारी द्वारा किये गए (सुवर्णम्) उत्तम रूपवाले (यत्) जिस (हिरण्यम्) वीर्य-तत्त्व को (पूर्वे) अनादिकाल के (प्रजावन्तः) श्रेष्ठ सन्तानें चाहनेवाले (मनवः) मनस्वी सद्गृहस्थी (ईषिरे) ब्रह्मचर्यपूर्वक प्राप्त करते रहते हैं, (तत्) वह (चन्द्रम्) आह्लादकारी और दीप्तिप्रद वीर्य-तत्त्व (त्वा) तुझे (वर्चसा) तेज और दीप्ति के साथ (सं सृजति) सम्बद्ध करता है। (यः) जो कोई

१. ओषधिभ्य अन्नं अन्नाद्रेतः (वीर्यम्)।

(बिभर्ति) वीर्य-तत्त्व का भरण-पोषण करता है, वह (आयुष्मान्) स्वस्थ और दीर्घ आयु वाला (भवति) होता है।

[चन्द्रम्=चदि आह्लादे। ईषिरे=ईष् गतौ। गतेः त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च।]

१९८. आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।

यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥३॥

हे सद्गृहस्थ! (आयुषे) स्वस्थ दीर्घ आयु की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझे, (वर्चसे) वर्चस् (च) और (ओजसे) ओजस् (च) और (बलाय) बल की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझे [मैं हिरण्य-तत्त्व के साथ सम्बद्ध करता हूं], (यथा) जिस से कि तू (हिरण्यतेजसा) वीर्य-तत्त्व के तेज से संयुक्त हुआ (जनान् अनु) प्रजाजनों में (विभासासि) चमके।

[विभासासि=वि+भासृ (दीप्तौ)+आट् (लेटि)+मध्यमपुरुष एकवचन। यह वचन पुरोहित या गुरु द्वारा कथित है। बल=शारीरिक बल। वर्चस्=विद्यासम्बन्धी मानसिक बल। ओजस्=आध्यात्मिक बल। विभासासि=अथवा विभासा असि, विभासा युक्तो भवसि भासृ दीप्तौ।]

१९९. यद् वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः।

इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत् त आयुष्यं भुवत् तत् ते वर्चस्यं भुवत् ॥४॥

(वरुणः राजा) प्रादेशिक राजा (यद्) जिस हिरण्य अर्थात् वीर्य-तत्त्व के गुणों को (वेद) जानता है, (देवः) विजिगीषु (बृहस्पतिः) बृहती सेना का पति जिस वीर्य-तत्त्व के गुणों को (वेद) जानता है, (वृत्रहा) पापों का हनन करनेवाला (इन्द्रः) सम्राट् (यद्) जिस वीर्य-तत्त्व के गुणों को (वेद) जानता है, (तत्) वह वीर्य-तत्त्व हे सद्गृहस्थ! (ते) तेरे लिये (आयुष्यम्) आयुवर्धक (भुवत्) हो। (तत्) वह (ते) तेरे लिये (वर्चस्यम्) तेजवर्धक (भवत्) हो।

[इन्द्र वरुण राजा—"**इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा**" (यजु० ८। ३७)। देवः=दिवु विजिगीषा। बृहस्पतिः, देखो (अथर्व० १९।१३।९)। अभिप्राय यह है कि राज्याधिकारी यदि ब्रह्मचर्य की महिमा को जानने वाले हों, तो प्रजा पर भी उन का प्रभाव पड़ता है। वृत्रहा=वृत्र अर्थात् तमस् और तामसिक पाप (उणा० २।१३)+हा (हन् हिंसायाम्।]

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त २७

१-१५ भृग्वङ्गिराः । देवता त्रिवृत्, चन्द्रमाश्च ।

१९७. गोभि॑ष्ट्वा पात्वृषभो वृषा॑ त्वा पातु वाजिभि॑ः ।
वायुष्ट्वा ब्रह्म॑णा पात्विन्द्र॑स्त्वा पात्विन्द्रियैः ॥१॥

हे मनुष्य ! (ऋषभः) सर्वगत श्रेष्ठ परमेश्वर (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा, अर्थात् उन के ज्ञान के प्रदान द्वारा (त्वा) तुझे (पातु) सुरक्षित करे। (वृषा) सुख-शान्ति की वर्षा करने वाला मन (वाजिभिः) शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों द्वारा (त्वा) तुझे (पातु) सुरक्षित करे ।(वायुः) प्राणायाम (ब्रह्मणा) ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा (त्वा) तुझे (पातु) सुरक्षित करे। (इन्द्रः) ऐश्वर्यसम्पन्न जीवात्मा (इन्द्रियैः) निज ऐन्द्रियिक अर्थात् आत्मिक-शक्तियों द्वारा (त्वा) तुझे (पातु) सुरक्षित करे।

[गोभिः=गौः वाङ्नाम (निघं०१।११); तथा स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)। ऋषभः="ऋषति गच्छतीति । श्रेष्ठपर्यायो वा" (उणा० ३।१२३)। वृषा=सत्त्वगुणप्रधान मन, जो कि सुखों की वर्षा करता, और इन्द्रियाश्वों को नियन्त्रित कर रक्षा करता है ।वायुः=इस पद द्वारा प्राणायाम का कथन किया है, जो कि यम-नियम आसन प्राणायाम आदि आठ योगाङ्गों में चतुर्थ अंग है। प्राणायाम के कारण प्रकाश का आवरण क्षीण होता है।"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्"(योग० २।५२), तथा धारणा ध्यान समाधि के लिये मन में योग्यता पैदा हो जाती है, "धारणासु च योग्यता मनसः" (योग० २।५३), अन्ततः ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इन्द्रः= जीवात्मा। शरीर में जीवात्मा शरीर मन इन्द्रियादि में ऐश्वर्य का उत्पादक है। आत्मा के रहते शरीर ऐश्वर्यसम्पन्न रहता है। आत्मा से हीन हो जाने पर शरीर निश्चेष्ट और शोभा रहित हो जाता है। इन्द्रियैः=इन्द्र अर्थात् जीवात्मा की निज शक्तियां।]

१९८. सोम॑स्त्वा पात्वोष॑धीभिर्नक्ष॑त्रैः पातु सूर्यः ।
मादृभ्यस्त्वा॑ चन्द्रो वृ॑त्रहा वात॑ः प्राणेन॑ रक्षतु ॥२॥

हे मनुष्य ! (ओषधीभिः) ओषधियों समेत (सोमः) सोम ओषधि

(त्वा) तुझे (पातु) सुरक्षित करे, (नक्षत्रैः) नक्षत्रों समेत (सूर्यः) सूर्य तुझे सुरक्षित करे। (वृत्रहा) रात्रि के तमस् का हनन करनेवाला (चन्द्रः) चन्द्रमा (मादृभ्यः) मासों द्वारा, तथा (वातः) वायु (प्राणेन) प्राणशक्ति-प्रदान द्वारा (त्वा) तुझे (रक्षतु) सुरक्षित करे।

[सोमः=सोम ओषधि, अन्य सब ओषधियों में प्रधान ओषधि मानी गई है। वेदों और आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसके नाना चमत्कारी गुणों तथा प्रभावों का वर्णन हुआ है। सूर्यः=सूर्य की गति भी नक्षत्रमण्डलों के क्रान्ति-वृत्त में होती है। भिन्न-भिन्न नक्षत्रों में कालानुसार सूर्य की स्थितियां भिन्न-भिन्न गुणों को पैदा करती हैं। इन भिन्न-भिन्न स्थितियों द्वारा सूर्य के ताप तथा प्रकाश का भिन्न-भिन्न प्रभाव पृथिवी पर पड़ता है, और ऋतुओं में परिवर्तन होता रहता है, जिस के द्वारा हमारी रक्षा हो रही है। मादृभ्यः= चन्द्रमा का सम्बन्ध मासों के निर्माण के साथ वर्णित है। अमान्तमास या पौर्णमासान्तमास चन्द्रमा द्वारा प्रत्येक को स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। चन्द्रमा का प्रभाव महिलाओं के मासिक ऋतुदर्शन पर, सामुद्रिक ज्वार-भाटा पर, ओषधियों के रसों के निर्माण पर भी पड़ता है। इस प्रकार हमारे जीवनों की रक्षा चन्द्रमा पर भी निर्भर है।]

१९९. तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान्।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥३॥

विद्वान् लोग (आहुः) कहते हैं कि (दिवः) द्युलोक (तिस्रः) तीन हैं, (पृथिवीः) पृथिवी (तिस्रः) तीन हैं, (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्ष (त्रीणि) तीन हैं, (समुद्रान् चतुरः) समुद्र चार हैं, (स्तोमम्) स्तोम भी त्रिवृत् है, (आपः) जल (त्रिवृतः) तीन प्रकार के हैं। (ताः) वे त्रिवृत्-जल, हे मनुष्य! (त्रिवृता) त्रिवृत् स्तोम द्वारा और (त्रिवृद्भिः) त्रिवृत् द्युलोक आदि द्वारा (त्वा) तुझे (रक्षन्तु) सुरक्षित रखें।

[तिस्रः दिवः=द्युलोक में एक क्रान्तिवृत्त (Ecliptic) है, जिस में कि सूर्य पृथिवी, पृथिवी सहित चन्द्रमा, तथा अन्य ग्रह यात्राएं कर रहे हैं। इस क्रान्तिवृत्त को २८ नक्षत्रों में बांटा गया है, राशियों की दृष्टि से इस क्रान्तिवृत्त के १२ विभाग किये जाते हैं। द्युलोक का एक विभाग है क्रान्ति-वृत्त। क्रान्तिवृत्त के उत्तर में द्युलोक का उत्तरीय विभाग है, और दक्षिण में दक्षिणीविभाग। इस प्रकार द्युलोक के इन तीन विभागों को "तिस्रः

दिवः[1] कहा है। द्युलोक के क्रान्तिवृत्त का अनुरूपीवृत्त, पृथिवी के भी तीन विभाग करता है। भूमध्यरेखा के २३½ अंश उत्तर और २३½ अंश दक्षिण में जो वृत्त फैला हुआ है, वह द्युलोक के क्रान्तिवृत्त का अनुरूपी है। इस अनुरूपी वृत्त के उत्तर में जो विभाग है, वह पृथिवी का उत्तरीय विभाग और अनुरूपी-वृत्त के दक्षिण में जो विभाग है, वह पृथिवी का दक्षिणीविभाग कहलाता हैं। इस प्रकार इन तीन विभागों को "तिस्रः पृथिवीः" कहा है। इसी दृष्टि से अन्तरिक्ष के भी तीन विभाग हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक कहते हैं कि "अतिशक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र" द्वारा उन्हें आकाश गङ्गा (Milky way) में दो और द्युलोक दृष्टिगोचर हुए हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्युलोक की दृष्टि से उन की पृथिवियां और अन्तरिक्ष भी त्रिविध सम्भव हैं।

समुद्रान्=पृथिवी का पूर्वसमुद्र, पश्चिम समुद्र, उत्तर समुद्र, तथा दक्षिण समुद्र। इन चार समुद्रों द्वारा पृथिवी घिरी हुई है।

स्तोमम्=संगीत के तीन अंश हैं। ऋचा, स्तोम, और साम। संहिताओं में ऋचाएं या मन्त्र दिये गए हैं। इन ऋचाओं की पुनरावृत्तियां गाने के लिये की जाती हैं, वह इन का गेयरूप बनता है। इसे स्तोम कहते हैं। जिस स्वर या राग में यह स्तोम गाया जाता है उसे साम कहते हैं। स्तोम कई प्रकार के होते हैं। यथा—"त्रिवृत् स्तोम, पंचदश स्तोम, त्रयस्त्रिंश स्तोम, एकविंश स्तोम" (अथर्व १०।६।२०)। इन में से त्रिवृत् स्तोम गायत्री छन्द वाले तीन मन्त्रों द्वारा, निर्मित होता है। आपः—जल भी त्रिवृत् हैं, तीन प्रकार के हैं। भूमि गर्भस्थ जल, जैसे कि चश्मों तथा कूपों का जल। नदियों तथा समुद्रों का जल। तथा अन्तरिक्षस्थ जल।

२००. त्रीन्नाकांस्त्रीन्त्समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान्।
त्रीन् मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान् गोप्तॄन् कल्पयामि ते ॥४॥

हे मनुष्य! (त्रीन् नाकान्) दुःखों से रहित तीन प्रकार के मोक्षों को, (त्रीन् समुद्रान्) तीन समुद्रों को, (त्रीन् ब्रध्नान्) तीन ब्रध्नों को, (त्रीन् वैष्टपान्) तीन वैष्टपों को, (त्रीन् मातरिश्वनः) तीन मातरिश्वाओं

---

१. त्रिदिवं दिवः" (अथर्व० १०।१०।३२) में, दिव् (द्यौः) को त्रिदिव् कहा है। त्रिदिव्=तीन विभागों में विभक्त दिव।

को, (त्रीन् सूर्यान्) तीन सूर्यों को, (ते) तेरे (गोप्तॄन्) रक्षक (कल्पयामि) मैं नियत करता हूं।

[मन्त्र में उक्ति परमेश्वर की है। परमेश्वर निश्चय दिलाता है मनुष्य को कि मेरा रचित समग्र जगत् तेरी रक्षा और समृद्धि के लिये है।

त्रीन् नाकान्="येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः" (यजु०३२।६) में महर्षि दयानन्द ने "नाकः" का अर्थ किया है "सब दुःखों से रहित मोक्ष"। पातञ्जल योग दर्शन की दृष्टि से मोक्षाधिकारी योगी तीन प्रकार के हैं। विदेहावस्थ योगी, प्रकृतिलीन योगी, तथा आत्मलीन योगी। इन में से प्रत्येक प्रकार के योगी के लिये मोक्ष की अवधियां भिन्न-भिन्न हैं। इस दृष्टि से सम्भवतः "नाक" अर्थात् मोक्ष को त्रिविध कहा हो। अथवा "ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्य" विषयक त्रिविध योगियों के त्रिविध मोक्ष। त्रीन् समुद्रान्="ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" के ब्रह्मचर्याश्रम विषय में "स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रम्" (अथर्व० कां० ११। अनु० ३। मं० ४) की व्याख्या में "ब्रह्मचर्याश्रम" को पूर्व समुद्र, "गृहाश्रम" को उत्तर समुद्र कहा है। मनु ने भी उपमा द्वारा गृहाश्रम को समुद्र कहा है। "यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्" (मनु० ६।९०)। इस प्रकार गृहस्थ को सागर से उपमित कर गृहस्थ को समुद्र कहा है। वानप्रस्थाश्रम को हम तीसरा समुद्र कह सकते हैं। इन तीन समुद्रों को पार कर, मोक्ष प्राप्ति के लिये, चतुर्थाश्रम में जाना होता है। पूर्व के तीन आश्रमों में एषणाएं बनी रहती हैं। इन एषणाओं के समुद्रों में गोते खाना स्वाभाविक है, जिन का कि चतुर्थाश्रम में सम्भव नहीं। त्रीन् ब्रध्नान्=ब्रध्न का अर्थ हैं—महान् (उणा० ३।५)। संसार में तीन महाशक्तियां हैं—परमेश्वर, जीव, और प्रकृति। मनुष्य जीवन इन तीन शक्तियों पर निर्भर है। त्रीन् वैष्टपान्=इन तीन महाशक्तियों का त्रिविध तापों अर्थात् सन्ताप-और-दुःखों के देने से रहित हो जाना "त्रिविध वैष्टप" है। वैष्टप=वि+तप; सकारः छान्दसः। विष्टपमेव वैष्टपम् जीवन्मुक्त यतः कर्माशय से रहित हो कर विचरता है। अतः वह इन त्रिविध तापों से विमुक्त रहता है। त्रिविष्टपः=सुखविशेषभोगो वा (उणा० ३। १४५), महर्षि दयानन्द भाष्य। अथवा आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिक,- इन त्रिविध तापों से विगत होना। त्रीन् मातरिश्वनः=ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् की वायुएं। मातरिश्वा=मातृभूत अन्तरिक्ष में गतियां करने वाली।

त्रीन् सूर्यान् = ग्रीष्म, वर्षा, तथा शरद् ऋतु के सूर्य । सूक्त २७ के मन्त्र ३-४ में प्रतिपाद्य तत्त्व रहस्यमय हैं । इन पर अधिक प्रकाश अपेक्षित है ।]

२०१. घृतेन त्वा समुक्षाम्यग्न आज्येन वर्धयन् ।
अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन् ॥८॥

(अग्ने) हे अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष !, यज्ञाग्नि को (आज्येन[1]) घृत द्वारा (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ मैं, (घृतेन[1]) घृत द्वारा (त्वा) तुझे (समुक्षामि) सम्यक् प्रकार से सींचता हूं । ताकि (अग्नेः) यज्ञाग्नि सम्बन्धी (चन्द्रस्य) चान्द सम्बन्धी, (सूर्यस्य) और सूर्य सम्बन्धी (प्राणम्) प्राप्त प्राणशक्ति को, (मायिनः) छल-कपट से अर्थात् विना जाने शरीर में प्रविष्ट हो जाने वाले रोग कीटाणु (मा दभन्) दबा न दें ।

[घृतेन="आयु वै घृतम्", अर्थात् घृत द्वारा आयु या प्राणशक्ति बढ़ती है । अतः शरीर को घृत द्वारा सिंचित करना चाहिये । यज्ञाग्नि में आज्याहुतियों द्वारा वायुशुद्धि, रोगनाश, तथा जल-ओषधियां प्राण सम्पन्न हो जाती हैं । चान्द भी ओषधियों में रस सेचन द्वारा प्राणप्रद है । सूर्य भी ताप, प्रकाश, तथा वर्षा द्वारा प्राण शक्ति प्रदान करता है । घृत, यज्ञाग्नि, चान्द और सूर्य द्वारा प्राण शक्ति ग्रहण करने से रोग कीटाणु, प्राप्त प्राण शक्ति को दबा नहीं सकते ।]

१०२. मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन् ।
भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत ॥९॥

हे मनुष्यो ! (मा) न (वः) तुम्हारे (प्राणम्) प्राण को, (मा) न (वः) तुम्हारे (अपानम्) अपान को, (मा) न (हरः) तुम्हारे तेज को (मायिनः) छली-कपटी रोग कीटाणु (दभन्) दबा पाएं ! (भ्राजन्तः) हे कान्ति सम्पन्न तथा (विश्ववेदसः) जीवन सम्बन्धी सब रहस्यों के जानने वाले (देवाः) दिव्य पुरुषो ! तुम (दैव्येन) परमेश्वर-देव द्वारा प्रदर्शित विधि से, (धावत) अपने जीवनों को शुद्ध-पवित्र करते रहो ।

[प्राण=नासिका संचारी वायु । अपान=आन्तों में रहने वाली, मल-मूत्र को बाहिर फेंकने वाली वायु । धावत=धावु शुद्धौ ।]

---

१. सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं भवेत् (आपटे); तथा घृतम्= Butter (आपटे) ।

२०३. प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः ।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥ ७ ॥

परमेश्वर (प्राणेन) प्राण के साथ (अग्निम्) अग्नि का (सं सृजति) संसर्ग करता है। परमेश्वर ने (प्राणेन) प्राण के साथ (वातः) वायु को (संहितः) सम्बद्ध किया है। (देवाः) परमेश्वरीय दिव्य शक्तियों ने (विश्वतोमुखम्) सब से मुखिया (सूर्यम्) सूर्य को (प्राणेन) प्राण के साथ साथ (अजनयन्) जन्म दिया है।

[अभिप्राय यह कि परमेश्वर ने अग्नि, वायु, और सूर्य में प्राणशक्ति भरी हुई है। इसलिये अग्नि या यज्ञाग्नि, शुद्ध वायु और सूर्य के सेवन द्वारा मनुष्यों को जीवनों में प्राणशक्ति का संचय करना चाहिये।]

२०४. आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः ।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥८॥

(आयुष्कृताम्) जिन्हों ने अपनी स्वस्थ-और-दीर्घ आयुओं का निर्माण किया है उन की (आयुषा) आयुओं अर्थात् जीवनों के अनुसार, तू (जीव) जीवन यापन कर, (आयुष्मान्) स्वस्थ-तथा-दीर्घ आयु वाला हो कर (जीव) जीवन यापन कर, (मा मृथाः) और न शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो। (आत्मन्वताम्) आत्मिक शक्ति सम्पन्न महात्माओं के (प्राणेन) जीवनों के अनुसार (जीव) तू जीवित रह। और (उद्) आयु से समुन्नत होकर, (मृत्योः) मृत्यु के (वशम्) वश में (मा अगाः) न प्राप्त हो, मृत्युञ्जय बन।

२०५. देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोऽन्वविन्दत् पथिभिर्देवयानैः ।
आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥९॥

(देवानाम्) देवयानमार्गी विद्वानों की (यम्) जिस, (निहितम्) शरीरस्थ (हिरण्यम्) हितकर-और-रमणीय वीर्यरूपी (निधिम्) निधि को (आपः) शरीरस्थ अप्-तत्त्व ने अपने में (जुगुपुः) गुप्तरूप में रखा है, और जिसे कि (इन्द्रः) अध्यात्मशक्ति सम्पन्न व्यक्ति ने, (देवयानैः पथिभिः) देवयान मार्गों द्वारा (अन्वविन्दत्) प्राप्त किया है उसे, (आपः) शरीरस्थ अप्-तत्त्व[1], (त्रिवृता) त्रिवृत्-स्तोम सहित (त्रिवृद्भिः) अन्य त्रिवृतों अर्थात्

१. आपः=आप्नुवन्ति शरीरमिति (उणा० २।५९, महर्षि दयानन्द)।

मन्त्र ३-४ में उक्त त्रिकों द्वारा (रक्षन्तु) सुरक्षित करें। (ताः) वे अप्-तत्त्व (त्रिवृता त्रिवृद्भिः) त्रिवृत्-स्तोम सहित अन्य त्रिवृतों अर्थात् मन्त्र ३-४ में उक्त त्रिकों द्वारा, हे मनुष्य ! (त्वा) तुझे (रक्षन्तु) सुरक्षित करें।

[हिरण्य=वीर्य (अथर्व० १९।२६।१-४)। आपः=शरीरस्थ रक्त। यथा—"को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धु सृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥ (अथर्व० १०।२।११)। अर्थात् किसने इस पुरुष में अप्-तत्त्व विधि पूर्वक स्थापित किये हैं, जो कि शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में वर्तमान हैं, और पर्याप्तमात्रा में विद्यमान हैं, जो कि सिन्धु अर्थात् हृदयसमुद्र की ओर बहने के लिये पैदा हुए हैं, स्वाद में तीखे; लाल, लोह घटित, तथा ताम्बे के धूए सदृश हैं, और ऊपर की ओर, नीचे की ओर, तथा तिरछे प्रवाहित हो रहे हैं। अरुणाः=धमनियों का लाल रक्त। ताम्रधूम्राः=शिराओं veins का नीला रक्त। इस अप्-तत्त्व में वीर्य गुप्तरूप में सुरक्षित रहता है। देवयानैः पथिभिः=जो अरण्य में श्रद्धा और तप का आचरण करते हैं उन का मार्ग "देवयानः पन्थाः" कहलाता है (छान्दो० उप० अ० ५, खं० १०)। तथा "सत्येन पन्था विततो देवयानः" (मुण्डक उप० ३।१)। अर्थात् सत्याचरण द्वारा देवयान पथ वितत है। त्रिवृता त्रिवृद्भिः=अभिप्राय यह कि शरीरस्थ अप्-तत्त्व-भक्तिपूर्ण स्तोमों के सामगानों द्वारा तथा मन्त्र ३, ४ में उक्त त्रिवृतों के यथार्थ सेवन द्वारा, वीर्य को सुरक्षित रखते, और इस से पुरुष की रक्षा करते हैं, अन्यथा विनाश होता है।]

२०६. त्रयस्त्रिंशद् देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्व१न्तः।
अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि ॥१०॥

(प्रियायमाणा=प्रियायमाणा देवाः, तथा प्रियायमाणानि वीर्याणि) मानो प्रेम करते हुए (त्रयस्त्रिशत् देवताः) तेतीस देवताओं ने, (च) और वीर्याणि) तीन वीर्यों ने, (अप्सु अन्तः) शारीरिक जलों के भीतर, इस जीवात्मा को (जुगुपुः) सुरक्षित गुप्तरूप में रखा है। (अस्मिन्) इस (चन्द्रे अधि) मन में (यत्) जो (हिरण्यम्) वीर्य है, (तेन) उस के द्वारा (अयम्) यह जोवात्मा (वीर्याणि) वीरकर्मों को या प्रेरणाओं को (कृण-वत्) करता है।

[प्रियायमाना=पदपाठ में आकारान्त पाठ है, विसर्गान्त पाठ नहीं। सम्भवतः "त्रीणि वीर्याणि" की दृष्टि से आकारान्त पाठ हो।

त्रयस्त्रिंशत् देवताः=प्रचलित ३३ देवता हैं, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ मास, इन्द्र और प्रजापति (यज्ञ)[1]। परन्तु मन्त्र ११, १२, १३ के अनुसार, दिव् अन्तरिक्ष, और पृथिवी में ग्यारह-ग्यारह देवताओं की स्थिति कही गई है, जो कि उपर्युक्त ३३ देवताओं की दृष्टि से उपपन्न नहीं हो सकती। मन्त्रस्थ ३३ देवताओं के वास्तविक स्वरूपों के परिज्ञान के लिये विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस निमित्त अथर्व० १०।७। २७ का मन्त्र विशेषरूप से ध्यानयोग्य है। यथा—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ (अथर्व० १०।७।२७)

अर्थात् जिस स्कम्भ के अङ्ग अर्थात् प्रकृति में ३३ देवों ने अपने गात्रों को विभक्त कर प्राप्त किया है, निश्चय है कि उन ३३ देवों को कतिपय या केवल ब्रह्मवेत्ता या वेदवेत्ता जानते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ३३ देवों के स्वरूपों पर अधिक अनुसन्धान की आवश्यकता है।

त्रीणि वीर्याणि=(१) कायिक वीर्य। (२) मानसिक वीर्य, यथा "कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" (अथर्व० १९।५२।१) में मानसिक-रेतस् (वीर्य) का वर्णन हुआ है। तीसरा है सत्त्वमय बुद्धि तत्त्व का वीर्य अर्थात् सामर्थ्य। इन ३३ देवों और ३ वीर्यों के कारण, जीवात्मा, शारीरिक अप्-तत्त्वों प्राणों तथा अन्तःकरण में गुप्तरूप में सुरक्षित है।

चन्द्रे=चन्द्रपद द्वारा "मन" का वर्णन है। यथा "चन्द्रमा मनसो जातः" (यजु० ३१।१२)। तथा "मनश्चन्द्रो दधातु मे" (अथर्व० १९। ४३।४), अर्थात् चन्द्र मुझ में मन स्थापित करे। इस चन्द्र अर्थात् मन में हिरण्य या मानसिक-रेतस् है "संकल्पशक्ति" या कामना। इस मानसिक-रेतस् द्वारा यह जीवात्मा वीरकर्मों या शरीर में प्रेरणाकर्मों को करता है; वीर=वि+ईर् (गतौ)।]

२०७. ये दे॑वा दि॒व्येका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम्॥११॥

---

१. ८ वसु=अग्नि पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, आदित्य द्यौः, चन्द्रमा नक्षत्र। ११ रुद्र=१० प्राण पुरुष में और ग्यारहवां आत्मा। १२ आदित्य=१२ मास। इन्द्र=स्तनयित्नु। प्रजापति=यज्ञ=पशवः। (बृहदा० उप० अ० ३, ब्रा० ९, खं० २-६)।

(देवाः) हे विद्वानो ! (ये) जो (दिवि) सूर्यादिलोक में (एकादश) दश प्राण और ग्यारहवां जीव, (स्थ) हैं, (ते) वे जैसे हैं, वैसे उन को जानके (देवासः) हे विद्वानो ! तुम (इदम्) इस (हविः) हवि का (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो।

[ऋग्वेद मं० १, सू० १३९, मन्त्र ११ के महर्षिभाष्य के भावानुसार अर्थ दिया है। यजुर्वेद ७।१९ के महर्षिभाष्यानुसार (दिवि) विद्युत् के स्वरूप में (एकादश) ग्यारह अर्थात् प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा (देवासः) दिव्यगुणयुक्त देव (स्थ) हैं।]

७०८. ये दे॑वा अ॒न्तरि॑क्ष॒ एका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम् ॥१२॥

(देवाः) हे विद्वानो ! (ये) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में निवास करनेहारे (एकादश) दशेन्द्रिय और एक मन (स्थ) हैं, (ते) वे जैसे हैं, वैसे उन को जानके (देवासः) हे विद्वानो ! तुम (इदम्) इस (हविः) हवि का (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो ।

[ऋग्वेद मं० १, सू० १३९, मन्त्र ११ के महर्षि दयानन्द भाष्य के भावानुसार अर्थ दिया है। यजुर्वेद ७।१९, तथा ऋग्वेद १।१३९।११ में (अन्तरिक्षे) के स्थान में "अप्सु क्षितः" पाठ है। और इसका अर्थ किया है—"अन्तरिक्ष वा जलों में निवास करनेहारे, तथा प्राणों में ठहरनेवाले (एकादश) ग्यारह श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाणी, हाथ, पांव, गुदा, लिंग और मन (स्थ) हैं, (ते) वे जैसे अपने-अपने कामों में वर्तमान हैं, वैसे (देवासः) हे राजसभा के सभासदो ! आप लोग यथायोग्य अपने-अपने कामों में वर्तमान होकर—...।

सूचना—ऋग्वेद के मन्त्र में अन्तरिक्षे के स्थान में "अप्सु क्षितः" पाठ है। यजुर्वेद के मन्त्र में भी "अप्सु क्षितः" पाठ है। तो भी ऋग्वेद के मन्त्र में "अप्सु क्षितः" का "अन्तरिक्ष वा जलों में निवास करनेहारे" ऐसा अर्थ महर्षि ने किया है। इससे "अप्सु" का अर्थ अन्तरिक्ष भी महर्षि को अभिप्रेत है। परन्तु यजुर्वेद के मन्त्र में "अप्सु" का अर्थ महर्षि ने किया है—

"प्राणों[1] में ठहरनेवाले"।"अप्सु" में "आपः" पद है। निघण्टु १।३ के अनुसार आपः=अन्तरिक्ष नाम है। इस प्रकार ऋग्वेद और यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्रों में "अप्सु" का अर्थ यदि "अन्तरिक्षे" किया जाय, तो ऋग्वेद यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों में समन्वय हो जाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्रों में "यज्ञम्" पाठ है। परन्तु अथर्ववेद में "यज्ञम्" के स्थान में "हविः" पाठ है। यज्ञ और हविः का परस्पर सम्बन्ध है।]

२०९. ये दे॑वाः पृथि॒व्यामेका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम् ॥१३॥

(देवाः) हे विद्वानो ! (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (एकादश) उक्त एकादश गण [दश प्राण और ग्यारहवां जीव] (स्थ) हैं, (ते) वे जैसे हैं वैसे उन को जानके (देवासः) हे विद्वानो ! तुम (इदम्) इस (हविः) हवि को (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो।

[ऋग्वेद मं० १, सू० १३९, मन्त्र ११ के महर्षि दयानन्द-भाष्य के भावानुसार अर्थ दिया है। यजुर्वेद ७।१९ के महर्षि-भाष्यानुसार (पृथिव्याम् अधि) भूमि के ऊपर (एकादश) ग्यारह अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अहंकार, महत्तत्त्व, और प्रकृति (स्थ) हैं……।]

२१०. अ॒स॒प॒त्नं पु॒रस्ता॑त् प॒श्चान्नो॒ अभ॑यं कृतम् ।
स॒वि॒ता मा॑ दक्षिण॒त उ॑त्त॒रान्मा॒ शची॒पति॑ः ॥१४॥

२११. दि॒वो मा॑दि॒त्या र॑क्षन्तु॒ भूम्या॑ रक्षन्त्व॒ग्नय॑ः ।
इ॒न्द्रा॒ग्नी र॑क्षतां मा पु॒रस्ता॑द॒श्विना॑व॒भित॒ः शर्म॑ यच्छताम् ।
ति॒र॒श्ची॒न॒घ्न्या र॑क्षतु जा॒तवे॑दा भूत॒कृतो॑ मे स॒र्वत॑ः सन्तु॒ वर्म॑ ॥१५॥

इन दोनों मन्त्रों के अर्थ देखो—अथर्व० १९।१६।१-२ में।

---

१. आपः=आपनानि, इमान्येव षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि" (निरु० १२।४।३७)।

सूक्त २८

१-१० ब्रह्मा । दर्भमणिः, मन्त्रोक्ताश्च देवताः ।

२१२. इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे ।
दर्भं संपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः ॥१॥

हे राजन् ! (ते) तेरे राज्य की (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ-आयु के लिये तथा (तेजसे) तेज के लिये, मैं प्रजाजनों का प्रतिनिधि, (सपत्नदम्भनम्) आन्तरिक शत्रुओं को दबानेवाले, तथा (द्विषतः) द्वेषी राजा के (हृदः) हृदय को (तपनम्) तपानेवाले, (मणिम्) सेनापतियों में शिरोमणिरूप, (दर्भम्) शत्रुओं के विदारण द्वारा चमकनेवाले, (इमम्) इस सेनापति को (बध्नामि) तेरे साथ दृढ़ बद्ध करता हूं।

[दर्भम्=दर् (दृ विदारणे)+भम् (भा दीप्तौ), आतोऽनुपसर्गे कः (अष्टा० ३।२।३) ।]

२१३. द्विषतस्तापयन् हृदः शत्रूणां तापयन् मनः ।
दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्मइवाभीन्त्संतापयन् ॥२॥

(द्विषतः) द्वेष करनेवाले प्रजाजनों के (हृदः) हृदयों को (तापयन्) तपाता हुआ, और (शत्रूणाम्) विनाशकारी दुश्मनों के (मनः) मनों को या संकल्पों को (तापयन्) तपाता हुआ, तथा (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को, (अभीन्) और अपने आपको भय-रहित समझनेवालों को (घर्मः इव) ग्रीष्मऋतु के सूर्य के सदृश (संतापयन्) संतप्त करता हुआ (दर्भ) हे शत्रुविदारक सेनापति ! (त्वम्) तू हो।

[द्विषतः=द्विष् अप्रीतौ। शत्रूणाम्=शातयतीति शत्रुः (उणा० ४।१०४)। घर्मः=ग्रीष्म ऋतुः (उणा० १।१४९),तथा घर्मांशुः सूर्यः। यथा—देवदत्तः=देवः, एवं घर्मांशुः=घर्मः। अभीन्=अ+भीन् (भी भये, द्वितीया-बहुवचनम्)।]

२१४. घर्मइवाभितपन् दर्भ द्विषतो नितपन् मणे ।
हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ॥३॥

(द्विषतः) द्वेषी-शत्रुदल का (दर्भ) विदारण करनेवाले (मणे) शिरोमणिरूप हे सेनापति ! (घर्मः इव) ग्रीष्मऋतु के सूर्य के सदृश (अभि-

तपन्) शत्रुओं के संमुख तपता हुआ, दमदमाता हुआ, (नितपन्) नितरां तपता हुआ, दमदमाता हुआ तू (बलम्) शत्रुओं के सैनिक-बल को (विरुजं =विरुजन्) विशेषतया तोड़ता-फोड़ता हुआ (इन्द्रः इव) सम्राट् के सदृश, या प्रबलरूप में उमड़े हुए मेघ को तोड़ती-फोड़ती हुई विद्युत् के सदृश, (सपत्नानाम्) शत्रुओं के (हृदः) हृदयों को, उनके हृदयस्थ धैर्यों को (भिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर दे।

[विरुजं=विरुजन् (पदपाठे)। अथवा छान्दसः "कमुल्" प्रत्ययः। इन्द्रः=इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७), तथा इन्द्रः=विद्युत् (निरु० १०।१।८)।]

२१५. भिन्द्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे।
उद्यन्त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय ॥४॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक (मणे) शिरोमणि सेनापति! (सपत्नानाम्) आन्तरिक-विद्रोहियों, और (द्विषताम्) द्वेषी-शत्रुओं के (हृदयम्) हृदयों में (भिन्द्धि) तू विभेद डाल दे, इनमें भेदनीति को वर्त। तथा (एषाम्) इन के (शिरः) शिरोभूत सेनापति या राजा को (वि पातय) इन से विगत कर दे, अलग कर दे, या मार गिरा। (इव) जैसे कि (उद्यन्) उदित होता हुआ सूर्य (त्वचमिव) शरीरिक त्वचा के सदृश (भूम्याः) भूमि को आवृत किये हुए भूमि के रात्र्यन्धकार को विगत कर देता है, अलग कर देता है। [वि पातय=वि+पत्लृ गतौ; पत् गतौ।]

२१६. भिन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे भिन्द्धि मे पृतनायतः।
भिन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो भिन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥५॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति! (मे) मुझ राजा के (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (भिन्द्धि) भेदनीति द्वारा भिन्न-भिन्न कर। (मे) मुझ राजा के राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (भिन्द्धि) भेदनीति द्वारा भिन्न-भिन्न कर। (मे) मुझ राजा के (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हार्दिक भावनाओं वालों को (भिन्द्धि) भेदनीति द्वारा भिन्न-भिन्न कर। (मे) मुझ राजा के (द्विषतः) अमित्रों को (भिन्द्धि) भेदनीति द्वारा भिन्न-भिन्न कर।

२१७. छिन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे छिन्द्धि मे पृतनायतः ।
छिन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दान् छिन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥६॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! (मे) मुझ राजा के (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (छिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर । (मे) मुझ राजा के राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (छिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर । (मे) मुझ राजा के (सर्वान्) सब (दुर्हार्दान्) दुष्ट हार्दिक भावनाओं वालों को (छिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर । (मे) मेरे (द्विषतः) अमित्रों को (छिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर ।

२१८. वृश्च दर्भ सपत्नान् मे वृश्च मे पृतनायतः ।
वृश्च मे सर्वान् दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे ॥७॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (वृश्च) काट डाल । (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (वृश्च) काट डाल । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हार्दिक भावनाओं वालों को (वृश्च) काट डाल । (मे) मेरे (द्विषतः) अमित्रों को (वृश्च) काट डाल । [वृश्च= ओव्रश्चू छेदने ।]

२१९. कृन्त दर्भ सपत्नान् मे कृन्त मे पृतनायतः ।
कृन्त मे सर्वान् दुर्हार्दो कृन्त मे द्विषतो मणे ॥८॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (कृन्त) कतर डाल । (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (कृन्त) कतर डाल । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दान्) दुष्ट-हार्दिक भावनाओं वालों को (कृन्त) कतर डाल । (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (कृन्त) कतर डाल ।

२२०. पिंश दर्भ सपत्नान् मे पिंश मे पृतनायतः ।
पिंश मे सर्वान् दुर्हार्दः पिंश मे द्विषतो मणे ॥९॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (पिंश) टुकड़े-टुकड़े कर डाल । (मे)

मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (पिंश) टुकड़े-टुकड़े कर डाल। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओंवालों को (पिंश) टुकड़े-टुकड़े कर डाल। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (पिंश) टुकड़े-टुकड़े कर डाल। [पिंश=पिश् अवयवे।]

२२१. विध्यं दर्भ सपत्नान् मे विध्यं मे पृतनायतः ।
विध्यं मे सर्वान् दुर्हार्दो विध्यं मे द्विषतो मणे ॥१०॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (विध्य) वेंध डाल । (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (विध्य) वेंध डाल। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओंवालों को (विध्य) वेंध डाल। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (विध्य) वेंध डाल।

[भेद-नीति द्वारा शत्रुपक्ष में फूट डाल देना, तथा उग्र अपराधों में उग्र उपायों का अवलम्ब लेना वेदानुमोदित है। व्यक्ति द्वारा किये उग्र अपराध में, व्यक्ति को मृत्युदण्ड देना, वर्त्तमान में भी सभ्य राष्ट्रों द्वारा अनुमोदित है। इसी प्रकार अनपराधी राष्ट्र पर, परराष्ट्र द्वारा किये गए उग्र अपराधों में, परराष्ट्र की सेना-आदि को भी उग्र दण्ड देना वर्तमान सभ्य राष्ट्रों द्वारा अनुमोदित है। उग्र दण्ड देने से अपराधों की पुनरावृत्ति रुक जा सकती है।]

सूक्त २९

१-९ ब्रह्मा । दर्भमणिः देवता ।

२२२. निक्ष दर्भ सपत्नान् मे निक्ष मे पृतनायतः ।
निक्ष मे सर्वान् दुर्हार्दो निक्ष मे द्विषतो मणे ॥१॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों का (निक्ष) चुम्बन कर। (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों का (निक्ष) चुम्बन कर। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओं वालों का (निक्ष) चुम्बन कर। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों का (निक्ष) चुम्बक कर। [निक्ष=निक्ष चुम्बने। शत्रु को अपने अनुकूल करने के चार उपाय

हैं—साम, दान, दण्ड और भेद । साम का अभिप्राय है—शान्ति, समझौते, परस्पर वार्तालाप तथा सन्धि आदि शान्त उपायों का वर्तना । दान का अभिप्राय है धन द्वारा सहायता कर शत्रु को अपने अनुकूल करना । इन दो उपायों को निक्ष-उपाय या चुम्बन-उपाय कहा है । अर्थात् जैसे चुम्बक-पत्थर निज शक्ति द्वारा लोहे का आकर्षण करता है, वैसे राजा उदासीन और विरोधियों को अपनी ओर आकृष्ट करे । दण्ड अर्थात् युद्धरूप उपाय से पूर्व—साम दान और भेद उपायों का अवलम्ब करना श्रेयस्कर है। अथवा निक्ष=निक्ष्व (अथर्व० ८।३।१५), नितरां क्षीणान् कुरु ।]

२२३. तृन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे तृन्द्धि मे पृतनायतः ।
तृन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥२॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों का (तृन्द्धि) तू अनादर किया कर । (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों का तू (तृन्द्धि) अनादर किया कर । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओंवालों का (तृन्द्धि) अनादर किया कर । (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों का (तृन्द्धि) तू अनादर किया कर ।

[तृन्द्धि=तृदिर् अनादरे । अनादर अर्थात् आदर न करना भी साम उपाय है, उग्र उपाय नहीं । अथवा तृदिर् हिंसायाम् । अर्थात् उग्र-उपाय की आवश्यकता में इन की हिंसा कर ।]

२२४. रुन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे रुन्द्धि मे पृतनायतः ।
रुन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो रुन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥३॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (रुन्द्धि) आवृत कर, अर्थात् उन पर घेरा डाल । (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहने वालों को (रुन्द्धि) तू आवृत कर, अर्थात् उन पर घेरा डाल । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हार्दिक भावनाओं वालों को (रुन्द्धि) आवृत कर, अर्थात् उन पर घेरा डाल । (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (रुन्द्धि) आवृत कर, अर्थात् उन पर घेरा डाल ।

[रुन्द्धि=रुधिर् आवरणे । आवरण अर्थात् घेरा डालने से इन के

बाह्य व्यापार आदि को रोकना, और इनके बाहर आने-जाने की स्वतन्त्रता को रोक देना होता है। यह भी एक प्रकार का साम उपाय है, उग्र उपाय नहीं। घेरा डालने को "अवरोध तथा उपरोध" कहते हैं।]

२२५. मृण दर्भ सपत्नान् मे मृण मे पृतनायतः ।
मृण मे सर्वान् दुर्हार्दो मृण मे द्विषतो मणे ॥४॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! तू (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (मृण) प्राणदण्ड दे। (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (मृण) प्राणदण्ड दे। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओं वालों को (मृण) प्राणदण्ड दे। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (मृण) तू प्राणदण्ड दे। [मृण=मृङ् प्राणत्यागे।]

२२६. मन्थ दर्भ सपत्नान् मे मन्थ मे पृतनायतः ।
मन्थ मे सर्वान् दुर्हार्दो मन्थ मे द्विषतो मणे ॥५॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! तू (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (मन्थ) मथ डाल। (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (मन्थ) मथ डाल। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओंवालों को (मन्थ) मथ डाल। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (मन्थ) मथ डाल।

२२७. पिण्ढि दर्भ सपत्नान् मे पिण्ढि मे पृतनायतः ।
पिण्ढि मे सर्वान् दुर्हार्दः पिण्ढि मे द्विषतो मणे ॥६॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! तू (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (पिण्ड्ढ) पीस डाल। (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (पिण्ड्ढ) पीस डाल। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओंवालों को (पिण्ड्ढ) पीस डाल। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (पिण्ड्ढ) पीस डाल।

२२८. ओष दर्भ सपत्नान् मे ओष मे पृतनायतः ।
ओष मे सर्वान् दुर्हार्द ओष मे द्विषतो मणे ॥७॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! तू (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (ओष) झुलसा दे। (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (ओष) झुलसा दे। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओं वालों को (ओष) झुलसा दे। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (ओष) झुलसा दे।

२२९. दह दर्भ सपत्नान् मे दह मे पृतनायतः ।
दह मे सर्वान् दुर्हार्दो दह मे द्विषतो मणे ॥८॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! तू (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (दह) दग्ध कर दे। (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहनेवालों को (दह) दग्ध कर दे। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओं वालों को (दह) दग्ध कर दे। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (दह) दग्ध कर दे।

२३०. जहि दर्भ सपत्नान् मे जहि मे पृतनायतः ।
जहि मे सर्वान् दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे ॥९॥

(दर्भ) हे शत्रुविदारक, (मणे) शिरोमणि सेनापति ! तू (मे) मेरे (सपत्नान्) आन्तरिक-विद्रोहियों को (जहि) हनन कर (मे) मेरे राष्ट्र पर (पृतनायतः) सेना द्वारा आक्रमण चाहने वालों को (जहि) हनन कर। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट-हार्दिक भावनाओं वालों को (जहि) हनन कर। (मे) मेरे (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों को (जहि) हनन कर।

[दर्भ=१९।२८।१ मन्त्र में "दर्भ" का निर्वचन कर दिया है। तथा **दृणाति विदारयतीति दर्भः** (उणा० ३।१५१)=शत्रु के विदारण के कारण सेनापति को दर्भ कहा है। दर्भाङ्कुर का अग्रभाग कण्टकमय होता है, जो कि पैर का विदारण कर देता है। इस प्रकार रूपक दृष्टि से भी सेनापति को 'दर्भ' कहा जा सकता है। जैसे कि बहादुर को "शेर" तथ निर्बुद्धि को "गदहा" कह दिया जाता है। मन्त्र १ से ४ तक में साम-उपायों का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ५ से ९ तक दण्ड-उपाय कहे गए हैं।]

सूक्त ३०

१–५ ब्रह्मा । दर्भमणिः देवता ।

**२३१. यत् ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते ।
तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नां जहि वीर्यैः ॥१॥**

(दर्भ) हे शत्रुविदारक सेनापति ! (यत्) यतः (ते जरामृत्युः) तेरी मृत्यु जरावस्था में सम्भव है, और (यत्) यतः (ते) तेरे (वर्मसु) कवच आदि के शस्त्रागारों में (शतम्) सैकड़ों प्रकार के (वर्म) कवच आदि शस्त्र हैं, अतः (तेन) उस कवच आदि द्वारा (इमम्) इस प्रत्येक सैनिक को (वर्मिणं कृत्वा) कवच आदि से सम्पन्न करके (वीर्यैः) वीर कर्मों द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं का (जहि) हनन कर ।

[जरामृत्युः=इस पद के द्वारा सेनापति को कहा है कि तू अभी युवावस्था वाला है, अतः शारीरिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण सेनापति होने योग्य है, चूंकि तू अभी जरावस्था को प्राप्त नहीं हुआ । वर्मसु=लक्षणया कवच आदि शस्त्रास्त्रों के आगार अभिप्रेत हैं । वर्म=वृञ् आवरणे । अर्थात् कवच आदि आवरण, जिनके द्वारा शत्रु के प्रहारों का निवारण किया जाता है ।]

**२३२. शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते ।
तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ॥२॥**

(दर्भ) हे शत्रुविदारक सेनापति ! (ते) तेरे (शतं वर्माणि) सैकड़ों प्रकार के कवच आदि हैं और (ते) तेरे (सहस्रम्) हजारों (वीर्याणि) वीर-कर्म हैं, इसलिये (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब देवों, अर्थात् दिव्य अधिकारियों तथा विद्वानों ने (जरसे) जरावस्था तक (भर्तवै) राष्ट्र के भरणपोषण के लिये (तं त्वा) उस तुझ को राजा के प्रति सहायक रूप में (अदुः) समर्पित किया है ।

**२३३. त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम् ।
त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि ॥३॥**

(दर्भ) हे शत्रुविदारक सेनापति ! (त्वाम्) तुझे (आहुः) कहते हैं—(देववर्म) राष्ट्र के देवों का कवच अर्थात् उनका कवचसदृश रक्षक; तथा (त्वाम्) तुझे कहते हैं—(ब्रह्मणस्पतिम्) वेदरक्षक; (त्वाम्) तुझे (आहुः) कहते हैं—(इन्द्रस्य) सम्राट् अर्थात् राजा का (वर्म) कवच, अर्थात् कवचसदृश रक्षक; (त्वम्) तू (राष्ट्राणि) राष्ट्रों की (रक्षसि) रक्षा करता है ।

[देववर्म=विद्वांसो वै देवाः। तथा मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव, अतिथिदेव आदि, तथा विजयेच्छुक सैनिक। दिवु=विजिगीषा। ब्रह्म=वेद। सब वेद साक्षात् तथा परम्परया ब्रह्म का वर्णन करते हैं, इसलिये वैदिक मन्त्रों को 'ब्रह्म' करते हैं। इन्द्रस्य=इन्द्रश्च सम्राट् (यजु०८।३७)। राष्ट्राणि=राजते तत् राष्ट्रम् अर्थात् स्वतन्त्र राज्य, राज्य की भूमि तथा सम्पत्ति, और स्वतन्त्र प्रजाजन।]

२३४. सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः ।
मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते ॥४॥

(सपत्नक्षयणम्) आन्तरिक-विद्रोहियों का क्षय करनेवाले; (द्विषतः) द्वेषी=अमित्रों के (हृदः) हृदयों को (तपनम्) संतप्त करनेवाले; (क्षत्रस्य) रक्षक सैनिकवर्ग या क्षत-विक्षत से त्राण करनेवाले सैनिकवर्ग की (वर्धनम्) वृद्धि करनेवाले; (दर्भ=दर्भम्) शत्रुविदारक (मणिम्) शिरोमणि सेनापति को (ते) हे राजन् ! या हे प्रजाजन ! तेरे (तनूपानम्) शरीर का रक्षक (कृणोमि) मैं करता हूं ।

[क्षत्रस्य=क्षदति रक्षतीति क्षत्रम्। क्षतात् त्रायत इत्यपि (उणा० ४।१६८)।]

२३५. यत् समुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह ।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥५॥

(यत्) जो (समुद्रः) समुद्र (अभ्यक्रन्दत्) गर्जा, और (विद्युता सह) विद्युत् के साथ (पर्जन्यः) मेघ गर्जा, (ततः) तत्पश्चात् (हिरण्ययः बिन्दुः) हिरण्यसदृश चमकीला या बहुमूल्य वीर्य-बिन्दु (अजायत) पैदा हुआ, और (ततः) उस बिन्दु से (दर्भः) शत्रुविदारक सेनापति पैदा हुआ ।

[अभ्यक्रन्दत्=वर्षा ऋतु में समुद्र में लहरों द्वारा गर्जनाएं होती हैं ।

तत्पश्चात् मेघों का निर्माण होता है, और विद्युत् के साथ गर्जते मेघों द्वारा वर्षा, तत्पश्चात् ओषधियां, अन्न और रेतस् (=वीर्य) तथा रेतस् से पुरुष उत्पन्न होता है। इस प्रकार जल का सम्बन्ध वीर्य और पुरुष के साथ है। तथा "पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति" (छान्दोग्य० अ० ५, खं० ९) द्वारा भी जलों का सम्बन्ध पुरुषोत्पत्ति के साथ दर्शाया है। हिरण्यय=हिरण्मय। हिरण्य semen virile (आपटे) अर्थात् पुरुष का वीर्य।]

सूक्त ३१

१-१४ सविता (पुष्टिकामः)। औदुम्बरमणिः।

२३६. औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥१॥

(सविता) सर्वप्रेरक प्रधानमन्त्री ने (वेधसा) विद्वान् (औदुम्बरेण) उदुम्बर आदि वृक्षों के अधिपति (मणिना) राज्यरत्नरूपी वनाधिपति द्वारा (पुष्टिकामाय) पुष्टि की कामनावाले (मे) मुझ प्रत्येक प्रजाजन के लिये (गोष्ठे) मुझ प्रत्येक प्रजाजन की गोशाला में (सर्वेषाम्) सभी (पशूनाम्) पशुओं की (स्फातिम्) वृद्धि (करत्) की है।

[सविता=षू प्रेरणे। वेधसा, वेधाः=विद्वान् (उणा० ४।२२६)। सर्वेषाम्=अश्व, गौ, अजा, अवि आदि। औदुम्बर=इसे ३१।९ में "वनस्पते"! द्वारा सम्बोधित किया है। वनस्पतिः=वनस्य पाता वा पालयिता, अर्थात् वनों का रक्षक तथा पालक। इसे ही ३१।१२ में "ग्रामणीः" भी कहा है, अर्थात् ग्रामों का नेता। उदुम्बर =गूलर वृक्ष।]

२३७. यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत्।
औदुम्बरो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्ट्या ॥२॥

(यः) जो (नः) हमारा (अग्निः) अग्रणी, (गार्हपत्यः) गार्हपत्याग्नि के सदृश रक्षक, और (पशूनाम्) पशुओं का (अधिपाः) अधिपालक (असत्) है, वह (वृषा) सुखवर्षी (औदुम्बरः) उदुम्बर आदि वृक्षों का अधिपति (मणिः) राज्यरत्नरूपी वनाधिपति (मा) मुझ प्रत्येक प्रजाजन का (पुष्ट्या) पुष्टि के साथ (सं सृजतु) संसर्ग करे, सम्बन्ध करे।

[अग्निः=अग्रणीर्भवति । गार्हपत्यः=अथवा ग्रामवासी गृहपतियों का शासक । गार्हपत्यसंस्था भी एक प्रारम्भिक राज्यसंस्था है (देखो—अथर्व० ८।१(१०) । १-१३, विराट्सूक्त)। औदुम्बर इस संस्था का अग्रणी अर्थात् नेता है, इसलिये इसे ग्रामणी भी कहा है (अथर्व० १।३१।१२) । अर्थात् ग्रामसभाओं का नेता, नायक ।]

२३८. क॒रीषिणीं फल॑वतीं स्व॒धामिरां च नो गृहे ।
औदु॑म्बरस्य तेज॑सा धा॒ता पुष्टिं द॑धातु मे ॥३॥

(धाता) राष्ट्र का धारण-पोषण करनेवाला सर्वप्रेरक प्रधानमन्त्री (मन्त्र १) (औदुम्बरस्य) वनाधिपति के (तेजसा) प्रभाव द्वारा, सुशासन द्वारा (नः) हमारे (गृहे) घरों में (करीषिणीम्) गोबर देनेवाली गौ को, (फलवतीम्) फलोंवाली वाटिका को, (स्वधाम्) स्वधारण और पोषण करनेवाले अन्न को, (च इराम्) और जल को (दधातु) धारित करे, (मे) और मुझ प्रत्येक प्रजाजन के लिये (पुष्टिम्) उपर्युक्त सम्पुष्ट वस्तुएं धारित करे ।

[स्वधा=अन्न (निरु० २।७) । इरा=Water (जल; आपटे) । करीष=गोबर । लेपने जलाने और खाद में गोबर उपयोगी है ।]

२३९. यद् द्वि॒पाच्च॒ चतु॑ष्पाच्च॒ यान्यन्ना॑नि॒ ये रसाः॑ ।
गृ॒ह्णे३॑हं त्वे॑षां भू॒मानं॒ बिभ्र॒दौदु॑म्बरं॒ म॒णिम् ॥४॥

(यद्) जो (द्विपात्=द्विपाद्) दो पैरोंवाली सन्तानें, (च) और (चतुष्पात्=चतुष्पाद्) चार पैरोंवाले अश्व गौ आदि पशु हैं, (च) और (यानि अन्नानि) जो विविध अन्न हैं (ये) जो (रसाः) दूध तथा इक्षुरस आदि हैं, (औदुम्बरं मणिम्) राज्यरत्नरूपी वनाधिपति का (बिभ्रत्) धारण-पोषण करता हुआ (अहम्) मैं प्रत्येक प्रजाजन (तु) तो (एषाम्) इन उपर्युक्त वस्तुओं की (भूमानम्) बहुतायत को (गृह्णे) ग्रहण करता हूं ।

[बिभ्रत्=प्रत्येक प्रजाजन का यह कर्तव्य है कि जो-जो राज्याधिकारी निज व्यवस्था के निरीक्षणार्थ जब-जब प्रजाजनों के पास जाय, तब-तब प्रजाजन अन्नादि द्वारा उसका भरण-पोषण करें । बिभ्रत कर्मविशेषण है "गृह्णे" का ।]

२४०. पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥५॥

(चतुष्पदाम्) चौपायों और (द्विपदाम्) दोपायों (पशूनाम्) पशुओं का (पुष्टिम्) परिपोषण (अहम्) मैंने (परिजग्रभ) पर्याप्त पा लिया है, (च) और (धान्यम्) अनाज भी पर्याप्त पा लिया है। (बृहस्पतिः) महारक्षक (सविता) सर्वप्रेरक सर्वोत्पादक सर्वैश्वर्यों के स्वामी परमेश्वर ने (मे) मुझ प्रत्येक प्रजाजन के लिये (पशूनां पयः) पशुओं का दूध, और (ओषधीनाम्) औषधियों का (रसम्) रस (नि यच्छात्) नियुक्त किया हैं, दिया है।

[पयः=पशुओं का दूध लेना चाहिये न कि मांस। रोगनिवृत्ति तथा स्वास्थ्य के लिये ओषधियों का रस अधिक उपयोगी होता है। सविता=इस पद द्वारा मन्त्र (१) में कथित प्रेरक प्रधान मन्त्री का भी ग्रहण किया जा सकता है। वह भी राष्ट्र की महासम्पत्तियों का रक्षक होता है।]

२४१. अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु।
मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु ॥६॥

(अहम्) मैं प्रत्येक प्रजाजन (पशूनाम्) पशुओं का (अधिपाः) अधिपति (असानि) होऊं (पुष्टपतिः) पोषक वस्तुओं का स्वामी (मयि) मुझ प्रत्येक प्रजाजन में (पुष्टिम्) पुष्टवस्तुएं (दधातु) स्थापित करे। (औदुम्बरः) वनाधिपति (मणिः) राज्यरत्न अधिकारी (मह्यम्) मुझ प्रत्येक प्रजाजन के लिये (द्रविणानि) सम्पत्तियां (नि यच्छतु) प्रदान करे।

२४२. उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा ॥७॥

(प्रजया) राष्ट्र के प्रजाजनों के साथ, (च) और (धनेन) राष्ट्र की सम्पत्ति के (सह) साथ (औदुम्वरः मणिः) राष्ट्र के उदुम्बर आदि वृक्षों का अधिपति, राज्यरत्न वनाधिपति (मा) मुझ प्रधानमन्त्री को (उप-अगन्) सहायकरूप में प्राप्त हुआ है। (इन्द्रेण) सम्राट् द्वारा (जिन्वितः) प्रसादित और परितोषित (मणिः) यह राज्यरत्न (मा) मुझ प्रधानमन्त्री

को (वर्चसा) निज प्रभाव तथा ज्ञानदीप्ति के साथ (आ अगन्) प्राप्त हुआ है।

[इन्द्रेण=इन्द्रश्च सम्राट् (यजु० ८।३७)। प्रजया धनेन =सम्राट् ने प्रधानमन्त्री की सहायतार्थ जैसे वनाधिपति को नियुक्त किया है, वैसे राष्ट्र के प्रजाजनों और राष्ट्र की सम्पत्ति पर भी अधिकार प्रधानमन्त्री को सम्राट् द्वारा प्राप्त हुआ है।]

२४३. देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥८॥

(देवः) दिव्यगुणी (मणिः) राज्यरत्न वनाधिपति (सपत्नहा) वन-विरोधी शक्तियों का हनन करता है इस प्रकार (धनसातये) धन प्रदान करनेवाले प्रजाजन के लिये (धनसाः) वह वन्यधन प्रदान करता है। वह (पशोः) पशुओं और (अन्नस्य) अन्नों की (भूमानम्) बहुतायत, तथा (गवाम्) गौवों की (स्फातिम्) वृद्धि (नि यच्छतु) हमें प्रदान करता है। [वनाधिपति वनों पशुओं और अन्नों का अधिकारी होना चाहिये।]

२४४. यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे।
एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥९॥

(वनस्पते) हे वनाधिपति! (यथा) जैसे (त्वम्) तू (अग्रे) प्रारम्भ से ही (पुष्टया सह) पुष्टि के साथ (जज्ञिषे) प्रसिद्ध हुआ है, (एवा=एवम्) ऐसे ही (सरस्वती) ज्ञान या विद्या की अधिष्ठात्री अर्थात् अधिकारिणी (मे) मुझ प्रजाजन के लिये (धनस्य) ज्ञानधन की (स्फातिम्) वृद्धि (आ दधातु) स्थापित कर।

[वनस्पतिः=वनस्पति का लोकप्रसिद्ध अर्थ है—वृक्ष आदि। कात्थक्य आचार्य कहते हैं कि वनस्पति है यूप, अर्थात् पशु को बांधने का खम्भा। शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि वनस्पति है अग्नि (निरु०८।३।१८)। परन्तु यास्काचार्य वनस्पति का अर्थ करते है—"**वनानां पाता वा पालयिता वा**" (निरु०८।२।३), अर्थात् "वनों का रक्षक या पालक"। यह अर्थ मन्त्र (९) के अर्थ के अनुकूल है। मैत्रायणी संहिता ४।१३।७ में "**वनस्पते ...... वयुनानि विद्वान्**" द्वारा वनस्पति को प्रज्ञानों का विद्वान् अर्थात् ज्ञाता कहा है (निरु०८।३।२०)। प्रज्ञानों का ज्ञाता वनस्पति मनुष्य ही हो सकता है।

पुष्टया सह=वनाधिपति आदि अधिकारी नियुक्त होते ही, यदि निज कर्तव्यों की परिपुष्टि करें, निज कर्तव्यों को सफल करें, तो वे प्रसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं, कीर्तिमान् हो जाते हैं। सरस्वती=सरः विज्ञानं तद्वती (उणा० ४।१९०)।]

२४५. आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥१०॥

(सरस्वती) ज्ञान या विद्या की अधिष्ठात्री अर्थात् अधिकारिणी, (मे) मुझ प्रजाजन के लिये (धनम्) विद्याधन (आ वहात्) प्राप्त कराए। (सिनीवाली) अन्नसम्पन्ना तथा कष्टनिवारिणी गृहपत्नी, (च) और (अयम्) यह (मणिः) राज्यरत्न (औदुम्बरः) वनाधिपति (पयःस्फातिम्) दूध की वृद्धि (च) और (धान्यम्) अन्न अनाज (उप आ वहात्) प्राप्त कराएं।

[सिनीवाली=सिनमन्नं तद्वती; वाली=वारणकर्त्री। निवारणकर्त्री, रलयोरभेदः। सिन और वाल में "छन्दसीवनिपौ च" वार्तिक द्वारा "ई" प्रत्यय। सिनीवाली=देवपत्नी (निरु० ११।३।३१)। अतः सिनीवाली=पति-देव की पत्नी, गृहपत्नी।]

२४६. त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।
त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत् सहस्वारादरातिममतिं क्षुधं च ॥११॥

(मणीनाम्) राज्यरत्नों में (त्वम्) हे वनाधिपति! तू (अधिपाः) वनों का अधिपति, और (वृषा) वन्य सम्पत्तियों की वर्षा करनेवाला (असि) है। (पुष्टपतिः) पोषक तत्त्वों के स्वामी अर्थात् सम्राट् (मन्त्र ७) ने (त्वयि) तुझ में (पुष्टम्) पोषक पदार्थों का अधिकार (जजान) प्रकट किया है। (त्वयि) तेरे अधिकार में (वाजाः) अन्न और (सर्वा) सब (द्रविणानि) वन्य सम्पत्तियां हैं। (सः) वह (औदुम्बरः) वनाधिपति (त्वम्) तू (अस्मत्) हम प्रजाजनों से (अरातिम्) दान न देने की भावना को, (अमतिम्) असन्मति अर्थात् कुमति को, (च) और (क्षुधम्) क्षुधा को (आरात्) दूर कर, (सहस्व) और विरोधी शक्तियों को पराभूत कर।

[वाजाः=अन्नानि(निघं०२।७)। अमतिम्=भूखा व्यक्ति कुमति बन जाता है। बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।]

२४७. ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मां सिञ्च वर्चसा। तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि ॥१२॥

(ग्रामणीः असि) तू ग्रामों का नेता है, (ग्रामणीः) ग्रामों का नेता तू (अभिषिक्तः) ग्रामों के नेतृत्व के लिये अभिषिक्त किया गया है। तू (उत्थाय) उद्यम करके (वर्चसा) अन्नों द्वारा (मा) मुझे (अभि सिञ्च) सींच दे, मुझ पर अन्नों की वर्षा कर। (तेजः असि) तू तेजस्वी है, (मयि) मुझ में तू (तेजः) तेज (अधि धारय) स्थापित कर। (रयिः असि) तू सम्पत्तियों का स्वामी है, (मयि) मुझ में तू (रयिम्) सम्पत्तियां (अधि धेहि) स्थापित कर।

[ग्रामणीः=औदुम्बर-वनाधिपति को ग्रामों का भी नेता अर्थात् अधिपति नियत करना चाहिये। क्यों कि वनों तथा अन्नादि पुष्ट पदार्थों का सम्बन्ध ग्रामों के साथ होता है। अभिषिक्तः=प्रत्येक राज्याधिकारी को अधिकार सौंपते समय उसका अभिषेक होना चाहिये। वर्चसा=अन्नेन (निघं०२।७)। तेजः=तेजस्वी; रयिः=रयिमान्। जिस राष्ट्र में अन्न का बाहुल्य हो, वह तेजस्वी अर्थात् प्रभावशाली और रयिमान् बन जाता है। ग्रामाधिपति होने से वनाधिपति "गार्हपत्य" भी है, गृहपतियों का शासक भी है (मन्त्र २)।]

२४८. पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु। औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥१३॥

हे वनाधिपति! (पुष्टिः) पुष्टि का मूर्तरूप (असि) तू है, (पुष्ट्या) पोषक पदार्थों के कारण (मा) मुझ सम्राट् को (मन्त्र ७) (सम् अङ्ग्धि) सम्यक् प्रकार से अभिव्यक्त अर्थात् प्रसिद्ध कर दे। (गृहमेधी) तू राष्ट्रगृह का यष्टा है, (मा) मुझ सम्राट् को (गृहपतिम्) राष्ट्रगृह का रक्षक तथा

पालक (कृणु) कर दे। (त्वम्) तू (औदुम्बरः) वनाधिपति है (सः) वह तू (अस्मासु) हम अधिकारी जनों और प्रजाजनों में (रयिम्) सम्पत्तियां (धेहि) स्थापित कर। (च) और (नः) हमें (सर्ववीरम्) सब को वीर बनानेवाली सम्पत्तियां (नि यच्छ) सदा प्रदान कर। (अहम्) मैं सम्राट् (रायस्पोषाय) राष्ट्र की सम्पत्तियों के परिपोषण के लिये,हे वनाधिपति ! (त्वाम्) तुझे (प्रतिमुञ्चे) स्वीकार करता हूं।

२४९. अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥१४॥

(मणिः)राज्यरत्न (अयम्) यह (वीरः)शूरवीर (औदुम्बरः) वनाधिपति (वीराय) वीर सम्राट् के लिये (बध्यते) प्रतिज्ञाबद्ध किया जाता है। (सः) वह वनाधिपति (नः) हमारे (सनिम्) धन-विभाजन को (मधुमतीम्) मधुर (कृणोतु) करे। (च) और (नः) हमें (रयिम्) सम्पत्तियां (नि यच्छात्) देवे, जिससे कि (सर्ववीरम्) हम सब वीर बन जांय।

[सनिम्=षणु दाने, षण संभक्तौ। अर्थात् सम्पत्तियों का प्रजा के प्रति दान और उसका सम्यक्-विभाजन प्रत्येक प्रजा के लिये करना।]

सूक्त ३२

१–१० भृगुः। दर्भः।

२५०. शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः ।
दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे ॥१॥

(शतकाण्डः) सैकड़ों द्वारा कमनीय अर्थात् चाहा गया, (दुश्च्यवनः) न्यायपथ से च्युत न होनेवाला या अपराभवनीय, (सहस्रपर्णः) हजारों का परिपालक, (उत्तिरः) क्लेशों से तैरानेवाला (यः) जो (उग्रः ओषधिः)उग्र ओषधिरूप (दर्भः) अविद्याग्रन्थि-विदारक परमेश्वर है, (तम्) उसे (ते) तेरे (आयुषे)जीवन के लिये(बध्नामि)तेरे साथ मैं दृढ़ बद्ध करता हूं।

[काण्डः=काम्यते जनैः (उणा०१।११५), अर्थात् जो जनों द्वारा चाहा जाता है। यथा—"**प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्**" (यजु० ३२। १३) अर्थात्

परमेश्वर,इन्द्र (=जीवात्मा)का प्रिय है,काम्य है । पर्णः[1]=पिपर्ति पालयति (उणा० ३।६)। दर्भः=विदारयति अविद्याग्रन्थिम् । ओषधिः=ओषद्धयति दोषं धयतीति वा (निरु० ६। ३। २७)। परमेश्वर अविद्यादि रोगों का औषधरूप है, उग्र औषधरूप है ।]

२५१. नास्य केशान् प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते ।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति ॥२॥

(अस्य) इसके (केशान्) केशों को (प्र वपन्ति न) कोई उखाड़ते नहीं, (न) और न (उरसि) इसकी छाती पर (ताडम्) ताड़ना अर्थात् चोट (आ घ्नते) मारते हैं, (यस्मै) जिसके लिये कि (अच्छिन्नपर्णेन) अनश्वर-परिपालक, (दर्भेण) तथा अविद्याग्रन्थिविदारक परमेश्वर द्वारा पुरोहित (शर्म) सुख और आश्रय (यच्छति) प्रदान करता है ।

[दर्भेण=दृणाति विदारयति (उणा० ३।१५१)।अच्छिन्नः=छिन्न-भिन्न न होनेवाला=अनश्वर;पर्णः=परिपालक । समग्र राष्ट्रों के अधिकारी तथा प्रजाजन यदि सच्चे आस्तिक बन जांय, तो परस्पर युद्ध न होने पर परस्पर केशनोचन अर्थात् केशाकेशि युद्ध, तथा परस्पर पर-आघात सर्वदा के लिये बन्द हो जांय ।]

२५२. दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः ।
त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे ॥३॥

(ओषधे) ताप-सन्तान तथा समग्रदोषों के ओषधिरूप हे परमेश्वर ! (दिवि) द्युलोक में (ते) आपका (तूलम्) निष्कर्ष है, (पृथिव्याम्) पृथिवी में भी आप (निष्ठितः) नितरां स्थित हैं । (सहस्रपर्णेन) हजारों के परि-पालक (त्वया) आपकी सहायता द्वारा (आयुः) आयुएं (प्रवर्धयामहे) हम बढ़ाते हैं, प्रकृष्ट करते हैं ।

[दिवि ="**यस्य ते उपरि गृहाः**" (यजु०१८।४४), अर्थात् ऊपर के नक्षत्र तथा तारागण और सूर्य आप के घर हैं, इन में आप निवास किये हुये हैं । तथा "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म**"

१. वेद में "पर्ण" शब्द पुंल्लिङ्ग भी पठित है (अथर्व० ३।५।४, ८; तथा १८।४।५३) ।

(यजु०४०।१७), अर्थात् आदित्य में जो पुरुष है वह मैं हूं, ओ३म् खम् और ब्रह्म। तथा "नक्षत्राणि रूपम्" (यजु० ३१।२२), अर्थात् नक्षत्र आपके प्रकाशस्वरूप प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार द्युलोक का निष्कर्ष अर्थात् सार है— परमेश्वर। आयु:=जीवनकाल तथा जीवन। तूलम्=तूल निष्कर्षे, निष्कर्ष =सार।]

२५३. तिस्रो दिवो अत्यतृणत् तिस्र इमाः पृथिवीरुत ।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि ॥४॥

परमेश्वर प्रलय में (तिस्रः) तीन (दिवः) द्युलोकों को (उत) और (इमाः) इन (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) पृथिवियों को (अतृणत्)[1] विनष्ट कर देता है। हे परमेश्वर! (त्वया) आप की सहायता द्वारा (अहम्) मैं आपका उपासक (दुर्हार्दः) कुत्सित हृदयवालों की (जिह्वाम्) जिह्वा को, अर्थात् (वचांसि) दुर्वचनों को (तृणद्मि)[1] समाप्त कर देता हूं, उन दुर्वचनों का अनादर करता हूं।

[सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के सच्चे उपासक को यह शक्ति प्राप्त हो जाती है कि उसके निन्दक भी उसके प्रशंसक हो जाते हैं, उन की जिह्वा की कटुता मधुरूप में परिणत हो जाती हैं। तिस्रः दिवः, तिस्रः पृथिवीः=देखो— अथर्व० काण्ड १९।सू०२७। मन्त्र ३।]

२५४. त्वमसि सहमानोऽहमस्मि सहस्वान् ।
उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा सपत्नान्त्सहिषीवहि ॥५॥

हे दोषों के ओषधिरूप परमेश्वर! (त्वम्) आप (सहमानः) सहनशील होते हुए कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, (अहम्) मैं भी (सहस्वान्) सहनशील होता हुआ कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाला (अस्मि) हूं। (उभौ) हम दोनों (सहस्वन्तौ) सहनशील तथा पराभव करने वाले (भूत्वा) होकर (सपत्नान्) कामादि शत्रुओं का (सहिषीवहि) पराभव करें। [यदि व्यक्ति सहनशील होकर अर्थात् धैर्यपूर्वक कामादि शत्रुओं के पराभव के लिते यत्नवान् होता है, तो परमेश्वर भी इस प्रयत्न में उसका सहायक होता है। सहमानः= षह मर्षणे।]

---

१. तृदिर् हिंसानादरयोः।

२५५. सहस्व नो अभिमातिं सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वान् दुर्हार्दः सुहार्दो मे बहून् कृधि ॥६॥

हे अविद्याग्रन्थिविदारक परमेश्वर ! (नः) हमारी (अभिमातिम्) अभिमानभावनाओं का (सहस्व) पराभव कीजिये । (पृतनायतः) कामादि, जो कि अपने वर्गों के साथ सेनारूप में हम पर आक्रमण करते हैं, उनका (सहस्व) पराभव कीजिये । (मे) मेरे (दुर्हार्दः) कुत्सित हृदयस्थभावों का (सहस्व) पराभव कीजिये । और (सुहार्दः) श्रेष्ठ हृदयस्थभावों की (बहून्) बहुतायत (कृधि) कीजिये ।

२५६. दर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित् ।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥७॥

(देवजातेन) देवकोटि के उपासकों द्वारा प्रकट हुए, साक्षात् किये गये (दिवि) द्युलोक में (स्तम्भेन) तारागणों को थामनेवाले (तेन) उस (दर्भेण) अविद्याग्रन्थिविदारक परमेश्वर की सहायता द्वारा (अहम्) मैंने (शश्वत् इत्) सदा ही (शश्वतः) शाश्वतकाल से (जनान्) उत्पन्न कामादि को (असनम्) पराभव प्रदान किया है, (च) और (सनवानि) परमेश्वर की कृपा से मैं आगे भी पराभव प्रदान करता रहूं । [जनान्=यथा "पञ्च-जनाः" का अर्थ है ५ ज्ञानेन्द्रियां ? असनम्, सनवानि=षणु दाने । असनम् (लङ्); सनवानि (लोट्) ।]

२५७. प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥८॥

(दर्भ) हे द्वेषविदारक परमेश्वर ! (मा) मुझे (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मणों और राज्य करनेवाले क्षत्रियों के प्रति (प्रियम्) प्यारा (कृणु) कीजिये । (च) और (शूद्राय) शूद्रों के प्रति (च) तथा (आर्याय या अर्याय) श्रेष्ठजन के प्रति या वैश्य के प्रति प्यारा कीजिये । (च) और (यस्मै कामयामहे) जिसकी हम कामना करते हैं, उसके प्रति (च) और (सर्वस्मै) सब (विपश्यते) विविध जगत् के द्रष्टाओं के प्रति मुझे प्यारा कीजिये=बनाइये । [चार्याय=च+अर्याय—इस छेद द्वारा वैश्य का भी ग्रहण हो जाता है । "**अर्यः स्वामिवैश्ययोः**(अष्टा० ३।१।१०३) ।]

२५८. यो जायमानः पृथिवीमदृंहद् यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च।
यं बिभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोऽयं दर्भो वरुणो दिवा कः ॥९॥

(जायमानः) प्रकट होते हुए (यः) जिसने (पृथिवीम्) पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ किया; (यः) जिसने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को, (च) और (दिवम्) द्युलोक को (अस्तभ्नात) थामा; (यम्) जिस (बिभ्रतम्) जगद्धारक परमेश्वर को (पाप्मा) पाप या पापी ने (नु) निश्चय से (न) नहीं (विवेद) जाना, (सः) वह (अयम्) यह (वरुणः) वरुण नामवाला अर्थात् वरण करने योग्य, या वरण करनेवाला, पापनिवारक श्रेष्ठ (दर्भः) अविद्याग्रन्थिविदारक परमेश्वर (नः दिवा) हम में ज्ञानप्रकाश (कः) करता है। [इस वर्णन से निश्चय होता है कि "दर्भ" कुशा घास नहीं। सायणाचार्य ने इस समग्र सूक्त में दर्भ द्वारा कुशा घास का वर्णन किया है। अदृंहत्=यथा—"**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा**" (यजु० ३२।६)। वरुणः=यह परमेश्वर का नाम है, कुशाघास नहीं। देखो—वरुण सूक्त (अथर्व० ४।१६। १—९)। दिवा=यह वरुण ही ज्ञानप्रकाश करता है, कुशा घास नहीं। यं बिभ्रतम्=अथवा जिसे धारण करनेवाले को पाप स्पर्श नहीं करता। दिवा=प्रकाशम् (सायण)।]

२५९. सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वानोषधीनां प्रथमः सं बभूव।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः ॥१०॥

(सपत्नहा) कामादि शत्रुओं का हनन करनेवाला, (शतकाण्डः) सैंकड़ों द्वारा काम्य अर्थात् चाहा गया, (सहस्वान्) सहनशील, या विघ्नबाधाओं का पराभव करनेवाला, (ओषधीनाम्) अध्यात्मरोगों के निवारण करनेवाले उपायों में (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ उपाय (संबभूव) परमेश्वर हुआ है। (सः) वह (अयम्) यह (दर्भः) अविद्यादि का विदारक परमेश्वर (नः) हमारी (विश्वतः) सब प्रकार से (परि पातु) पूर्णतया रक्षा करे। (तेन) उसकी सहायता द्वारा (पृतन्यतः) सेनाओं द्वारा आक्रमण चाहनेवाले कामादि की (पृतनाः) सेनाओं का (साक्षीय) मैं पराभव करूं।

[शतकाण्डः=देखो (१९।३२।१)। अथवा—ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड भक्तिकाण्ड आदि सैकड़ों साधनों द्वारा भजनीय। पृतन्यतः =कामादि के उद्दीपक कामादि की सेनाएं हैं।]

सूक्त ३३

१–५ भृगुः । दर्भः

२६०. सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम् ।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥१॥

(सहस्रार्घः) हजारों द्वारा पूजनीय या महामूल्यरत्न, (शतकाण्डः) सैंकड़ों द्वारा काम्य अर्थात् चाहा गया, (पयस्वान्) आनन्दरस से नित्य सम्बद्ध, (अपाम् अग्निः) जलसम्बन्धी विद्युदग्नि के सदृश जाज्वल्यमान, (वीरुधाम्) रोगविरोधी ओषधियों का (राजसूयम्) सम्राट्, अर्थात् महौषध-रूप (सः अयम्) यह वह (दर्भः) अविद्यादिविदारक परमेश्वर (नः) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परि पातु) परिपालना करे। (देवः मणि) दिव्यरत्न परमेश्वर (नः) हमें (आयुषा) स्वस्थ और दीर्घ आयु के साथ (सं सृजाति) सम्बद्ध करे।

[काण्डः=काम्यते जनैः (उणा० १।११५)। पयस्वान्, पयः=रस। यथा—"पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः" (अथर्व० ३।२४।१), अर्थात् ओषधियां रसवाली हों, मेरी वाणी रस वाली हो। राजसूयम्=सम्राट्; लक्षणया। दर्भः =दृ विदारणे।]

२६१. घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान् भूमिदृंहोऽच्युतश्च्यावयिष्णुः।
नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन् दर्भा रोह महतामिन्द्रियेण ॥२॥

(घृतात्) घृत से (उल्लुप्तः) लुप्त न होनेवाली, अपितु प्रकाशित होनेवाली यज्ञियाग्नि के सदृश सुखदायी, (मधुमान्) मधुभरे छत्ते के सदृश मधुर, (पयस्वान्) आनन्दरस से नित्य सम्बद्ध, (भूमिदृंहः) भूमि को दृढ़ करनेवाले, (अच्युतः) स्वभाव से अटल, (च्यावयिष्णुः) शक्तिशालियों को भी परास्त करनेवाले, (सपत्नान्) कामादि शत्रुओं को (नुदन्) धकेलते हुए, (च) और उन्हें (अधरान्) धरा से रहित (कृण्वन्) करते हुए (दर्भ) हे रागद्वेष के विदारक परमेश्वर! (महताम् इन्द्रियेण) महाआध्यात्मिक सम्पत्तियों के साथ आप (आरोह) मुझ में प्रादुर्भूत हूजिये।

[उल्लुप्तः=उद्गतः लुप्तात् लोपात्। आरोह=रुह प्रादुर्भावे। भूमि-

दृंहः=येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा (यजु० ३२।६)। इन्द्रियम्=धननाम (निघं० २।१०)। धरा=पृथिवी।]

२६२. त्वं भूमिमत्येष्योजसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे ।

त्वां पवित्रमृषयोऽभरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् ॥३॥

हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (ओजसा) निज ओज के कारण (भूमिम् अति) भूमि का अतिक्रमण करके समस्त जगत् में (एषि) व्याप्त हैं। (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञ में (त्वम्) आप (चारुः) शोभायमान होते हुए (वेद्याम्) यज्ञवेदि में (सीदसि) अग्नि में प्रविष्ट हुए स्थित होते हैं। (ऋषयः) ऋषिलोग (त्वां पवित्रम्) आप पवित्र को (अभरन्त) हृदयों में धारण करते हैं। (त्वम्) आप (अस्मत्) हम से (दुरितानि) दुष्कर्मों को हटाकर (पुनीहि) हमें पवित्र कीजिये।

[अत्येषि=यथा—"स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" (यजु० ३१।१)। दशाङ्गुलम्=१०अंगों अर्थात् ५सूक्ष्म भूत और ५ स्थूल भूतरूपी अङ्गोंवाला जगत्। वेद्यां सीदसि=यथा—"अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः" (अथर्व०४।३९।९)में वेदिनिष्ठ अग्नि में परमेश्वराग्नि का प्रवेश दर्शाया है।]

२६३. तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः ।

ओजो देवानां बलमुग्रमेतत् तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये ॥४॥

(राजा) जगत् का राजा परमेश्वर (तीक्ष्णः)[1] तितिक्षावान् है, (विषासहिः) तो भी पराभवकारी है, (रक्षोहा) राक्षस स्वभाववालों का हनन करता है, और (विश्वचर्षणिः) विश्वद्रष्टा है। (देवानाम्) पापकर्मों पर विजय चाहने वालों का वह (ओजः) ओज है,(एतत्) यह (उग्रं बलम्) उग्र बलरूप है, हे विजयेच्छो ! (ते) तेरी (जरसे) सुखमयी जरावस्था के लिये (स्वस्तये) और कल्याण के लिये (तम) उस परमेश्वर को (बध्नामि) तेरे साथ मैं दृढ़ बद्ध करता हूं। [देवानाम्; दिव्=विजिगीषा।]

२६४. दर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याणि दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः।

अतिष्ठाया वर्चसाधान्यान्त्सूर्य इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥५॥

१. तीक्ष्णः=तितिक्षतेऽसौ (उणा० ३।१८)।

हे विजयेच्छो ! (त्वम्) तू (दर्भेण) भयविदारक परमेश्वर के सहारे (वीर्याणि) वीरकर्म (कृणवत्) किया कर। (दर्भम्) भयविदारक परमेश्वर को (बिभ्रद्) जीवन में धारण करता हुआ तू (आत्मना) आत्मा द्वारा (व्यथिष्ठाः मा) व्यथा को प्राप्त न हो। (अध) तदनन्तर (वर्चसा) निज आध्यात्मिक तेज द्वारा (अन्यान्) अन्य सब से (अतिष्ठाय) बढ़ कर (सूर्य इव) सूर्य के सदृश (चतस्रः प्रदिशः) चारों विस्तृत दिशाओं को (आ भाहि) चमका दे॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

सूक्त ३४

१–१० अङ्गिराः। वनस्पतिः, लिङ्गोक्ताः।

२६५. जङ्गिडोऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः॥१॥

(जङ्गिडः असि) तेरा नाम जङ्गिड है, (जङ्गिडः) क्योंकि तू उत्पन्न रोगों को निगल जाती है; (रक्षिता असि) तू रक्षा करती है, (जङ्गिडः) उत्पन्न रोगों को निगल जाती है। (जङ्गिडः) जङ्गिड (अस्माकम्) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपाद्) दो-पाद मनुष्यों (चतुष्पाद्) और चौपाए गौ आदि पशुओं की (रक्षतु) रोगों से रक्षा करे।

[जङ्गिडः="जम्" उत्पन्नं रोगं "गिरति" निगिरति सः। रलयोरभेदः, डलयोरभेदः। जङ्गिरः=जङ्गिलः=जङ्गिडः। जम्+गिर(गॄ निगरणे)। जङ्गिड-औषध, कृषिजनित पदार्थों के रसों से प्राप्त होती है। यथा— "शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्। अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः" (अथर्व० २।४।५)। इस मन्त्र में शण (सन) और जङ्गिड का वर्णन है। शण तो जङ्गल से प्राप्त होता है, और कृषि के रसों से जङ्गिड प्राप्त होता है। विष्कन्ध रोग है—"सूखा रोग" अर्थात् शरीर या शरीराङ्ग का सूख जाना। स्कन्दिर गतौ, शोषणे च। शण के क्वाथ के साथ, जङ्गिड का सेवन विष्कन्ध रोग में सम्भवतः अत्युपकारी हो।]

२६६. या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये ।
सर्वान् विनक्तु तेजसोऽरसां जङ्गिडस्करत् ।।२।।

(त्रिपञ्चाशीः) तीन और पांच में व्याप्त होने वाली (याः) जो (गृत्स्यः) गर्धावृत्तियां अर्थात् अभिकांक्षाएं या लालसाएं हैं, (च) और (कृत्याकृतः) हिंसा करनेवाले (ये) जो (शतम्) सैकड़ों रोग कीटाणु हैं, (जङ्गिडः) जङ्गिड औषध (सर्वान्) उन सब को (तेजसः) उनके निज प्रभावों से (विनक्तु) पृथक् कर दे, और उन्हें (अरसान्) रसों से रहित (करत्) कर दे, विषैले रसों से रहित कर दे।

[त्रिपञ्चाशीः=त्रि+पञ्च+अश (व्याप्तौ)+ङीप् । खान-पान-वस्त्रादि सम्बन्धी शारीरिक गर्धाएं, अभिकांक्षाएं; सांसारिक भोगों की प्रार्थनाओं सम्बन्धी वाचिक-गर्धाएं, अभिकांक्षाएं; भोगसम्बन्धी विचार अर्थात् मानसिक-गर्धाएं, अभिकांक्षाएं—ये गर्धाएं शरीर वाणी और मन, इन तीनों में व्याप्त हैं। इसी प्रकार रूपगर्धा, रसगर्धा, गन्धगर्धा, स्पर्शगर्धा, और शब्दगर्धा ये पांच गर्धाएं पांच ज्ञानेन्द्रियों में व्याप्त हैं। गृत्स्यः =गृधु अभिकांक्षायाम् । गृध्+सः (कित्), तथा "ध्" को "द्" गृधिपण्योर्दकौ च" (उणा० ३।६९)+ङीप्+प्रथमाबहुवचन। जङ्गिड औषध इन गर्धाओं को निस्तेज और अरस करती है। इसी प्रकार इस औषध के सेवन द्वारा हिंसक कीटाणु भी निस्तेज और अरस हो जाते हैं। कृत्याकृतः =कृत्या (कृती छेदने)+कृतः (कृ+क्विप्+तुक्+प्रथमाबहुवचन। रोगकीटाणुओं (=कृमियों) के लिये देखो—अथर्व० कां० २, सू० ३१, ३२; तथा कां० ५। सू० २३। विनक्तु=विचिर् पृथग्भावे।]

२६७. अरसं कृत्रिमं नादमरसाः सप्त विस्रसः ।
अपेतो जङ्गिडामतिमिषुमस्तेव शातय ।।३।।

(जङ्गिड) हे जङ्गिड! (कृत्रिमम्) कफ द्वारा होनेवाली अस्वाभाविक (नादम्) खर-खर ध्वनि को (अरसम्) रसरहित कर दे, सुखा दे; (सप्त) शिरोगत सात छिद्रों से (विस्रसः) बहनेवाले दुर्गन्धित रस (अरसाः) सूख जायें। (इव) जैसे (अस्ता) धनुर्धारी (इषुम्) बाण को दूर फेंकता है, वैसे तू (इतः) इस व्यक्ति से (अमतिम्) मति के अभाव या कुमति को (अप शातय) दूर फेंक दे।

[जङ्गिड के सेवन से कफ रोग, जुकाम आदि, तथा कुमति का अभाव, और मननशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। शातय=शद्लृ शातने; शातनम् =विशीर्णता ।]

२६८. कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥४॥

(अयम्) यह जङ्गिड औषध (कृत्यादूषणः एव) रोगजन्य हिंसा को अवश्य दूर करती, (अथो) और (अरातिदूषणः) अदानभावना अर्थात् कंजूसी भावना को दूर करती है। (अथो) तथा (सहस्वान्) रोगों का पराभव करनेवाली (जङ्गिडः) जङ्गिड औषध (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्र तारिषत्) बढ़ाती है।

२६९. स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः ।
विष्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज ओजसा ॥५॥

(जङ्गिडस्य) जङ्गिड-औषध की (सः) वह (महिमा) महिमा (विश्वतः) सब ओर से, और सब प्रकार से (नः) हमारी (परि पातु) पूर्ण रक्षा करे। (येन) जिस महिमा के कारण, (ओजः) ओजोमय जङ्गिड औषध ने (ओजसा) निज प्रभाव द्वारा (विष्कन्धम्) विविध अङ्गों के सूखा रोग को, तथा (संस्कन्धम्) समग्र शरीरव्यापी सूखा रोग को (सासह) पराभूत किया है।

२७०. त्रिष्ट्वा देवा अजनयन् निष्ठितं भूम्यामधि ।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥६॥

हे जङ्गिड औषध ! (भूम्याम् अधि) भूमि में (निष्ठितम्) स्थित (त्वा) तुझे (देवाः) औषधवेत्ता विद्वान्, (त्रिः) वर्ष में तीन बार (अजनयन्) उपजाते हैं। (पूर्व्याः) औषधविज्ञान के पूर्णवेत्ता (ब्राह्मणाः) वैदिक विद्वान्, (तम् उ त्वा) हे जङ्गिड ! उस तुझ को, (अङ्गिराः इति) अङ्गिरा नाम से (विदुः) जानते हैं।

[देवाः=**विद्वांसो वै देवाः** (श० ब्रा० ३ । ७ । ३ । १०)। पूर्व्याः=पुर्व पूरणे। ब्राह्मणाः=ब्रह्म (वेदः) तज्ज्ञाः। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं।

यथा—"तमृचः सामानि यजूंषि ब्रह्म चानुव्यचलन्(अथर्व० १५।६।८)। तथा ब्रह्म का अर्थ "मन्त्र" भी होता है। जङ्गिड को "अंगिराः" कहा है, क्योंकि यह कृषिजन्य ओषधियों के अङ्गों का रसरूप है, देखो—अथर्व० १९।३४।१ की व्याख्या। अङ्गिराः=अङ्गानां रसः।]

२७१. न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥७॥

(पूर्वाः) पूर्वोत्पन्न (ओषधयः) ओषधियां (त्वा) तुझ से (तरन्ति न) बढ़कर नहीं हैं, (याः) और जो (नवाः) नवीन ओषधियां हैं, वे भी (त्वा) तुझ से (तरन्ति न) बढ़कर नहीं हैं। (जङ्गिडः) जङ्गिड ओषध (विबाधः) रोगों को विशेषरूप से रोकती है, (उग्रः) प्रभाव में उग्र है, (परिपाणः) सब प्रकार से रक्षा करती है, (सुमंगलः) बड़ी मंगल-कारिणी है।

२७२. अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य।
पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥८॥

(अथ) तथा (उपदान) हे शक्तिप्रद! (भगवः) रोगनिवारण में यशस्वी! (अमितवीर्य) अपरिमित सामर्थ्यवाली (जङ्गिड) जङ्गिड औषध! (ते उग्राः) वे उग्ररोगी (ग्रसते) तेरा सेवन करते हैं। (इन्द्रः) इन्द्र ने (पुरा) पहिले (वीर्यम्) शक्ति, तुझे (उप ददौ) प्रदान की है। [इन्द्रः=परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, या मेघीय विद्युत् ने वर्षा द्वारा (देखो—अथर्व० १९।३५।१)। ग्रसते=ग्रास करना, खाना, सेवन करना।]

२७३. उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ।
अमीवाः सर्वाश्चातयञ्जहि रक्षांस्योषधे ॥९॥

(वनस्पते) हे वनस्पतिजन्य जङ्गिड! (उग्रः इन्द्रः इत्) प्रभावशाली परमेश्वर या मेघीय विद्युत् ने ही (ते) तेरे (ओज्मानम्) ओज को (आ दधौ) तुझ में आहित किया है, स्थापित किया है। (ओषधे) हे दोषनाशक जङ्गिड! (सर्वाः) सब (अमीवाः) रोगों को (चातयन्) बिनष्ट करती हुई तू (रक्षांसि) रोग-कीटाणुओं का (जहि) हनन कर।

[वनस्पते=जङ्गिड औषध कृषिजनित ओषधियों के रसों द्वारा निर्मित होता है, इसलिये इसे वनस्पति कहा है। देखो—अथर्व० १६।३४।१ की व्याख्या। इन्द्र=परमेश्वर या मेघीय विद्युत् (अथर्व०१६।३५।१)। अमीवाः=अम रोगे (Amoeba)।]

२७४. आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम्।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥१०॥

(आशरीकम्) समग्र शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने को, (विशरीकम्) शरीर के किसी विशेष अङ्ग के जीर्ण-शीर्ण हो जाने को, (बलासम्) बल का विनाश करनेवाले कफ रोग को (पृष्टयामयम्) पृष्ठरोग अर्थात् पृष्ठ के कुबड़ेपन को, (विश्वशारदम्) प्रत्येक शरद् ऋतु में होनेवाले (तक्मानम्) कष्टप्रद ज्वर को (जङ्गिडः) जङ्गिड औषध (अरसान्) रसशून्य अर्थात् निष्प्रभाव (करत्) करती है। [पृष्टयामय=पृष्ठरोग (निरु०५।४।२१)। यथा—"तष्टेव पृष्टयामयी" (ऋ०१।१०५।१८)।]

सूक्त ३५

१-५ अङ्गिराः। वनस्पतिः।

२७५. इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम् ॥१॥

(इन्द्रस्य) मेघस्थ विद्युत् के (नाम) जल को अर्थात् वर्षा-जल को (गृह्णन्तः) ग्रहण करती हुई (ऋषयः) सूर्य-किरणें (जङ्गिडम्) जङ्गिड नामक औषध (ददुः) प्रदान करती हैं; (देवाः) और देवकोटि के चिकित्सक (यम्) जिस जङ्गिड को (विष्कन्धदूषणाम्) सूखा-रोग मिटानेवाली (अग्रेभेषजम्) सर्वश्रेष्ठ औषधरूप में (चक्रुः) प्रयुक्त करते हैं।

[इन्द्रस्य="वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान." (निरु० ७।२।५) अर्थात् वायु या इन्द्र अन्तरिक्षस्थ देवता हैं। तथा "महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्" (ऋ० ५।३२।१), अर्थात् हे इन्द्र! तू ने महामेघ को फैलाया है, और उदकदाता मेघ को ताड़ित कर तूनें जल-धाराओं का नीचे पृथिवी की ओर विसर्जन किया है। अतः इन्द्र=मेघस्थ

विद्युत् । नाम=उदकम् (निघं० १।१२) । पर्वत=मेघ (निघं० १।१०) । मन्त्र द्वारा प्रतीत होता है कि जङ्गिड-औषध ग्रीष्मकाल की वर्षा-ऋतु में उत्पन्न होती है । ऋषयः=सूर्यरश्मयः (निरु० १२।४।३७) । ददुः, चक्रुः ="छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" वर्तमाने ।]

२७६. स नो॑ रक्षतु जङ्गि॒डो ध॑नपा॒लो ध॑नेव ।

दे॒वा यं च॒क्रुर्ब्रा॑ह्म॒णाः प॑रि॒पाण॑मराति॒हम् ॥ २॥

(सः) वह (जङ्गिडः) जङ्गिड औषध (नः) हमारी (रक्षतु) रक्षा करे, (इव) जैसे कि (धनपालः) धन का स्वामी (धना=धनानि) धनों की रक्षा करता है । (यम्) जिस जङ्गिड को (ब्राह्मणाः देवाः) आयुर्वेदवेत्ता विद्वान् (परिपाणम्) पूर्णरक्षकरूप में, (अरातिहम्) और कंजूसी-रूपी शत्रु के हनन के लिये (चक्रुः) प्रयुक्त करते हैं ।

[ब्राह्मणाः=देखो—अथर्व १९।३४।६। अरातिः=अ+रा(दाने)+तिः, तथा अथर्व १९।३४।४॥]

२७७. दु॒र्हार्दः॑ सं॒घोरं॒ चक्षुः॑ पाप॒कृत्वा॑न॒माग॑मम् ।

तांस्त्वं स॑हस्रचक्षो प्रती॒बो॒धेन॑ नाशय परि॒पाणो॑ऽसि जङ्गि॒डः ॥३॥

(दुर्हार्दः) दुःखप्रद हृदयरोगों को, (संघोरम्) अतिघोर (चक्षुः[1]) आंख या दृष्टि को, (आगमं पापकृत्वानम्) प्राप्त हुए पापी या भयङ्कररोग-जनक क्रिमि अर्थात् कीटाणु को, (तान्) उन सब को (सहस्रचक्षो) हे हजारों रोगों का प्रत्याख्यान करनेवाले जङ्गिड ! (प्रतीबोधेन) चिकित्सकों द्वारा रोगियों को रोगोपचार के बोध द्वारा (नाशय) विनष्ट कर । (परिपाणः) पूर्णतया रोगों से रक्षा करनेवाली (जङ्गिडः असि) तू जङ्गिड औषध है ।

२७८. परि॑ मा दि॒वः परि॑ मा पृथि॒व्याः पर्य॒न्तरि॑क्षा॒त् परि॑ मा वी॒रुद्भ्यः॑ ।

परि॑ मा भू॒तात् परि॒ मो॒त भव्या॑द् दि॒शोदि॑शो जङ्गि॒डः पा॒त्वस्मान् ॥४॥

(जङ्गिडः) जङ्गिड औषध (मा) मेरी (परि पातु) पूर्ण रक्षा करे

१. अर्थात् आंख के अतिघोर रोग को, जिस से दृष्टि का विनाश सम्भव हो । घोरम्=हन्तेः (उणा० ५।६४) ।

(दिवः) द्युलोक से; (मा) मेरी (परि) पूर्ण रक्षा करे (पृथिव्याः) पृथिवी से; (परि) पूर्ण रक्षा करे (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से; (मा) मेरी (परि) पूर्ण रक्षा करे (वीरुद्भ्यः) वनस्पतियों से; (मा) मेरी (परि) पूर्ण रक्षा करे (भूतात्) भूत से; (उत) और (मा) मेरी (परि) पूर्ण रक्षा करे (भव्यात्) भविष्यत् से, (दिशोदिशः) प्रत्येक दिशा से (अस्मान्) हम सब की (पातु) रक्षा करे।

[दिवः=सूर्य के अधिक और कम ताप के कारण होनेवाले रोगों से। पृथिव्याः=पृथिवी से उत्पन्न रोगों से, अन्तरिक्षात्=आन्धी, अवर्षा, अतिवर्षा के कारण उत्पन्न रोगों से। वीरुद्भ्यः=औषधों के विकारों और अन्यथा प्रयोगों द्वारा उत्पन्न रोगों से। भूतात्=भूतकाल में हुए अपथ्यों और कुपथ्यों से उत्पन्न रोगों से। भव्यात्=भविष्यत् में असावधानी के कारण उत्पन्न होनेवाले रोगों से, मेरी और हम सब की पूर्ण रक्षा जङ्गिड औषध कर सकती है।]

२७९. य ऋ॒णवो॑ दे॒वकृ॑ता॒ य उ॒तो व॑वृ॒तेऽन्यः।
सर्वा॒ँस्तान् वि॒श्वभे॑षजोऽर॒सां ज॑ङ्गि॒डस्क॑रत् ॥५॥

(ये) जो (ऋष्णवः) रोगजन्यहिंसाएं (देवकृताः) प्राकृतिक शक्तियों द्वारा की गई हैं, (उत उ) और (ये) जो (अन्यः) प्राकृतिक शक्तियों से भिन्न कारणों से रोग (ववृते) प्रवृत्त हो जाते हैं, (विश्वभेषजः) उन सब रोगों की औषधरूप (जङ्गिडः) जङ्गिड औषध (तान् सर्वान्) उन सब रोगों को (अरसान्) रसरहित, नीरस तथा निष्प्रभाव (करत्) करती है। [ऋष्णवः=ऋ (रेषणे हिंसायाम्)+स्नुः (प्रत्यय)+प्रथमा बहुवचन।]

सूक्त ३६

१-६ ब्रह्मा। शतवारः।

२८०. श॒तवा॑रो अनीनशद् यक्ष्मा॒न् रक्षां॑सि॒ तेज॑सा।
आ॒रोह॒न् वर्च॑सा स॒ह म॒णिर्दु॑र्णाम॒चात॑नः ॥१॥

(शतवारः) सैंकड़ों यक्ष्मरोगों का निवारण करनेवाली "शतवार" नामक औषध, (तेजसा) निज तीक्ष्णता द्वारा (यक्ष्मान्) यक्ष्म (T. B.)

रोगों को, (रक्षांसि) और यक्ष्मरोगों के कीटाणुओं को (अनीनशत्) नष्ट करती है। (वर्चसा सह) अपनी पूरी शक्ति के साथ (आरोहन्) शरीर पर आरूढ़ होकर (मणिः) शतवार मणि, (दुर्णामचातनः)[1] दुष्परिणामी नाना रोगों का विनाश करती है।

[शतवारः=सम्भवतः "शतावरी" औषध । भावप्रकाश में इसे "तिक्ता" कहा है। तेजसा का अर्थ इसलिये "तीक्ष्णता" किया है। मन्त्र ६ में 'वारये" पद की दृष्टि से "शतवार" में "वार" का अर्थ "निवारण" करनेवाली, ऐसा किया है। दुर्णाम=रोग हैं—गुल्म, अतिसार, वातरोग, पित्तरोग, रक्तरोग, शोथ, ग्रहणी, योनि[1] के रोग (देखो--भावप्रकाश)। **अमीवा दुर्णामः** (ऋ० १०।१६२।२); तथा—"**दुर्णामा क्रिमिर्भवति, पापनामा**" (निरु० ६।३।१२)।]

२८१. शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः ।
मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्मातिं तत्रति ॥२॥

शतवार औषध (शङ्गाभ्याम्) निज कंटकों द्वारा (रक्षः) यक्ष्म-रोग के कीटाणुओं को (नुदते) दूर करती है। (मूलेन) जड़ द्वारा (यातुधान्यः) यातना अर्थात् पीड़ा देनेवाले वातरोगों को दूर करती है। और (मध्येन) मध्य भाग द्वारा (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को (बाधते) हटाती है। इस प्रकार (एनम्) इस मनुष्य को (पाप्मा) यक्ष्मरूपी पाप (न अति तत्रति) अधिक प्रभावित नहीं कर पाता।

[महाशतावरी कांटेदार होती है। भावप्रकाश में इसे "ऊर्ध्वकंटिका" कहा है। शृङ्ग का अभिप्राय है—कांटे। महाशतावरी के कांटों द्वारा निर्मित औषध सम्भवतः यक्ष्मरोग के कीटाणुओं को मार देती हो। अन्य भी ओषधियां हैं, जिनके साथ शृङ्गों का वर्णन हुआ है। यथा—शृङ्गी, कर्कट-शृङ्गी, शृङ्गाटक, अजशृङ्गी आदि । न तत्रति=तत्रि कुटुम्बधारणे। अर्थात यक्ष्मा, रोगी में निजकुटुम्ब का धारण-पोषण नहीं कर पाता।]

२८२. ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः ।
सर्वान् दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥३॥

(ये) जो (यक्ष्मासः) यक्ष्मरोग (अर्भकाः) अल्पकाल के हैं, (च)

---

१. यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये। (ऋ० १०।१६२।२)।

और (ये) जो (महान्तः) महाकाल के अर्थात् पुरातन हो गये हैं, और (शब्दिनः) श्वास-प्रश्वास में जिन में कफवाला शब्द होता है, (दुर्णामहा) दुष्परिणामी रोगों का हनन करनेवाला (मणिः) रत्नरूप (शतवारः) शत-वार (सर्वान्) उन सब यक्ष्मों का(अनीनशत्) विनाश कर देता है।

२८३. शतं वीरानंजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत् ।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥४॥

शतवार (शतम्) सैंकड़ों (वीरान्) वीरों को (अजनयत्) मानो नवीन जन्म देता है; (शतम्) सैंकड़ों (यक्ष्मान्) यक्ष्मरोगों को (अपावयत्) दूर कर उन का वपन कर देता है; और (सर्वान्) सब (दुर्णाम्नः) दुष्परिणामों का (हत्वा) हनन करके (रक्षांसि) यक्ष्मरोग के कीटाणुओं को (अवधूनुते) कम्पा गिराता है।

[वीरान्=वीर पुरुषों को भी यदि यक्ष्मरोग हो जाय, और इस कारण वे निर्बल हो जांय, तो शतवार उन्हें पुनः वीरता-सम्पन्न कर देता है, मानो उन्हें नवीन-जन्म प्रदान कर देता है।]

२८४. हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः ।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्ढ्वाव रक्षांस्यक्रमीत् ।५॥

(हिरण्यशृङ्गः) सुवर्ण के वर्ण वाले शृङ्गों अर्थात् अग्रभागों वाली, (शातवारः) शतवार-जाति की (अयम्) यह (मणिः) रत्नसमान बहुमूल्य (ऋषभः) ऋषभ-औषध, (दुर्णाम्नः) दुष्परिणामी (सर्वान्) सब रोगों या यक्ष्मों की (तृड्ढ्वा) हिंसा अर्थात् विनाश करके (रक्षांसि) रोग-कीटाणुओं पर (अव अक्रमीत्) आक्रमण करता,और उन्हें परास्त करता है।

[ऋषभः=वृषशृङ्गवत्। ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि। जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ ॥ मधुरौ पित्तदाहास्रकार्श्यवात-क्षयापहौ ॥ (भावप्रकाश निघण्टु) इस प्रमाण में ऋषभ को वृषभशृङ्गी तथा विषाणी कहा है। तथा जीवक और ऋषभ औषधों को "क्षयापहौ" अर्थात क्षयरोग-विनाशक भी कहा है।]

२८५. शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् ।
शतं शश्वन्वतीनां शतवारेण वारये ॥६॥

(शतम् दुर्णाम्नीनाम्) अतिसार आदि दुष्परिणाम पैदा करनेवाले स्त्री-लिङ्गी सैंकड़ों क्रिमियों को; (शतं गन्धर्वाप्सरसाम्) जलप्राय प्रदेशों या अन्तरिक्ष में रहनेवाले दुःखप्रद, तथा हत्या करनेवाले सैंकड़ों पुंलिङ्गी और स्त्रीलिङ्गी क्रिमियों को; तथा (शतं शश्वन्वतीनाम्) शीघ्र बढ़नेवाली या सदा बार-बार आनेवाली सैंकड़ों स्त्रीलिङ्गी क्रिमियों को (अहम्) मैं चिकित्सक (शतवारेण) शतवार-औषध द्वारा (वारये) निवारित करता हूं।

[दुर्णाम्नीनाम्=दुर्+नाम्नी (=परिणाम पैदा करनेवाली)। गन्धर्व =गन्ध (अर्दने)+अर्व (हिंसायाम्)। अर्वः=कुत्सिते (उणा० ५।५४)। अप्सरसः=अप्सारिणी (निरु० ५।३।१३)। आपः=जल तथा अन्तरिक्ष (निघं० १।३)। शश्वन्=टुओश्वि (गतौ, वृद्धौ), तथा सदा बार-बार आनेवाली। मन्त्र में रोगोत्पादक पुंलिङ्गी तथा स्त्रीलिङ्गी क्रिमियों का वर्णन हुआ है। अथर्ववेद में रोगोत्पादक क्रिमियों के दो भेद दर्शाए हैं—दृष्ट और अदृष्ट (अथर्व० २।३१।२)। दृष्ट जो कि नेत्रों द्वारा देखे जाते हैं, और अदृष्ट जो कि सूक्ष्म होने के कारण नेत्रों द्वारा देखे नहीं जा सकते। क्रिमि को "हतमाता" तथा "हतस्वसा" कहा है (अथर्व० २।३२।४; तथा ५।२३।११)। अतः क्रिमियों का पुंलिङ्गी तथा स्त्रीलिङ्गी भेद वेदानुमोदित है। हतमाता, हतस्वसा=क्रिमि जिस की माता और बहिन भी मार दी गई हैं। माता और स्वसा स्त्रीलिङ्गी क्रिमि हैं।]

सूक्त ३७

[१-४ अथर्वा । अग्निः ।

२८६. इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् । त्रयस्त्रिंशत् यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥१॥

(इदम्) यह (वर्चः) शारीरिक-कान्ति (भर्गः) पापभर्जक तेज (यशः) निर्मल यश (सहः) सहनशक्ति (ओजः) पराक्रम (वयः) स्वस्थ आयु, और (बलम्) शारीरिक बल (अग्निना) ज्योतिर्मय जगदग्रणी पर-

मेश्वर द्वारा (दत्तम्) दिया हुआ (आगन्) मुझे प्राप्त हुआ है। (च) और (यानि) जो (त्रयस्त्रिंशत्) ३३ (वीर्याणि) शक्तियां हैं, (तानि) उन्हें (अग्निः) ज्योतिर्मय जगदग्रणी परमेश्वर (मे) मुझे (प्र ददातु) प्रदान करे।

[अग्निना=अग्नि नाम परमेश्वर का भी है । यथा—"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३१।१)। भर्गः=भ्रस्ज् पाके। त्रयस्त्रिंशत् वीर्याणि=१० ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां, १० कर्मेन्द्रियों की शक्तियां, ५ पंचभूतों की शक्तियां, ५ पञ्चतन्मात्राओं की शक्तियां, १ मन, १ अहंकार, १ बुद्धि ।]

२८७. वर्च आ धेहि मे तन्वां३ सह ओजो वयो बलम् ।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥२॥

हे परमेश्वर ! (मे) मेरी (तन्वाम्) तनु में (सहः) सहनशक्ति (ओजः) पराक्रम (वयः) स्वस्थ और दीर्घ आयु, और (बलम्) शारीरिक बल का (आ धेहि) आधान कीजिये । (इन्द्रियाय) आत्मिक शक्ति की प्राप्ति के लिये, (कर्मणे) त्यागभावना से कर्मों को करने के लिये, (वीर्याय) वीर्यरक्षा के लिये, (शतशारदाय) सौ वर्षों तक जीवन के लिये (त्वा) हे परमेश्वर ! आप को (प्रतिगृह्णामि) मैं अङ्गीकार करता हूं, स्वीकार हूं ।

[इन्द्रियाय=इन्द्र (=जीवात्मा)+घ] ।

२८८. ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ॥३॥

हे अग्निनामक परमेश्वर (शतशारदाय) सौ वर्षों की आयु के लिये (त्वा) आप को, (ऊर्जे) प्राणशक्ति प्राप्त करने के लिये (त्वा) आप को, (बलाय) शारीरिक बल प्राप्त करने के लिये (त्वा) आप को, (ओजसे) पराक्रम के लिये (सहसे) तथा सहन शक्ति प्राप्त करने के लिये (त्वा) आप को, (अभिभूयाय) शत्रुओं के पराभव के लिये, (राष्ट्रभृत्याय) राष्ट्रसेवा तथा राष्ट्र के भरण-पोषण के लिये (पर्यूहामि) मैं आप को निज जीवन में सदा वहन करता रहूं ।

[पर्यूहामि=परि+वह । छान्दस प्रयोग । यथा—"पर्यूढा" (अथर्व० ११।३।१५; तथा १२।५।३)। अभिप्राय यह है कि प्रार्थी परमेश्वर के प्रति

कहता है कि ऊर्ज् आदि की प्राप्ति के लिये, मैं अपनी सौ वर्षों की आयु पर्यन्त सदा अपने जीवन में आप को धारण करता हुआ विचरूंगा, ताकि मैं ऊर्ज् आदि की प्राप्ति के लिये कुपथगामी न हो जाऊं। ऊर्ज्=ऊर्जं बलप्राणनयोः।]

२८९. ऋतुभ्यंष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥४॥

हे अग्निनामक परमेश्वर! (ऋतुभ्यः) ऋतुओं से (आर्तवेभ्यः) ऋतुजन्य पदार्थों से (माद्भ्यः) मासों से (संवत्सरेभ्यः) और वर्षों से (समृधे) समृद्धि प्राप्त करने के लिये, (धात्रे) धारण-पोषण करनेवाले, (विधात्रे) विधियों के विधाता, (भूतस्य) और भूत भौतिक जगत् और प्राणिजगत् के (पतये) रक्षक पालक तथा स्वामी आप की प्राप्ति के लिये, (त्वा यजे) मैं आप का यजन करता हूं, आप देव का पूजन तथा संग करता हूं, तथा आप के प्रति आत्मसमर्पण करता हूं। [यजे=यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु।]

सूक्त ३८

१-३ अथर्वा। गुल्गुलुः।

२९०. न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥१॥

(तम्) उसे (यक्ष्माः) यक्ष्म रोग [Tuberclosis; T. B.] (न अरुन्धते) अवरुद्ध नहीं करते, और (न) न (एनम्) इसे (शपथः) शपथ लेने की प्रवृत्ति (अश्नुते) व्याप्त करती है, (यम्) जिसे कि (गुल्गुलोः भेषजस्य) गुग्गुल-ओषध का (सुरभिः गन्धः) सुगन्धित गन्ध (अश्नुते) व्यापता है।

[अरुन्धते=आरुन्धते; रुधिर् अवरोधने। गुल्गुलु=गुग्गुल। अग्नि में जलाए गये गुग्गुल के धूम्र द्वारा यक्ष्मरोग का शमन होता है। शपथः =शपथ अर्थात् सौगन्ध या कसम की आदत मानसिक कमजोरी को सूचित करती है। गुग्गुल की गन्ध शपथ खाने की प्रवृत्ति को कम करती है। गुग्गुल-गन्ध से अतिरिक्त और भी ओषधियां हैं, जो कि शपथ खाने की

प्रवृत्ति को कम करती हैं, जिन्हें कि "शपथयावनी" (अथर्व० ४।१७।२), तथा "शपथयोपनी" (अथर्व०२।७।१) कहा है।]

२९१. विष्वंञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते।
यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ॥२॥

२९२. उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ॥३॥

(यद्) जो (गुल्गुलु) गुग्गुल (सैन्धवम्) नदीप्रदेशोत्पन्न, (अपि वा) अथवा (यद्) जो गुग्गुल (समुद्रियम्) समुद्रदेशोत्पन्न (असि=अस्ति) है, (उभयोः) इन दोनों का (नाम) नाम (अस्मै) इस व्यक्ति के लिये (अरिष्टतातये) क्षेमविस्तारार्थ, (अग्रभम्) मैं चिकित्सक ने लिया है। गुग्गुल का सेवन करनेवाले (तस्मात्) उस व्यक्ति से (विष्वञ्चः) नाना देशव्यापी (यक्ष्माः) यक्ष्मा रोग ऐसे (ईरते) कम्पित हो जाते हैं, (इव) जैसे कि [वन्य हिंस्र जन्तु से] (मृगाः अश्वाः) मृग और अश्व कम्पित हो जाते हैं। [ईरते=ईर कम्पने। नाम अग्रभम्=नामनिर्देश करना, औषध का कथन करना, यक्ष्मरोग की निवृत्ति के लिये।]

सूक्त ३९

१-१० भृग्वङ्गिराः। कुष्ठः।

२९३. ऐतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥१॥

(हिमवतः परि) बर्फीले पर्वत से, (त्रायमाणः) यह रक्षक (देवः कुष्ठः) दिव्य कुष्ठ औषध (ऐतु) हमें प्राप्त हो। हे कुष्ठ औषध! (सर्वम्) सब प्रकार के (तक्मानम्) कष्टप्रद ज्वरों को (नाशय) विनष्ट कर, (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) यातना अर्थात् पीड़ा देनेवाले स्त्रीलिङ्गी कीटाणुओं का नाश कर।

२९४. त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः।
नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायं प्रातरथो दिवा ॥२॥

(कुष्ठ) हे कुष्ठनामक औषध ! (ते) तेरे (त्रीणि नामानि) तीन नाम हैं। १. कुष्ठ, २. (नद्यमारः) नद्यमार, ३. (नद्यारिषः) नद्यारिष। (नद्य) हे नदीप्रदेशोत्पन्न रोग ! (अयं पुरुषः) यह कुष्ठौषधसेवी पुरुष (आरिषत्) तेरा पूर्ण विनाश करता है, (यस्मै) जिस पुरुष के प्रति हे कुष्ठौषध (परिब्रवीमि) मैं कहता कि वह (त्वा) तेरा सेवन करे, (सायम्) सायंकाल, (प्रातः) प्रातःकाल, (अथो दिवा) और दिन के समय अर्थात् प्रतिदिन ३ तीन बार।

[कुष्ठः=कुष्णाति निरन्तरं कर्षतीति कुष्ठः, व्याधिभेदः, "कूट" इत्याख्यौषधिर्वा (उणा० २।२)। नद्यमारः=नद्यां भवः रोगः तस्य मारः मारकः। नद्यारिषः=नद्य+आ+रिष् (हिंसायाम्), नद्यां भवस्य रोगस्य रेषणकर्त्ता। नद्य=नद्यां भवः रोगः, तत्सम्बुद्धौ।]

२९५. जी॒व॒ला नाम॑ ते मा॒ता जीव॑न्तो॒ नाम॑ ते पि॒ता।
न॒द्या॒यं पुरु॑षो रिषत्। यस्मै॑ परि॒ब्रवी॑मि त्वा सा॒यं प्रा॒तर॒थो दिवा॑ ॥३॥

हे कुष्ठौषध ! (ते) तेरी (माता) माता (जीवला) जीवला नामवाली है, (ते) तेरा (पिता) पिता (जीवन्तः नाम) जीवन्त नामवाला है। (नद्य) हे नदीप्रदेशोत्पन्न रोग ! (अयम्) यह (पुरुषः) कुष्ठौषधसेवी पुरुष (रिषत्) तेरा विनाश करे। (यस्मै ·····) इत्यादि पूर्ववत्।

[जीवला[1]=जीवं जीवनम्=उदकम्, तद्वती पृथिवी, अर्थात् जलप्राय भूमि। जीवम्=जीवनम्=उदकनाम (Water, आपटे)। अथवा "जीव"=water (आपटे), जीवला=जलवती भूमिः। जीवन्तः=**जीवति येन सः** (उणा०३।१२७), अर्थात् मेघः। पृथिवी को माता तथा मेघ को पिता कहा भी है। **यथा—"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु"** (अथर्व० १२।१।१२)। अभिप्राय यह है कि जहां मेघ बरसता रहता है, ऐसी जलप्राय भूमि में कुष्ठौषध उत्पन्न होती है।]

---

१. अथर्ववेद में "आपः" (=जल) को "जीवला" कहा है। यथा—"**आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम्**" (१०।६।३); तथा "**जीवलाः** (=आपः) **पात्रे आसिक्ताः**" (१२।३।२५)। उपर्युक्त मन्त्र ३ अथवा लक्षणा से जीवला=जलप्रायभूमि।

२९६ उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । नद्यायं पुरुषो रिषत् । यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥४॥

हे कुष्ठौषध ! (ओषधीनाम्) ओषधियों में (उत्तमः) सर्वोत्तम ओषधि (असि) तू है, (इव) जैसे कि (अनड्वान्) शकटवाही बैल (जगताम्) अहिंस्र प्राणियों में सर्वोत्तम है; और (इव) जैसे कि (व्याघ्रः) व्याघ्र (श्वपदाम्) कुत्ते के पैरों के सदृश पैरोंवाले हिंस्रप्राणियों में सर्वोत्तम है। (नद्य) हे नदीप्रदेशोत्पन्न रोग ! (अयं पुरुषः) कुष्ठसेवी यह पुरुष (रिषत्) तेरा विनाश करे, (यस्मै···) पूर्ववत् ।

२९७. त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि ।
त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥५॥

(त्रिः) तीन प्रकार का कुष्ठ (शाम्बुभ्यः) मेघों से (जातः) उत्पन्न होता है; (त्रिः) तीन प्रकार का कुष्ठ (अङ्गिरेभ्यः) सूर्य और चान्द की प्रकाशमयी किरणों से, तथा (आदित्येभ्यः) रसादान करनेवाली तापमयी सूर्य-किरणों से पैदा होता है। (त्रिः) तीन प्रकार का कुष्ठ, जो (विश्वदेवेभ्यः) इन समग्र अर्थात् शाम्बु आदि सब तीनों देवों अर्थात् दिव्य कारणों से पैदा होता है, (सः) वह (कुष्ठः) कुष्ठ अर्थात् कूट या कूठ औषध (विश्व-भेषजः) सर्वौषधरूप है, और (सोमेन साकम्) सोम ओषधि के संग में (तिष्ठति) रहता है। हे कुष्ठ ! तू (सर्वम्) सब प्रकार के (तकमानम्) कष्टदायक ज्वरों का (नाशय) विनाश कर। (च) और (सर्वाः यातुधान्यः) सब यातना देनेवाले स्त्रीलिङ्गी क्रिमियों का नाश कर।

[त्रिः=कुष्ठ त्रिविध अर्थात् तीन प्रकार का है—मुख्य कुष्ठ, नद्यमार तथा नद्यारिष (मन्त्र १९।३९।१)। मुख्य कुष्ठ को "उत्तम" कहा गया है (मन्त्र १९।३९।४)। नद्यमार और नद्यारिष उत्तम कुष्ठ नहीं हैं। इसीलिये मुख्य कुष्ठ को "विश्वभेषज" कहा हैं, (मन्त्र १९।३९।५)। "त्रिः" शब्द तीन वार मन्त्र में पठित है। यह दर्शाने के लिये कि कुष्ठ के तीन ही भेद हैं। शाम्बुभ्यः=श+अम्बुभ्यः=शेते अम्बु येषु तेभ्यः= मेघेभ्यः। शाम्बु

के साथ सादृश्य रखनेवाले दो शब्द हैं—शम्बरः=मेघः (निघं० १।१०), तथा शम्बरम्=उदक (निघं० १।१२)। अङ्गिरेभ्यः=अथर्ववेद में "सूर्य और चन्द्र" ब्रह्म के दो चक्षुःगोलक कहे हैं—"यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः" (१०।७।३३); और "चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्" (१०।७।३४) द्वारा अङ्गिरसों को भी चक्षु कहा है। यहां "अङ्गिरसः" द्वारा चक्षुगोलकों की किरणें अभिप्रेत हैं। इस वर्णन की दृष्टि से "अङ्गिरेभ्यः" का अर्थ "प्रकाशमयी किरणें" करना उचित प्रतीत होता है। सूर्य और चन्द्र का प्रकाश ओषधियों की वृद्धि का कारण है—यह वेद और वर्तमान विज्ञान द्वारा स्वीकृत है। आदित्येभ्यः="आदित्यः कस्मादादत्ते रसान्" (निरु० २।४।१३), अर्थात् आदित्य पार्थिव जलादि रसों का आदान करता है, [जिस के द्वारा कि मेघ बनते हैं], इसलिये आदित्य को आदित्य कहते हैं। रसों का आदान, आदित्य की तापमयी किरणों द्वारा होता है, इसलिये आदित्येभ्यः द्वारा आदित्य की तापमयी किरणों का वर्णन मन्त्र में हुआ है। तापमयी किरणों द्वारा निर्मित मेघों से वर्षा द्वारा कुष्ठ आदि ओषधियां उत्पन्न होती हैं। सोमेन साकम्=जिन पर्वतों में सोम ओषधि पैदा होती है, उन पर्वतों में उत्पन्न कुष्ठ-औषधि "विश्वभेषज" होती है, जो कि तक्मा के निवारण में सर्वश्रेष्ठ है, सर्वोत्तम है (१९।३९।४)। कुष्ठ, नाशय=जड़ वस्तु का भी सम्बोधन द्वारा वर्णन, कविसम्प्रदायानुमोदित है। परमेश्वर कवि है, यथा "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (यजु०४०।८)। तथा "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति" (अथर्व० १०।८।३२) में वेद को परमेश्वर देव का काव्य कहा है। अतः कविता की दृष्टि से, जड़ का सम्बोधन भी उचित ही प्रतीत होता है।]

२९२. अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत। स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति। तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥६॥

(इतः) इस पृथिवी से (तृतीयस्यां दिवि) तीसरे अर्थात् द्युलोक में, (देवसदनः) द्योतमान तारागणों में स्थित (अश्वत्थः) अश्वत्थ नक्षत्रमण्डल है। (तत्र) उस में जब सूर्य स्थित होता है, तब (अमृतस्य) जीवनप्रद उदक (चक्षणम्) दृष्टिगोचर होता है। (ततः) उस उदक से (कुष्ठः)

सर्वोत्तम कूट या कुठ (अजायत) पैदा होता है। (स कुष्ठो …यातुधान्यः) पूर्ववत् (मन्त्र १६।३६।५)।

[अभिप्राय यह है कि "अश्वत्थ नक्षत्रमण्डल" द्युलोक में है। इस नक्षत्र-मण्डल में, या इस दिशा में सूर्य जब अपनी वार्षिक गति से आता हैं, तब वर्षा-जल द्वारा सर्वोत्तम कुष्ठ उत्पन्न होता है। अमृतम्=उदकम् (निघ० १।१२)।]

२६९. हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥७॥

(हिरण्ययी) ज्योतिर्मयी (हिरण्यबन्धना) ज्योतिर्मय बन्धनों द्वारा बन्धी हुई (नौः) नौका (दिवि) द्युलोक में (अचरत्) विचरती है। (तत्र) उसमें जब सूर्य स्थित होता है, तब (अमृतस्य) जीवनप्रद उदक (चक्षणम्) दृष्टिगोचर होता हैं। (ततः) उस उदक से (कुष्ठः) उत्तम कूट या कुठ (अजायत) पैदा होता है। (स कुष्ठो……यातुधान्यः) पूर्ववत् (मन्त्र१६। ३६।५)।

[हिरण्ययी=ज्योतिर्मयी। यथा "हिरण्यगर्भः[1] समवर्तताग्रे" (यजु० १३। ४); हिरण्मयेन[2] पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (यजु० ४०।१७)। वर्ष में एक बार तो "अश्वत्थ काल" में वर्षा, और दूसरी बार "नौका काल" में वर्षा का कथन हुआ है। नौः=Name of a constellation (आपटे) अर्थात् नौः नक्षत्रमण्डल का नाम हैं।]

३००. यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।

(१) सूर्यादि तेजोमय पदार्थों का आधार (महर्षिदयानन्द)।

(२) ज्योतिस्वरूप (महर्षि दयानन्द)।

स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥८॥

(हिमवतः) बर्फीले पर्वत के (यत्र) जिस भाग में (अवपभ्रंशनम् न) ढलवान् नहीं है, अपि तु (यत्र) जहां बर्फीले पर्वत का (शिरः) उच्च भाग है, (तत्र) उस भाग में (अमृतस्य) जीवनप्रद जल का यदि (चक्षणम्) दर्शन होता हैं, तो (ततः) उस भाग से (कुष्ठः) उत्तम कूट या कुष्ठ (अजायत) पैदा होता है। (स कुष्ठो······यातुधान्यः) पूर्ववत् (१६।३६।५)।

[अवभ्रंशनम्=ढलवान खड्ड ।। ढलवान् स्थलों में जल नहीं ठहरता। उत्तम कुष्ठ के लिये सतत जल चाहिये। हिमवतः इस पद द्वारा हिमालय पर्वत का ग्रहण नहीं है। अपितु केवल बर्फीले पर्वतों का ग्रहण है। इसी लिये वेद में अयन्त्र "हिमवन्तः" बहुवचन में पाठ है। यथा "यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा" (अथर्व० ४।२।५); तथा "गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तः" (अथर्व० १२।१।११)।

३०१. यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥९॥

(कुष्ठ) हे उत्तम कुष्ठ! (पूर्वः) जन्मतः (इक्ष्वाकः) वाग्दर्शी वाक्-शक्त्यभिलाषी (यं त्वा) जिस तुझ को (वेद) अपने रोग की औषधिरूप जानता है; (यं वा) तथा जिस (त्वा) तुझ को (काम्यः) कामातुर व्यक्ति अपने कामरोग की ओषधिरूप जानता है; (यं वा) या जिस तुझ को (वसो) वसा अर्थात् चर्बीप्रधान मोटा व्यक्ति अपने मुटापे को ओषधि रूप जानता है; (यम्) और जिस तुझ को (आत्स्यः) वातरोगी या उपक्षीण अपनें रोग की ओषधिरूप जानता है, (तेन) इस कारण (विश्वभेषजः) सर्वरोगौषध-रूप (असि) तू है।

[इक्ष्वाकः=इक्ष, ईक्ष (दर्शने)+वाक् (वाणी), ईक्षते वाकं वाचमिति। काम्यः=कामपुत्रः (सायण), कामातुर। वसो=वसा+उ=वसा-प्रधानः स्थूलः। आत्स्यः=अतस (wind, air आपटे); अतसः=अतति

निरन्तरं गच्छतीति अतसः, वायुर्वा (उणा० ३।११७), महर्षि दयानन्द। अथवा—आत्स्यः=आ+तसु (उपक्षये), क्षीणः मनुष्यः।]

३०२. शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥१०॥

(शीर्षलोकम्) शिरःस्थानी अर्थात् शीर्षामय को; (तृतीयकम) तीसरे दिन आनेवाले ज्वर को, (यः) जो कि (सन्ददिः) शरीर को जकड़ देता है; (च) और (हायनः) जो वार्षिक ज्वर है उसे; (अधराञ्चम्) तथा निचले अङ्गों में व्याप्त होनेवाले (तक्मानम्) कष्टप्रद ज्वर को (विश्वधा-वीर्य) हे सब प्रकार के सामर्थ्य वाले उत्तम कुंष्ठ! (परासुव) तू परे कर दे, हटा दे।

[शीर्षलोकम्=शिर है लोक अर्थात् स्थान जिस का, ऐसा ज्वर, अर्थात् वह ज्वर जो कि सिर को चढ़ जाता है। सन्ददिः, सन्दान=रस्सी। "सन्ददिः" मानो रस्सी से जकड़ देनेवाला।]

सूक्त ४०

१—४ ब्रह्मा। बृहस्पतिः, विश्वेदेवाश्च।

३०३. यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ॥१॥

(मे) मेरे (मनसः) मन का (यत्) जो (छिद्रम्) दोष है, (च) और (यत्) जो (वाचः) वाणी का दोष है, तथा जो मेरी (सरस्वती) ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्ना वाणी [क्षुब्ध होकर] (मन्युमन्तम्) क्रोधी मनुष्य के प्रति (जगाम) प्रवृत्त हुई है, उच्चरित हुई है, (तत्) उन दोषों का (विश्वैः देवेभ्यः सह) अन्य सब आचार्य आदि देवों के साथ (संविदानः) सहमत होकर (बृहस्पतिः) वेदवाणी का आचार्य (सं दधातु) उपचार करे, उन दोषों अर्थात् छिद्रों को पूरित करे।

[मनसः=मन का दोष है—अशिवसंकल्प, नास्तिकता आदि। वाचः=वाणी का दोष है—असत्य वचन, निन्दा, कटुता आदि। सरस्वती=

सरो विज्ञानं तद्वती (उणा० ४।१९०)। ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न व्यक्ति की वाणी में भी यदि क्षोभ हो जाये, तो वह दोष ही है। बृहस्पतिः=बृहती वाक् वेदवाणी (शत० ब्रा० १।४।११), तस्याः पतिः। विश्वैः देवैः=अन्य शिक्षक, मातृदेव, पितृदेव आदि। संदधातु=मन्त्र में दोष को छिद्र कहा है। छिद्र को भरना होता है। इसलिये संदधातु का अर्थ है–संधान करना। "दोष" अर्थ में इसका अर्थ होगा—उपचार करना।]

३०४. मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्र मथिष्टन।
सुष्यदा यूयं स्यन्दध्वमुपहूतोऽहं सुमेधा वर्चस्वी ॥२॥

(आपः) हे आप्त जनो ! आप (मा) न (नः) हमारी (मेधाम्) बुद्धि को और (मा) न (ब्रह्म) हमारे वेदज्ञान या ब्रह्मोपासना को (प्र मथिष्टन) प्रमथित होने दें, विकृत होने दें। आप कृपया (स्यन्दध्वम्) हमारी ओर, मिलकर प्रवाहरूप में आते रहिये, (सुष्यदाः) जैसे कि उत्तमरूप में प्रवाहित होनेवाले जल, मिलकर समुद्र की ओर प्रवाहित होते हैं। ताकि (अहम्) मैं आपके द्वारा (सुमेधाः) उत्तम बुद्धिवाला तथा (वर्चस्वी) कान्तिमान् होकर (उपहूतः) आप द्वारा प्रेमपूर्वक, बुलाए जाने वाला हो जाऊं। [ब्रह्म=परमेश्वर; मन्त्र; =वेद। ब्रह्मदेव=अथर्ववेद।]

३०५. मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत् तपः।
शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥ ३ ॥

हे माता-पिता ! आप दोनों (मा) न (नः) हमारी बुद्धि को, (मा) न (नः) हमारे (दीक्षाम्) व्रत-नियमों को, (यत्) जो (नः) हमारा (तपः) तप है (मा) न उसको (हिंसिष्टम्) हिंसित होनें दीजिये। पितृवर्ग (नः) हमारे लिये (शिवाः) कल्याणकारी और (शम्) सुख-शान्तिकर (सन्तु) हों, और (मातरः) माताएं (शिवाः) कल्याणकारिणी (भवन्तु) हों, (आयुषे) ताकि हमारा जीवन कल्याणमय और सुख-शान्ति-सम्पन्न हो सके।

३०६. या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः।
तामस्मे रासतामिषम् ॥४॥

(अश्विना) हे इन्द्रियाश्वों के स्वामी अध्यापक और उपदेशक! या माता और पिता! (या) जो (ज्योतिष्मती) ज्योतिस्ठमती प्रज्ञा (तमस्तिरः) अन्धकार को तिरोहित करके (नः) हमारा (पीपरत्) पालन करती है, (ताम्) उस (इषम्) अभीष्ट ज्योतिष्मती प्रज्ञा को (अस्मे) हमें (रासताम्) प्रदान कीजिये।

सूक्त ४१

१ ब्रह्मा । तपः ।

३०७. भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥१॥

(भद्रम्) प्रजा का सुख और कल्याण (इच्छन्तः) चाहते हुए, (स्वर्विदः) स्वर्गीय सुख को प्राप्त (ऋषयः) ऋषियों ने, (अग्रे) प्रथम (तपः) तप और (दीक्षाम्) व्रतों का (उपनिषेदुः) अनुष्ठान किया। (ततः) तत्पश्चात् (राष्ट्रम्) राष्ट्रभावना, (बलम् ओजः च) और राष्ट्रिय बल और ओज (जातम्) प्रकट हुआ, (तद्) इसलिये (अस्मै) इस राष्ट्रभावना और राष्ट्रिय बल तथा ओज की पूर्ति के प्रति (देवाः) राष्ट्र के दिव्यनेता (उपसंनमन्तु) परस्पर मिल कर श्रद्धापूर्वक झुके रहें।

सूक्त ४२

१-४ ब्रह्मा । ब्रह्मदेवता ।

३०८. ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥१॥

ब्रह्मध्यानरूपी ब्रह्मयज्ञ में (ब्रह्म) ब्रह्म ही (होता) होता=ऋत्विक् होता है, (ब्रह्म) ब्रह्मध्यान ही (यज्ञाः) समग्रयज्ञरूप हैं, (ब्रह्मणा) ब्रह्म के साथ (स्वरवः) यज्ञस्तूप आदि (मिताः)[1] उपमित हुए हैं। (अध्वर्युः)

(१) जैसे ब्रह्म दुःखनिवारक और सुखसंचारक है, वैसे अनुष्ठित साङ्गोपाङ्ग यज्ञ भी दुःखनिवारक और सुखसंचारक हैं। मंत्र में ब्रह्मोपासना और यज्ञानुष्ठान

अध्वर्यु (ब्रह्मणः) ब्रह्म की पूजा के लिये ही (जातः) वरण किया जाता है, क्योंकि (ब्रह्मणः अन्तः) ब्रह्म के भीतर ही (हविः) हवि (हितम्) निहित की जाती है, उसे समर्पित की जाती है।

[अभिप्राय यह है कि ब्रह्मयज्ञ में होता अध्वर्यु, द्रव्यसाध्य यज्ञों, तथा यज्ञोपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। इसमें केवल एकमात्र ध्येय ब्रह्म की ही आवश्यकता होती है। द्रव्यसाध्य यज्ञ तथा अध्वर्यु आदि भी ब्रह्म पूजा के लिये, और उस के नाम पर हविःप्रदान केलिये ही होते हैं। यथा—"स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत" ॥ "स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्"(अथर्व०१३।७।३९,४०)—अर्थात् परमेश्वर यज्ञ से प्रकट होता है, क्योंकि ब्रह्म से यज्ञविधि प्रकट हुई है। परमेश्वर यज्ञरूप है, उसके लिये यज्ञ किया जाता है, वह यज्ञ का सिर है"।]

३०९. ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा ॥२॥

ब्रह्मयज्ञ में, (ब्रह्म) ब्रह्म ही (घृतवतीः) घृताहुति देने के निमित्त स्रुव् आदि यज्ञपात्र हैं, (ब्रह्मणा) ब्रह्मप्राप्ति हेतु (वेदिः) यज्ञवेदि (उद्धिता) उच्च स्थल में निहित होती है। (च) और (ब्रह्म) ब्रह्म ही (यज्ञस्य) यज्ञ का (तत्त्वम्) सार है, और (ये) जो (हविष्कृतः) हवि का निष्पादन करनेवाले (ऋत्विजः) ऋत्विक् हैं, वे भी ब्रह्मप्राप्ति के हेतुरूप हैं। (शमिताय) शान्तस्वरूप ब्रह्म के लिये (स्वाहा) आत्म-समर्पण हो। [ब्रह्म-यज्ञ में स्रुव् आदि यज्ञिय उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। वेदि-निर्माण तथा ऋत्विक् भी ब्रह्मप्राप्ति के ही साधन हैं। यज्ञ का सार ब्रह्म ही है। इस शान्तरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिये आत्मसमर्पण हो। शमि-ताय=शम् (शान्तिम्)+इताय (प्राप्ताय)।]

३१०. अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राव्णे सुमतिमावृणानः।
इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥३॥

में उपमानोपमेयभाव दर्शाया है। जिस गुणकर्म की दृष्टि से वस्तुओं में उपमान उपमेयभाव दर्शाया जाता है, उस गुणकर्म की दृष्टि से, उपमेय की अपेक्षा उपमान उत्कृष्ट होता है। अतः यज्ञानुष्ठानों की अपेक्षा ब्रह्मोपासना को मंत्र में उत्कृष्ट दर्शाया है।

(सुमतिम्) श्रेष्ठमति (आवृणानः) चाहता हुआ मैं, (मनीषाम्) अपनी मानसिक इच्छाओं और प्रज्ञा को (अंहोमुचे) पापों से छुड़ाने वाले (सुत्राव्णे) सर्वोत्तम रक्षक परमेश्वर के प्रति (आ प्र भरे) पूर्णतया समर्पित करता हूं। (इन्द्र) हे परमैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर! (इदं हव्यम्) मेरी इस मनीषारूपी हवि को (प्रतिगृभाय) स्वीकार कीजिये। आप की कृपा से (यजमानस्य) समर्पणरूपी यज्ञ के कर्त्ता की (कामाः) कामनाएं (सत्याः) सत्यमयी (सन्तु) हों, पूर्ण हों। [मनीषाम्=मनस्+ईषाम् (इष इच्छायाम्)। अथवा (ईष गतौ) अर्थात् मानसिक प्रेरणाप्रद प्रज्ञा।]

३११. अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः ॥४॥

(अंहोमुचम्) पापों से छुड़ानेवाले, (यज्ञियानाम्) पूज्यों में (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ पूजनीय, (विराजन्तम्) विशेष दीप्तिसम्पन्न, (अध्वराणाम्) हिंसारहित यज्ञों के (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ मुख्यदेव, (अपांनपातम्) इन्द्रियों मन और बुद्धि को कुमार्ग में न पतन होने देनेवाले परमेश्वर का (हुवे) मैं सदा आह्वान करता हूं। परमेश्वर प्रार्थी को कहता है कि (अश्विना) इन्द्रियाश्वों के स्वामी तेरे माता और पिता (ते) तुझे (धियः) सत्कर्म तथा सद्बुद्धि, (इन्द्रियेण) और अपने आध्यात्मिक धन द्वारा (इन्द्रियम्) आध्यात्मिक धन, और (ओजः) ओज (दत्तम्=दत्ताम्) प्रदान करें।

[अंहोमुचम्=परमेश्वर का सच्चा-उपासक, परमेश्वर से शक्ति पाकर, पापों से विमुख हो जाता है। अश्विना=समाज के सुधार के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक परिवार में माता पिता इन्द्रिय-संयमी होकर अपनी सन्तानों में सत्कर्मों और सद्बुद्धि का बीज बोकर, उन्हें आध्यात्मिक सामर्थ्य वाला बनाएं। अपाम्=सप्त आपः। **सप्त आपनानि षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी**" (निरु० १२।४।२७)। इन्द्रियम्=धनम् (निघं० २।१०)।]

सूक्त ४३

१-८ ब्रह्मा। ब्रह्म, बहुदैवत्यम्।

३१२. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधा दधातु मे। अग्नये स्वाहा ॥१॥

(दीक्षया) व्रतों-नियमों और (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ वर्तमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र) जहां (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (अग्निः) आगे ले जानेवाला ज्ञानाग्निसम्पन्न परमेश्वर (मा नयतु) मुझे पहुंचाये, ले चले । तदर्थ (अग्निः) परमेश्वर (मे) मुझ में (मेधाः) सात्विक मेधाएं (दधातु) स्थापित और परिपुष्ट करे । (अग्नये) अग्नि-स्वरूप परमेश्वर के लिये (स्वाहा) मैं सर्वस्व समर्पण करता हूं ।

[अग्निः="**अग्रणीर्भवति**" (निरु० ७।४।१४), तथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्यद् वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**" (यजु० ३२।१) ।]

३१३. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे । वायवे स्वाहा ॥२।

(दीक्षया) व्रतों-नियमों और (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ वर्तमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र) जहां (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (वायुः) वायुवत् प्राणप्रदाता परमेश्वर (मा) मुझे (नयतु) पहुंचाए, ले चले । तदर्थ (वायुः) प्राणप्रदाता परमेश्वर (मे) मुझ में (प्राणान्) प्राणों को (दधातु) स्थापित और परिपुष्ट करे । (वायवे) प्राणप्रदाता परमेश्वर के लिये (स्वाहा) मैं सर्वस्व समर्पण करता हूं ।

[वायुः=परमेश्वर (मन्त्र १ की व्याख्या देखो । तथा "**वाति गच्छति जानाति वेति वायुः, पवनः परमेश्वरो वा**" (उणा० १।१) दयानन्द भाष्य । प्राणशक्ति के बिना दीक्षा और तप नहीं हो सकते । दीक्षा और तप के बिना वहां पहुंचना असम्भव है, जहां कि ब्रह्मवेत्ता लोग, मोक्ष पा कर, जाते और विचरते हैं ।]

३१४. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥३॥

(दीक्षया) व्रतों-नियमों और (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ वर्तमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र) जहां (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (सूर्यः) सूर्यवत् स्वतःप्रकाशमान परमेश्वर (मा) मुझे (नयतु) पहुंचाए ले चले । तदर्थ (सूर्यः) सूर्यवत् स्वतःप्रकाशमान परमेश्वर (मे) मुझ में

(चक्षुः) दिव्य चक्षु अर्थात् दिव्यदृष्टि (दधातु) स्थापित और परिपुष्ट करे। (सूर्याय) उस सूर्यों के सूर्य परमेश्वर के लिये (स्वाहा) मैं सर्वस्व समर्पण करता हूं।

[सूर्यः=मन्त्रसंख्या १ की व्याख्या में आदित्य पद द्वारा सूर्यनामक परमेश्वर कहा है। चक्षुः=दिव्यचक्षु, दिव्यदृष्टि या प्रातिभ आदर्श-दृष्टि। यथा—"ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते" (योग ३।३६)। दिव्यचक्षुः=नेत्रेन्द्रिय की व्यवहित तथा सूक्ष्म पदार्थों को देखने की योग्यता। महाभारत युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य-चक्षु दी थी। यथा—"दिव्यं ददामि ते चक्षुः" (गीता० ११।८)।]

३१५. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे। चन्द्राय स्वाहा ॥४॥

(दीक्षया) व्रतों नियमों और (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ वर्तमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र) जहां (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (चन्द्रः) आह्लादकारी परमेश्वर (मा) मुझे (नयतु) पहुंचाये, ले चले। (चन्द्रः) आह्लादकारी परमेश्वर (मे) मुझ में (मनः) आह्लादसम्पन्न मन (दधातु) स्थापित करे, और परिपुष्ट करे। (चन्द्राय) आह्लादकारी परमेश्वर के प्रति (स्वाहा) मैं सर्वस्व समर्पण करता हूं। [चन्द्रः=चदि आह्लादने दीप्तौ च। मन्त्रसंख्या १ की व्याख्या में परमेश्वर को "चन्द्रमा" कहा है। आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि (योग १।१७) में चित्तवृत्ति आनन्दमयी या आह्लादमयी हो जाती है। यह परमेश्वरीय कृपा और योगाभ्यास का फल है।]

३१६. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे। सोमाय स्वाहा ॥५॥

(दीक्षया) व्रतों नियमों और (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ वर्तमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र) जहां (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (सोमः) जगदुत्पादक परमेश्वर (मा) मुझे (नयतु) पहुंचाए, ले चले। (सोमः) जगदुत्पादक परमेश्वर (मे) मुझ में (पयः) सारिष्ठ वीर्यतत्त्व

(दधातु) स्थापित करे, और परिपुष्ट करे। (सोमाय) जगदुत्पादक परमेश्वर के प्रति (स्वाहा) मैं सर्वस्व समर्पित करता हूं। [सोमः=षु प्रसवे। प्रसव उत्पत्तिः। पयः=शरीर में सारिष्ठ तत्त्व वीर्य। योग में वीर्य साधन है। यथा—"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (योग १। २०)। पयः=semen virile (आपटे), अर्थात् वीर्य।]

३१७. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे। इन्द्राय स्वाहा ॥६॥

(दीक्षया) व्रतों नियमों और (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ वर्तमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र) जहां (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (इन्द्रः) बलशाली परमेश्वर (मा) मुझे (नयतु) पहुंचाये, ले चले। (इन्द्रः) बलशाली परमेश्वर (मे) मुझ में (बलम्) बल (दधातु) स्थापित और परिपुष्ट करे। (इन्द्राय) बलशाली परमेश्वर के लिये (स्वाहा) मैं सर्वस्व समर्पित करता हूं। [इन्द्रः=परमेश्वर। यथा—"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" (ऋ० १। १६४। ४६); निरु० १३। २। १४। बलम्="या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्" (निरु० ७। ३। १०)। बलम्=शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक।]

३१८. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु। अद्भ्यः स्वाहा ॥७॥

(दीक्षया) व्रतों नियमों और (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ वर्तमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र) जहां (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (आपः) सर्वव्यापक और जलवत् शान्तिदायक परमेश्वर (मा) मुझे (नयन्तु) पहुंचाए, ले चले। और (मा) मुझे (अमृतम्) मोक्ष (उप तिष्ठतु) प्राप्त हो। (अद्भ्यः) सर्वव्यापक तथा जलवत् शान्तिदायक परमेश्वर के लिये (स्वाहा) मैं सर्वस्व समर्पित करता हूं। [आपः=आप्लृ व्याप्तौ, अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर। तथा आपः=जल, अर्थात् जलवत् शान्तिदायक परमेश्वर। मन्त्रसंख्या १ की व्याख्या में "आपः" शब्द परमेश्वरार्थक प्रदर्शित किया है।]

३१९. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा ॥८॥

(दीक्षया) व्रतों नियमों और (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ विद्यमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र) जहां (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान् (मा) मुझे (नयतु) पहुंचाए, ले चले। (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान् (मे) मुझ में (ब्रह्म) वेदविद्या और ब्रह्मसाक्षात्कार (दधातु) स्थापित करे, और परिपुष्ट करे। (ब्रह्मणे) ब्रह्मा के लिये (स्वाहा) मैं श्रद्धा-भक्ति भेंट करता हूं।

[ब्रह्मा="ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्" (ऋ० १०।७१।११)। अर्थात् ब्रह्मा यज्ञों में कर्मों के सम्बन्ध में ज्ञानोपदेश करता है। यदि "ब्रह्मा" पद को" "ब्रह्म+आ" में विभक्त किया जाय, तो 'ब्रह्म' का अर्थ होगा सब से बड़ा परमेश्वर। "आ" का सम्बन्ध 'नयतु' के साथ होकर "आ नयतु" का अर्थ होगा "ले आए"। द्वितीय "आ" का सम्बन्ध होगा 'दधातु' के साथ, अर्थात् "आ दधातु" आधान करे। अर्थात् ब्रह्म ही निज कृपा द्वारा मुझे ले आए वहां, जहां कि ब्रह्मवेत्ता लोग जाते है, और ब्रह्म ही मुझ में निज ब्रह्मस्वरूप का आधान करे। इस प्रकार मन्त्रसंख्या १ की व्याख्या में दिये प्रमाण में ब्रह्म नामक परमेश्वर का वर्णन इस मन्त्र में उत्पन्न हो जाता है।]

सूक्त ४४

१-१० भृगुः। १-७ आञ्जनम्; ८-९ वरुणः।

३२०. आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे ।
तदाञ्जन त्वं शन्ताते शमापो अभयं कृतम् ॥१॥

हे ब्रह्म ! आप (आयुषः) आयु के (प्रतरणम्) बढ़ानेवाले (असि) हैं। (विप्रम्) मेधावी हैं, (भेषजम्) सर्वरोगों की चिकित्सा करनेवाले महौषध रूप (उच्यसे) कहे जाते हैं। (तत्) अतः (शन्ताते) शान्तिविस्तारक, (आञ्जन) तथा जगत् को व्यक्त करनेवाले हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप और (आपः) हे मेरे प्राणो ! तुम दोनों, (शम्) मेरे उपस्थित रोगों की शान्ति, तथा मुझे (अभयम्) भावी रोगों से निर्भय (कृतम्) कीजिये।

[आञ्जन=आञ्जन का अर्थ यहां है—अभिव्यक्त करनेवाला, तथा कान्ति पैदा करनेवाला। अञ्ज्=व्यक्ति, कान्ति। परमेश्वर आञ्जन है, क्योंकि वह जगत् को व्यक्त करता, और उसे कान्तिसम्पन्न करता है। इसी प्रकार सुरमा (Antimony) भी आञ्जन है, क्योंकि वह आंखों में अभिव्यक्ति तथा कान्ति पैदा करता है। इस लिए आञ्जन को "**अक्ष्यम्**" (अथर्व०४।९।१) कहा है। अक्ष्यम् का अर्थ है—"आंखों के लिये हितकर"। आञ्जन अर्थात् सुरमा शरीर के अन्य रोगों को भी दूर करके, शरीर के स्वास्थ्य को अभिव्यक्त करके, शरीर में कान्ति पैदा करता है। इसलिये इस सूक्त में परमेश्वर और सुरमा, इन दोनों का वर्णन हुआ है। विप्रम्=विप्रः मेधावीनाम (निघं० ३।१५)। भेषजम्=परमेश्वर। यथा "**भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥** (यजु० ३।५९)। इस मन्त्र के अर्थ में महर्षि दयानन्द ने भेषज पद द्वारा परमेश्वर को 'भेषज' कहा है, अर्थात् रोगनिवारक कहा है। आपः=प्राणाः। यथा—"**आपः आपनानि षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी**" (निरु०१२।४।३७)। **तथा**—आञ्जन अर्थात् सुरमा आयु को बढ़ाता; विप्रम्=अर्थात् शरीर की क्षति को पूर्ण करता (वि+प्रा पूरणे); प्राप्त रोगों का शमन तथा अनागत रोगों के आक्रमण को न होने देने के कारण निर्भय बनाता है।]

३२१. यो ह॑रि॒मा जा॒यान्यो॑ऽङ्गभे॒दो वि॒सल्प॑कः।
सर्वं॑ ते॒ यक्ष्म॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हिर्नि॒र्हन्त्वाञ्ज॑नम् ॥२॥

(यः) जो (हरिमा) विषयों द्वारा इन्द्रियों का अपहरण है, (जायान्यः) जो जाया को जीवन का साधन समझना है, (अङ्गभेदः) जो अनुष्ठित योगाङ्गों में त्रुटि आ गई है, (विसल्पकः) जो चित्त का विविध विषयों में सर्पण करना है, इन (सर्वम्) सब (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग के समान त्रुटियों को (ते अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों अर्थात् शरीरावयवों=इन्द्रियों तथा मन से (आञ्जनम्) परमेश्वर (बहिः निर्हन्तु) बाहिर निकाल फैंके। जायान्यः =जाया+अन्यः। अन्यः=अनिति जीवयतीति (उणा० ४।११०) बाहुलकात्।

तथा—सुरमापक्ष में हरिमा अर्थात् पीलिया रोग; जायान्य अर्थात् जाया के सम्पर्क से उत्पन्न रोग; अङ्गभेद अर्थात् ज्वर या वातरोग के

कारण अङ्गों का टूटना, विसल्पक अर्थात् विस्तारी अन्य रोग, तथा यक्ष्म-रोग को आञ्जन अर्थात् सुरमा अलग करता है। जायान्यः="यज्जायाभ्योऽविन्दत्"(तै०सं०२।३।५)। सायण इस की व्याख्या करता है—"स च जायासम्बन्धेन प्राप्नोति। निरन्तरजायासम्भोगेन जायमानः।" जायान्यः=जायाजन्यः।]

३२२. आञ्जनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम्।
कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम् ॥३॥

(आञ्जनम्) जगत् को अभिव्यक्त करनेवाला ब्रह्म, (पृथिव्याम्) पृथिवी में [निज कार्यों द्वारा] (जातम्) प्रसिद्ध है, (भद्रम्) वह सुखदाता तथा कल्याणकारी है, (पुरुषजीवनम्) शरीरपुरी में वसनेवालों का जीवन-दाता है। वह (अप्रमायुकम्) हमें मृत्युरहित अर्थात् जन्ममरण की परम्परा से रहित (कृणोतु) करे। (रथजूतिम्) हमारे शरीर-रथों में वेग दे, और हमें (अनागसम्) पापों से रहित करे।

तथा—पृथिवी में पैदा सुरमा सुख देता, मानुषजीवन को बढ़ाता, शीघ्र मृत्यु से बचाता, शरीर को सक्रिय करता,और रोगों का विनाशक है। [पुरुषजीवनम्, पुरुषः=पुरि वसतीति।]

३२३. प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड।
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥४॥

(प्राण) हे प्राणस्वरूप ! (प्राणं नः) हमारे प्राणों का (त्रायस्व) त्राण कीजिये। (असो) हे प्रज्ञानमय ! (मृड) हमें सुखी कीजिये, ताकि हम (असवे) प्रज्ञान प्राप्त कर सकें। (निर्ऋते) हे कष्टों से छुड़ानेवाले ! (नः) हम सुकर्मियों को (निर्ऋत्याः) कष्टों के (पाशेभ्यः) फंदों से (मुञ्च) मुक्त कीजिये। [असुः=प्रज्ञानाम(निघं०३।९)। निर्ऋतिः=निर्+ऋतिः (कृच्छ्रापत्तिः)।]

३२४. सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम्।
वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥५॥

हे परमेश्वर ! आप (सिन्धोः) नदियों और समुद्रों के (गर्भः) जन्म-दाता (असि) हैं, (विद्युताम्) विद्योतमान बिजुलियों और सूर्य-नक्षत्र-तारा-

गणों को (पुष्पम्) विकसित करते हैं। (वातः) आप की वायु (प्राणः) हमें प्राण प्रदान करती है, (सूर्यः) सूर्य (चक्षुः) चक्षु अर्थात् दृष्टिशक्ति प्रदान करता, तथा (दिवः) द्युलोक (पयः) जल प्रदान करता है। [पुष्पम् =पुष्प विकसने। दिवम्=Heaven (आपटे)।]

३२८. देवा॑ञ्जन॒ त्रैक॑कुदं॒ परि॑ मा पाहि वि॒श्वतः॑ ।
न त्वा॑ तर॒न्त्योष॑धयो॒ बाह्याः॒ पर्व॒तीया॑ उ॒त ॥६॥

(देवाञ्जन) जगत् को अभिव्यक्त करनेवाले हे देव ! (त्रैककुदम्) तीन श्रेष्ठ लोकों, अर्थात् भूलोक अन्तरिक्षलोक और द्युलोक की (पाहि) आप रक्षा करते हैं। (मा) मेरी भी (विश्वतः) सब ओर से, और (परि) सब प्रकार से (पाहि) आप रक्षा कीजिये। (बाह्याः) बाहिर की (उत) तथा (पर्वतीयाः) पर्वतोत्पन्न (ओषधयः) ओषधियां (त्वा) आप से (तरन्ति न) बढ़ कर नहीं हैं। [बाह्याः=पर्वतों से बाहिर की, अर्थात् समतल भूमि और जलों में उत्पन्न। ककुदम्=सर्वश्रेष्ठ या सर्वोच्च।]

३२९. वी॒३दं मध्य॒मवा॑सृपद् र॒क्षोहामी॑व॒चात॑नः ।
अमी॑वाः॒ सर्वा॑श्चा॒तय॑न् ना॒शय॑द॒भि॒भा इ॒तः ॥७॥

(इदम्) यह परमेश्वररूप भेषज (मध्यम्) हृदयमध्य में जब (वि अवासृपद्) हृदय के विशिष्ट-स्थान में निजप्रकाशरूप में फैल जाता है, तब परमेश्वर (रक्षोहा) राक्षसी भावों का हनन करता, और (अमीवचातनः) रोगोत्पादक दुष्परिणामी अमीवानामक क्रिमियों को दूर करता है। (इतः) यहां से (सर्वाः) सब (अमीवाः) अमीवा-क्रिमियों को (चातयन्) दूर करता हुआ, और (अभिभाः) आक्रमणकारी अन्य रोगक्रिमियों का (नाशयत्) नाश करता हुआ परमेश्वर निज प्रकाशरूप में फैल जाता है।

[परमेश्वर भेषज है (मन्त्र १, तथा ६)। तथा परमेश्वर को "सुभिषक्तमः" अर्थात् सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक भी कहा है। यथा—"**यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः। स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः**" (अथर्व० २।९।५)। तथा—"हे जगदीश्वर ! आप (भेषजम्) शरीर अन्तःकरण इन्द्रिय और गाय आदि पशुओं के रोग नाश करनेवाले (असि) हैं" (यजु० ३।५९) दयानन्दभाष्य। मध्यम्=हृदय के भीतर परम व्योमात्मक ब्रह्मनाद है, जो कि तुरीय स्थान अर्थात् तुरीय-ब्रह्म के

प्रकाश का स्थान है" (योग० १।३६) पर वाचस्पति टीका । अमीवाः= दुर्णामा क्रिमि, अर्थात् दुष्परिणामों को पैदा करनेवाला क्रिमि । यथा— "यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये। अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्याद-मनीनशत्" (ऋ० १०।१६२।२) । "दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा" (निरु० ६।३।१२) । मन्त्र ऋ० १०।१६२।२ में अमीवा क्रिमि को योनि का क्रिमि कहा है।और इसके नाश के दो साधन कहे हैं,अग्नि (अग्निहोत्र ?) तथा ब्रह्म(परमेश्वर)। आञ्जन-भेषज(सुरमा)के सम्बन्ध में मन्त्रार्थ स्पष्ट है। इस संबध में"मध्यम्"का अर्थ है शरीर का मध्यभाग,अर्थात् उदर और छाती में जब यह भेषज "वि असृपत्" विशेषतया फैल जाता है,तब यह रोगों का विनाश करता हैं । सब रोगों का उद्गमस्थान शरीर का मध्य स्थान ही है । पेट हृदय और फेफड़ों के स्वस्थ रहते रोग आक्रमण नहीं करते ।]

३२७. बह्वी३दं राजन् वरुणानृतमाह पूरुषः ।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥८॥

(राजन्) हे ब्रह्माण्ड के राजा, (वरुण) पापनिवारक वरणीय परमेश्वर ! (पुरुषः) शरीरपुरी में बसनेवाला जीवात्मा (इदं बहु अनृतम्) इस प्रकार के बहुत से असत्य (आह) कथन करता है । (सहस्रवीर्य) हे हजारों सामर्थ्योंवाले परमेश्वर ! (तस्मात् अंहसः) उस अनृतकथनरूपी पाप से आप (नः) हमें (परि मुञ्च) सर्वथा छुड़ाइये ।

[मन्त्र में प्रार्थी पापों को छुड़ाने की सहायता परमेश्वर से चाहता है । पूरुषः=पुर्+वस् (सम्प्रसारण द्वारा) उस्=उष् ।]

३२८. यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥९॥

(वरुण) हे पापनिवारक वरणीय परमेश्वर ! (यद्) जो (आपः इति) प्राणों की, और (यद् अघ्न्या इति) जो गौओं की (ऊचिम्) हम सौगन्द खाते हैं, (तस्मात्) उस (अंहसः) अनृतवचनरूप सौगन्द से, (सहस्रवीर्य) हे हजारों सामर्थ्यों वाले परमेश्वर ! (नः) हमें (परि मुञ्च) सर्वथा छुड़ाइये ।

[लोग झूठी सौगन्दें खाते हैं । यथा—"**अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि**" (ऋ० ७।१०४।१५) । अर्थात् "मैं आज ही मर जाऊं, यदि मैं

यातना देनेवाला हूं" । यह सौगन्द प्राण-सम्बन्धी अर्थात् जीवन सम्बन्धी है । आपः=प्राणाः (मन्त्र १) । इसी प्रकार लोग "गोमाता" की भी सौगन्द खाते हैं । यथा—"मुझे दूध-पूत की सौगन्द है, यदि मैंने अमुक काम किया हो" । मन्त्र ८ के अनुसार सौगन्द खाना अनृतकथन है, क्योंकि सौगन्दें सत्य नहीं होतीं । ऐसे अनृतकथनों से बचे रहने के लिये शक्तिमान् परमेश्वर से सहायता की प्रार्थना की गई है ।]

३२९. मि॒त्रश्च॑ त्वा॒ वरु॑णश्चा॒नु प्रेय॑तुराञ्जन ।
तौ त्वा॑नु॒गत्य॑ दू॒रं भो॒गाय॒ पुन॒रोह॑तुः ॥१०॥

(आञ्जन) हे संसार को अभिव्यक्त तथा कान्तिमान् करनेवाले परमेश्वर ! (मित्रः च) सर्वभूत मैत्रीसम्पन्न व्यक्ति, (वरुणः च) और निज दुष्कर्मों का निवारण करनेवाला व्यक्ति—ये दोनों (त्वा) आप के (अनु) अनुकूल (प्रेयतुः) प्रयाण करते हैं, अपना आचार-व्यवहार रखते हैं । (तौ) वे दोनों (दूरम्) दूर तक (त्वा) आप के (अनुगत्य) अनुकूल चल कर [और आगे चलने में असमर्थ हो जाते हैं, इसलिये पुनर्जन्म पाकर वे] (भोगाय) अवशिष्ट कर्मों के फलभोग के लिये (पुनः) फिर (ओहतुः) शरीरों का वहन करते हैं ।

[ओहतुः=आ ऊहतुः (वह प्रापणे, लिट्) । अभिप्राय यह है कि सर्वभूतमैत्री तथा अपापविद्ध होना—ये आप के सद्गुण हैं । परन्तु ये ही दो सद्गुण व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी नहीं बना सकते । मोक्ष के लिये योगाङ्गों का पूर्ण अनुष्ठान आवश्यक है । इसलिये इन पूर्वोक्त व्यक्तियों को पुनः शरीर धारण कर भोग भोगने पड़ते हैं । इस सूक्त में आञ्जन पद द्वारा मुख्यरूप में परमेश्वर का वर्णन हुआ है, और आञ्जन-औषध का गौणरूप में। अंग्रेजी में औषधरूप आञ्जन को Antimony कहते हैं । रोगों में Antimony और Antimony के समासों (compounds) का प्रयोग होता है, Antimony के समास, यथा—"Antimonium arsenieum; Antimonium chlorid, Antimonium jodatum; Antimonium sulph; Antimonium tast आदि ।]

सूक्त ४५

१-१० भृगुः । आञ्जनम् मन्त्रोक्ताश्च ।

३३०. ऋणादृणमिव सं नयन् कृत्यां कृत्याकृतो गृहम् ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥१॥

(ऋणात) ऋण लेने के पश्चात् ऋणी (इव) जैसे (ऋणम्) ऋण को, ऋणदाता के (गृहम्) घर (सं नयन्) पहुंचाता है, वैसे (आञ्जन) हे कान्तिकारक राजन् ! (कृत्याकृतः) हिंस्र सेना तैय्यार करनेवाले की (कृत्याम्) हिंस्रसेना को (गृहम्) उसी के घर अर्थात् राज्य में (सं नयन्) सम्यक् रूप से पहुंचाता हुआ तू (चक्षुर्मन्त्रस्य) गुप्तचरों द्वारा तेरे साथ गुप्त मन्त्रणा करनेवाले, (दुर्हार्द) परन्तु कपटहृदयी ऐसे परराष्ट्र के राजा की (पृष्टीः अपि) हड्डी-पसलियों को भी (शृण) तोड़-फोड़ दे ।

[आञ्जन=आ अञ्ज्(=कान्ति) । कृत्या=कृती छेदने । चक्षुः=यह पद गुप्तचरों का सूचक है । राजाओं को "चारचक्षुः" कहा गया है । यथा —"चारचक्षुर्महीपतिः" (मनु० ६।२५६); तथा—"चारैः पश्यन्ति राजानः" (कामन्दक)। ऋणात्=ऋणग्रहणानन्तरम् । अभिप्राय यह कि आक्रमण के प्रयोजन से प्रेषित सेना का विध्वंस न करते हुए, यथातथा उस सेना को उसी के राष्ट्र में वापिस चले जाने के लिये बाधित करना चाहिये, परन्तु प्रेषक कपटी परराष्ट्र के राजा को यथोचित दण्ड अवश्य देना चाहिये ।]

३३१. यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे ।
अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम् ॥२॥

(यद्) जो (अस्मासु) हम प्रजाजनों के सम्बन्ध में, (यद्) जो (गोषु) हमारे गौ आदि पशुओं के सम्बन्ध में, (च) और (यद्) जो (नः) हमारे (गृहे) राष्ट्र-गृह के सम्बन्ध में (दुष्वप्न्यम्) दुःस्वप्न परराष्ट्र-राजा ले रहा है, कुविचार कर रहा है, (तम्=तत्) उस दुःस्वप्न को वह ही (प्रति मुञ्चताम्) अपने गले पर मालारूप में धारण करे, जो (दुर्हार्दः)

कुटिल हृदयवाला कि (प्रियः) अब तुम्हारा प्रिय बनना चाहता है, वह (अनामगः) बदनाम होकर विचरे।

[अनामगः=अनाम (nameless imfamous आपटे)+गः। प्रति मुञ्चताम्=पहिने, यथा—"प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतम्"।]

३३२. अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते ॥३॥

(अपाम्) जलोत्पन्न (ऊर्जः) अन्नों के (ओजसः) ओज से (वावृधानम्) वृद्धि को प्राप्त, (जातवेदसः अग्नेः अधि) मानो जातवेदा अग्नि से (जातम्) उत्पन्न, अर्थात् अग्निसमान तेजस्वी और परोपकारी, (पर्वतीयम्) पर्वतयात्राओं में कुशल, (आञ्जनम्) कान्तिसम्पन्न, (चतुर्वीरम्) चार प्रकार की सेनाओं के वीरों वाला (यद्) जो तेरा सैनिक-बल है, वह (ते) हे राजन्! तेरे लिये (दिशः प्रदिशः) दिग्-दिगन्तरों को (इत् शिवाः) अवश्य कल्याणकारिणी (करत्) कर दे।

[ऊर्जः=ऊर्क् अन्ननाम (निघं० २।७)। अग्नेः जातम्=अग्निरूप सैनिक नर। यथा—"**तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः**" (ऋ० १०।८४।१)। जातवेदसः=क्रव्याद् अग्नि ध्वंसकारी है, और जातवेदा अग्नि यज्ञों द्वारा परोपकारी है। चतुर्वीरम्=चतुरंग सेनाओं के वीर नरोंवाला सैनिक बल। चतुरंग=हस्ती, अश्व, रथ, पदाति। आञ्जनम्=आ अञ्ज् (=कान्ति), पोशाकों द्वारा शोभायमान।]

३३३. चतुर्वीरं बध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु।
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम् ॥४॥

हे राजन्! (ते) आप की सुरक्षा के लिये (आञ्जनम्) कान्तिसम्पन्न, (चतुर्वीरम्) चार प्रकार की सेनाओं के वीरोंवाला सैनिक बल (बध्यते) आप के साथ सम्बद्ध किया जाता है, अर्थात् आप इस सैनिक बल के अधिष्ठाता हैं। (ते) आप के लिये, इस सैनिक बल द्वारा (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं (अभयाः) भयरहित (भवन्तु) हो जांय। (च) और (आर्य) हे श्रेष्ठ! (सविता इव) सूर्य के सदृश (ध्रुवः) ध्रुव होकर, स्थिर होकर (तिष्ठासि) आप राष्ट्र पर अधिष्ठातृत्व कीजिये। (इमाः) ये

(विशः) प्रजाएं (ते) आप के लिये (बलिम्) राज-कर (अभि हरन्तु) सब ओर से भेंट करती रहें।

३३४. आक्ष्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेनापिबैकमेषाम् ।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान् ॥५॥

हे राजन् ! (एषाम्) इन चार प्रकार के सैनिक बलों के (चतुर्वीरम्) चार वीरों को, अर्थात् (एकम्) एक को (आक्ष्व) परकीय सेना में घुस कर उस में व्याप्त हो जानेवाला (कृणुष्व) नियत कीजिये। (एकम्) और एक को (मणिम्) सर्वशिरोमणि रूप में नियत कोजिये। (एकेन) एक के द्वारा (स्नाहि) सैनिक शिविरों की शुद्धि और सफाई कराइये। (एकम्) तथा एक को (आ पिब) खानपान अर्थात् रसद का अधिष्ठाता नियत कीजिये। इस प्रकार (चतुर्भ्यः नैर्ऋतेभ्यः) चार दिशाओं से आनेवाले कष्टों से, तथा (ग्राह्याः) शत्रु द्वारा निगृहीत होकर (बन्धेभ्यः) शत्रु के बन्धनों वा फन्दों से (अस्मान्) हमें (परि पातु) आप पूर्णतया सुरक्षित कीजिये। [आक्ष्व=आ+अक्षू व्याप्तौ। व्याप्तिः=विशेषतया शत्रु की सेना में पहुंचना प्राप्त होना। स्नाहि=ष्णा=स्ना शौचे।]

३३५. अग्निर्माग्निनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे
स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥६॥

(अग्निः) ज्ञानाग्नि-सम्पन्न अधिकारी (अग्निना) ज्ञानाग्नि अर्थात् ज्ञान-प्रकाश द्वारा (मा) मुझ राजा की (अवतु) रक्षा करे। ताकि मैं (प्राणाय अपानाय) प्राण और अपान की स्वस्थता के लिये, (आयुषे) दीर्घायु के लिये, (वर्चसे) दीप्ति के लिये, (ओजसे) पराक्रम के लिये, (तेजसे) प्रताप के लिये, (स्वस्तये) कल्याण के लिये, तथा (सुभूतये) उत्तम विभूति के लिये (स्वाहा) अपने आप को समर्पित करूं।

[मा=इस पद द्वारा राजा निज व्यक्तित्व का निर्देश नहीं कर रहा है, अपितु प्रजाजन में आत्म-भावना द्वारा प्रजा का निर्देश कर रहा है। और प्रजाजन के प्राणापान के स्वास्थ्य आदि के लिये वह अपने व्यक्तित्व को समर्पित करने का निर्देश कर रहा है। जैसे कि कहा है—"**विशो मेऽङ्गानि सर्वतः**" (यजु० २०।८) अर्थात् राष्ट्र में सर्वत्र फैली हुई प्रजाएं मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। राष्ट्र की इस प्रकार की उन्नति के लिये राजा

ज्ञानाग्नि से प्रदीप्त व्यक्ति से, ज्ञानाग्नि द्वारा अपनी तथा अपने राष्ट्र की रक्षा चाहता है ।]

३३६. इन्द्रो॑ मेन्द्रि॒येणा॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥७॥

(इन्द्रः) वणिक्-अधिकारी (इन्द्रियेण) वाणिज्य-सम्पत्ति द्वारा (मा) मेरी रक्षा करे । ताकि मैं (प्राणाय अपानाय……)आदि पूर्ववत् ।

[इन्द्र=वणिक् । यथा—"**इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि**" (अथर्व०३।१५।१) अर्थात् मैं राजा, इन्द्र अर्थात् वणिक् को वाणिज्य-व्यापार के लिये प्रेरित करता रहता हूं । वाणिज्य द्वारा राजा राष्ट्र के प्रजाजनों की समुन्नति चाहता है । अथर्व० ३।१५ का समग्र सूक्त व्यापार सम्बन्धी है ।]

३३७. सोमो॑ मा सौ॒म्येना॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥८॥

(सोमः) चन्द्रमा के सदृश सौम्य प्रकृतिवाला अधिकारी (सौम्येन) सौम्यस्वभाव के सदुपदेशों द्वारा (मा) मेरी रक्षा करे । ताकि मैं (प्राणाय अपानाय……) आदि पूर्ववत् ।

[मन्त्र में "मा" पद द्वारा समस्त प्रजाजन अभिप्रेत हैं । प्रजाजनों को सौम्य प्रकृति का होना चाहिये, उग्र प्रकृति का नहीं । उग्र प्रकृति से पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष कलह युद्ध आदि की सम्भावना बनी रहती है । "सोम" नैतिक शिक्षा का अधिकारी है ।]

३३८. भगो॑ मा भगे॑नावतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥९॥

(भगः) समग्र ऐश्वर्यों का अधिकारी (भगेन) राष्ट्र के समग्र ऐश्वर्यों द्वारा (मा) मेरी (अवतु) रक्षा करे । ताकि मैं (प्राणाय अपानाय ……) आदि पूर्ववत् । [भगः=**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्योयश्चैव षण्णां भग इतीरणा** ।। इस प्रकार "भग" के ६ अर्थ हैं । जिनमें से मन्त्र में "समग्र ऐश्वर्य" अर्थ लिया गया है ।]

३३९. मरुतो मा गणैरवन्तु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥१०॥

(मरुतः) ऋत्विक् (गणैः) ऋत्विक्-समूहों द्वारा (मा) मेरी (अवन्तु) रक्षा करें। ताकि मैं (प्राणाय अपानाय ··) आदि पूर्ववत्।

[मरुतः=ऋत्विङ्नाम (निघं० ३।१८)। गणैः=ऋत्विक्-समूह। भिन्न-भिन्न यज्ञों में ऋत्विक्-संख्या भिन्न-भिन्न नियत है। नियत संख्या वाले ऋत्विजों को "गण" कहा है।

अथवा—मरुतः=शत्रुओं को मारने में कुशल सैनिक, "मारयीति मरुत्" (उणा० १।९४)। मरुतः अर्थात् मरुत्नामी सैनिक आक्रमण करने में महावेगी होते हैं—"मरुतः महद् द्रवन्ति वा" (निरु० ११।२।१३)। मरुतः सैनिक हैं–इसके लिये देखो (अथर्व० १९।१३।९, १०)। मन्त्र में राजा अपनी और प्रजा की रक्षा के लिये मरुद्गणों को चाहता है। मरुतः का अर्थ ऋत्विक् करने पर राजा अपनी और प्रजा की रक्षा के लिये, यज्ञानुष्ठानार्थ ऋत्विक्-गणों को चाहता है। यज्ञों द्वारा रोगों का विनाश, वायु जल ओषधि अन्नों की परिपुष्टि, तथा स्वास्थ्य और दीर्घायु होती है।]

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त ४६

१–७ प्रजापतिः। अस्तृतमणिः।

३४०. प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्यीय कम्।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥१॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं का पति राजा (वीर्याय) सशक्त होने के लिये (प्रथमम्) सर्वमुखिया, (अस्तृतम्) अपराजित, (कम्) सुखदायी (त्वा) आप महाराज को (बध्नात्) राजनैतिक सन्धि में अपने साथ बांधे। हे राजन्! (ते) तेरी (आयुषे) दीर्घ आयु के लिये, (वर्चसे) तेरी दीप्ति बनाए रखने के लिये, (च) और (ओजसे) पराक्रम के लिये, (च) और (बलाय) सैनिक बल के लिये, (तत्=तम्) उस अपराजित महाराज को

तेरे साथ (बध्नामि) मैं राजनैतिक सन्धि में बांधता हूं। (अस्तृतः) अपराजित महाराज (त्वा) तेरी (अभि रक्षतु) सब प्रकार से रक्षा करे।

[मन्त्र में तीन का वर्णन प्रतीत होता है। प्रजापति का, अस्तृत का और बांधने वाले का। प्रजापति माण्डलिक राजा प्रतीत होता है। प्रजापति के राज्य में दो शासन संस्थाएं होती है—सभा और समिति। सभा तो—लोकसभा है, और समिति है–राजसभा, अर्थात् मुख्य-मुख्य प्रभावशाली व्यक्तियों की सभा। यथा—"**सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु**"॥ (अथर्व०७।१३।१)। समिति राज्यसभा है। यथा—"**राजानः समिताविव**" (यजु: १२।८०)। अस्तृतम् = अपराजित; युद्ध में जिसकी हिंसा या जिसका पराजय नहीं हुआ। अस्तृतम् = अ + स्तृ (स्पृणाति वधकर्मा, निघं० २।१९) + क्त। यथा—'**शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन**"॥ (अथर्व० १।२०।४) में "अस्तृत" को "महान् शासः" अर्थात् महाशासक कहा है। तथा यह कहा है कि इस का सखा न तो मारा जाता है, न कभी पराजित होता है। यह अमित्रों का पराभव करता है। इस लिये ऐसे महाराजा के साथ राजनैतिक सन्धि में, माण्डलिक राजाओं का बन्धना आवश्यक हो जाता है। वर्तमान समय में भी आत्मरक्षार्थ राज्यों में पारस्परिक राजनैतिक सन्धियां होती हैं। राजनैतिक सन्धि करानेवाला तीसरा व्यक्ति है, जो कि माण्डलिक या महाशासक का राजदूत है।]

३४१. ऊ॒र्ध्वस्ति॑ष्ठतु॒ रक्ष॒न्नप्र॑मादमस्तृ॒तेमं मा त्वा॑ दभन् प॒णयो॑ यातु॒धाना॑ः। इन्द्र॑ इव॒ दस्यू॒नव॑ धूनुष्व पृतन्य॒तः सर्वां॒छत्रू॒न् वि ष॑हस्वास्तृ॒तस्त्वा॒भि र॑क्षतु ॥२॥

(अस्तृत) हे अपराजित महाशासक! [मन्त्र १ की व्याख्या] आपके साथ सन्धि-प्राप्त यह माण्डलिक राजा, (अप्रमादम्) विना प्रमाद किये, (रक्षन्) निज प्रजा की रक्षा करता हुआ (ऊर्ध्वः तिष्ठतु) अपनी उच्च स्थिति में स्थित रहे। परस्पर सन्धि हो जाने पर (इमम्) इस माण्डलिक राजा को, (च) और (त्वाम्) आप महाशासक को (पणयः) कुव्यवहारी तथा (यातुधानाः) यातना देनेवाले शत्रु (मा दभन्) दबा न सकें। हे माण्डलिक राजन्! आप (इन्द्र इव) महाशासक सम्राट् के सदृश (दस्यून्) उप-

क्षयकारी लुटेरों को, (पृतन्यतः) सेना द्वारा आक्रमण करनेवालों को, तथा (सर्वान् शत्रून्) सब शत्रुओं को (अवधूनुष्व) कम्पा दें, (वि सहस्व) और पराजित कर दें। (अस्तृतः) महाशासक सम्राट् (त्वा) आप को (अभि) सब ओर से (रक्षतु) सुरक्षित करे। [इन्द्रः="इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७), अर्थात् इन्द्र है सम्राट्, और वरुण है राजा।]

३४२. शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥३॥

हे माण्डलिक राजन्! (प्रहरन्तः) प्रहार करने वाले (शतम्) सैंकड़ों सैनिक (न तस्तिरे) आप का वध नहीं कर सकते। (च) और (निघ्नन्तः) हनन करनेवाले सैंकड़ों सैनिक (न) आपका वध नहीं कर सकते। (तस्मिन्) उस आप में (इन्द्रः) महाशासक सम्राट् ने (चक्षुः) नई दृष्टि, (प्राणम्) नई प्राणशक्ति, (अथो) और (बलम्) नया बल (पर्यदत्त) प्रदान किया है। (अस्तृत) अपराजित महाशासक सम्राट् (त्वा) आप को (अभि) सब ओर से (रक्षतु) सुरक्षित करे। [तस्तिरे=स्तृणाति वधकर्मा (निघं० २।१९), लिट् लकार।]

३४३. इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधिराजो बभूव।
पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेऽस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥४॥

(यः) जो (देवानाम्) विजिगीषु सैनिकों का (अधिराजः) अधिराट् या सम्राट् (बभूव) हुआ है, उस (इन्द्रस्य) सम्राट् के (वर्मणा) कवच द्वारा (त्वा) हे राजन्! आप को (परि धापयामः) हम ढकते हैं। (पुनः) तदनन्तर (सर्वे) सब (देवाः) विजिगीषु सैनिक (त्वा) आप के साथ (प्रणयन्तु) प्रणयसूत्र में बन्ध जांय, या आपको उन्नति के पथ पर ले चलें। (अस्तृतः) अपराजित महाशासक सम्राट् (त्वा) आप को (अभि) सब ओर से (रक्षतु) सुरक्षित करे। [इन्द्रस्य वर्मणा=इन्द्ररूपी कवच द्वारा, या इन्द्र द्वारा दिये शस्त्रास्त्रों द्वारा। देवाः=दिवु विजिगीषा।]

३४४. अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते।
व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान् यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥५॥

(अस्मिन् मणौ) इस शिरोमणि (अस्तृते) अपराजित महाशासक सम्राट् में (एकशतम्) एकसौ या एकसौ एक (वीर्याणि) सामर्थ्य हैं, (अस्मिन्) इस के अधिकार में (सहस्रम्) हजारों प्रकार की (प्राणाः) जीवनीय सामग्रियां हैं। हे माण्डलिक राजन्! आप (व्याघ्रः) व्याघ्र सदृश (सर्वान्) सब (शत्रून्) शत्रुओं पर (अभितिष्ठ) धावा कीजिये। (यः) जो शत्रु (पृतन्यात्) सेनाओं द्वारा आप का मुकाबिला करना चाहे, (सः) वह (अधरः अस्तु) नीच गति को प्राप्त हो। (अस्तृतः) अपराजित महाशासक सम्राट् (त्वा) आप को (अभि) सब ओर से (रक्षतु) सुरक्षित करे।

[प्राणः="कोशः कोशवतः प्राणाः, प्राणाः प्राणा न भूपतेः", (हितोपदेश २।६२), अर्थात् भूपति के लिये कोश आदि प्राणभूत हैं, श्वास-प्रश्वास प्राण नहीं। तथा—"अन्नं वै प्राणिनां प्राणः", अर्थात् प्राणियों के लिये प्राण हैं—अन्न। "एकशतम् तथा सहस्रम्" बहुसंख्या के सूचक हैं।]

३४५. घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान्त्सहस्रप्राणः शतयोनिर्वयोधाः ।
शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च पयस्वांश्चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥६॥

(घृतात्) घृत से (उल्लुप्तः) लुप्त न होनेवाली अपितु चमकनेवाली अग्नि के सदृश तेजस्वी, (मधुमान्) खान-पान योग्य मधुर अन्नों वाला, (पयस्वान्) दुग्ध तथा तज्जन्य पदार्थों से सम्पन्न, (सहस्रप्राणः) हजारों प्रकार की जीवनीय सामग्रियों वाला, (शतयोनिः) सैंकड़ों प्रकार के गृहों वाला, (वयोधा) अन्नों की सम्पुष्टि से सम्पन्न, (च) और (शंभूः) प्रजाजनों के लिये शान्तिप्रद, (च) और (मयोभूः) सुखप्रद, (च) और (ऊर्जस्वान्) अन्नरसों वाला, (च) और (पयस्वान्) कृषि आदि के लिये जल से सम्पन्न (अस्तृतः) अपराजित महाशासक सम्राट् (त्वा) आप को (अभि) सब ओर से (रक्षतु) सुरक्षित करे।

[उल्लुप्तः="लुप्तात् लोपात् उत्क्रान्तः" (१६।३३।२)। योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)। वयः=अन्ननाम (निघं० २।७)। मयः=सुखनाम (निघं० ३।६)। ऊर्जः=ऊर्क्=रसः=sap (आपटे)। वयोधाः=अथवा वयोवृद्ध, अनुभवी।]

३४६. यथा त्वमुत्तरोऽसो असपत्नः सपत्नहा ।
सजातानामसद्वशी तथा त्वा सविता करदस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥७॥

हे माण्डलिक राजन् ! (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) आप (उत्तरः) अधिक शक्तिसम्पन्न (असः) हो जायें, (असपत्नः) शत्रुरहित, (सपत्नहा) शत्रुविनाशक, और (सजातानाम्) समानपदवालों या सजातियों को (वशी) वश में करनेवाले (असद्) हो जायें, (तथा) उस प्रकार का (त्वा) आप को (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर (करत्) करे। (अस्तृतः) और अपराजित महाशासक सम्राट् (त्वा) आप को (अभि) सब ओर से (रक्षतु)सुरक्षित करे ।

सूक्त ४७

१-९ गोपथः । रात्रिः ।

३४७. आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः ।
दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥१॥

(रात्रि) हे रात्रि ! (पितुः) पितृभूत या पालक पर्जन्य के (धामभिः) स्थानों समेत, तू ने (पार्थिवं रजः) पृथिवीलोक को (अप्रायि)निज स्थिति से भर दिया है। (बृहती) बहुत फैलकर तू (दिवः) द्युलोक के (सदांसि) स्थानों में भी (वि तिष्ठसे) विविध खण्डों में स्थित होती हैं, जब कि (त्वेषं तमः) चमकता अन्धकार (आ वर्तते) रात्रि में आ जाता है ।

[वैदिक वर्णन परमेश्वर कवि के काव्यरूप हैं। इसीलिये परमेश्वर को कवि (यजु० ४०।८), और वेद को काव्य (अथर्व० १०।८।३२) कहा है। कविता की दृष्टि से रात्री का सम्बोधन हुआ है । समग्र सूक्त का वर्णन कवि सम्मत शैली का है। पितुः=अथर्ववेद में पर्जन्य को पिता कहा है । यथा—"माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु" (१२।१।१२) । पितृभूत पर्जन्य के स्थान हैं, अन्तरिक्ष लोक । दिवः =रात्री में द्युलोक में नक्षत्र और तारागण चमकते हैं, और इनके मध्यान्तरालों में नील-नभ के खण्ड दृष्टिगोचर होते हैं । इन्हें "त्वेषंतमः" कहा है ।]

३४८. न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद् विश्वमस्यां नि विशते यदेजति । अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥२॥

(यस्याः) जिस रात्री का (पारम्) पार (ददृशे न) दिखाई नहीं देता, और जो (न योयुवत्) न समाप्त होती है, (अस्याम्) इस रात्री में (विश्वम्) वह सब (नि विशते) विश्राम पा जाता है (यद्) जो कि (एजति) चेष्टा वाला है। (उर्वि) हे आच्छादन करनेवाली! (तमस्वति रात्रि) हे तमोमयी रात्रि! (अरिष्टासः) अहिंसित हुए हम (ते) तेरे (पारम्) पार को (अशीमहि) प्राप्त हों, (भद्रे) हे कल्याणि! (पारम्) तेरे पार को (अशीमहि) हम प्राप्त करें।

३४९. ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव ।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥३॥

३५०. षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि ।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥ ४ ॥

३५१. द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः ।
तेभिर्नो अद्य पायुभिर्नु पाहि दुहितर्दिवः ॥५॥

(रात्रि) हे रात्रि! (नृचक्षसः) मनुष्यों पर दृष्टि रखनेवाले (ये) जो (ते) तेरे (नवतिः नव) ९९ (द्रष्टारः) द्रष्टा हैं, (अशीतिः अष्टौ) ८८ (सन्ति) द्रष्टा हैं, (उत उ) और (ते) तेरे (सप्त सप्ततिः) ७७ द्रष्टा हैं॥

(रेवति) हे सम्पत्-शालिनि रात्रि! (षष्टिः च षट् च) और जो ६६ द्रष्टा हैं; (सुम्नयि) हे दूसरों को सुख चाहनेवाली! (पञ्चाशत् पञ्च च) तथा जो ५५ द्रष्टा हैं; (चत्वारः चत्वारिंशत् च) और जो ४४ द्रष्टा हैं; (वाजिनि) हे बलवाली! (त्रयः त्रिंशत् च) और जो ३३ द्रष्टा हैं ॥

(द्वौ च ते विंशतिः च) और जो तेरे २२ द्रष्टा हैं, (रात्रि) हे रात्रि! (ते) जो तेरे (एकादश अवमाः) कम से कम ११ द्रष्टा हैं,

(तेभिः) उन (पायुभिः) रक्षकों द्वारा (अद्य) आज अर्थात् प्रतिदिन (नः) हमारी (पाहि) तू रक्षा कर, (दिवः दुहितः) हे द्युलोक की पुत्रि ! (नु) अवश्य (पाहि) रक्षा कर।

[रात्री का सम्बोधन कवितारूप में है। रात्री में द्युलोक में चमकते तारागण रात्री की सम्पत्ति हैं। इसलिये रात्री को "रेवती" कहा है। इन का रात्री के साथ अटूट सम्बन्ध है। रात्री में शयन द्वारा प्राणी सुख पाते हैं, इसलिये रात्री "सुम्नयी है" सुम्नम् सुखनाम (निघं० ३।६)+क्यच् (परेच्छायाम्)। रात्री में शयन से प्राणियों में पुनः बलसंचार हो जाता है इसलिये रात्री "वाजिनी" है। वाजः बलनाम (निघं० २।९)। रात्री के द्युलोक के साथ रात्री का अटूट सम्बन्ध है, इसलिये रात्री को "दिवः दुहिता" कहा है।

९९ आदि संख्याओं द्वारा द्युलोक के विविध नक्षत्रमण्डलों का निर्देश प्रतीत होता है, जो कि निज तारारूपी नेत्रों द्वारा प्रसुप्त नर-नारियों की मानो निगरानी कर रहे होते हैं।

अथवा—एकादश, अवमाः—रात्री में सोने पर प्राणमयकोश के १० प्राण सक्रिय रहते हैं, और जीवात्मा स्वसत्ता द्वारा प्राणमयकोश में अनुस्यूत रहता है। १० प्राण हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर (कृकल), देवदत्त, धनञ्जय। प्राण के कर्म हैं श्वासोच्छ्वास आदि, अपान के कर्म हैं मलमूत्रत्याग आदि, उदरस्थ समान के कर्म हैं परिपक्व अन्नरस को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुंचाना, कण्ठस्थ उदान द्वारा शरीर उठा रहता और मृत्युकाल में सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर से बाहर निकलता हैं, व्यान सर्वशरीर व्यापी है और रुधिर का संचार करता है, नाग डकार और छींक आदि का कारण है, कूर्म द्वारा निमीलन और संकोचन आदि होते हैं, कृकर द्वारा क्षुधा तथा तृषा, देवदत्त द्वारा निद्रा तथा धनञ्जय शरीर का पोषण होता है।

ये १० प्राण अन्नमयकोश अर्थात् स्थूलशरीर में संचरित होकर, निज १० शक्तियां प्रदान करते हैं, और जीवात्मा स्थूलशरीर में संचरित होकर, निज १० शक्तियां प्रदान करते हैं, और जीवात्मा स्थूलशरीर में भी अनुस्यूत रहता है। स्थूलशरीर में १० प्राणों की १० शक्तियां और जीवात्मशक्ति—"एकादश अवमाः" हैं।

अथर्ववेद के अनुसार मनुष्य में ९ कोश हैं। यथा—"**तस्येमे नवकोशा**

विष्टम्भा नवधा हिताः"(१३।¼।१०)। सत्कार्यवाद के अनुसार मूल उपादान कारण से जो भी कार्य, क्रमशः उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होते रहते हैं उन की सत्ता अभिव्यक्तावस्था से पूर्व भी अनभिव्यक्तरूप में निज मूलकारण में प्रथमतः विद्यमान रहती है। उपरिलिखित नवकोशों में जीवात्मसत्ता तो सर्वत्र अनुस्यूत है। इस प्रकार अन्नमयकोशरूपी स्थूल शरीर की ११ शक्तियां प्राणमय कोश में भी लीन रहती हैं। प्राणमयकोश की निज ११ शक्तियां और प्राणमयकोश में लीन अन्नमयकोश की ११ शक्तियां मिलाकर २२ शक्तियों का पुञ्ज प्राणमयकोश है। इस प्रकार ९ कोशों में से मूल-कोश अर्थात् "बुद्धिरूप सत्त्वमयकोश" में ९९ शक्तियां (११×९) उसके कार्यरूप द्वितीयकोश में ८८ शक्तियां, तीसरे कोश में ७७ शक्तियां, चौथे कोश में ६६ शक्तियां, पांचवें कोश में ५५ शक्तियां, चौथे कोश में ४४ शक्तियां, तीसरे कोश में ३३ शक्तियां, दूसरे कोश में २२ शक्तियां, और अन्तिम कोश अर्थात् अन्नमयकोश शरीर में 'एकादश अवमाः" कम से कम ११ शक्तियां निहित हैं। इसप्रकार ९ कोशों की अपनी-अपनी जागरित तथा प्रसुप्त शक्तियों द्वारा, रात्री में प्रसुप्त प्राणिवर्ग की सुरक्षा होती रहती है। यहां अन्नमय कोश को प्रथम कोश मानकर, इससे पूर्व के कारणरूप कोशों समेत, संख्या ९ जाननी चाहिये।

सत्कार्यवाद के सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् में एक सन्दर्भ निम्न-लिखितरूप में आर्यभाषा में दिया जाता है। यथा—"उद्दालक आरुणि ने श्वेतकेतु को कहा कि न्यग्रोधफल अर्थात् गूलर का फल ला ?। भगवन् ! यह ले आया। इसे तोड़ ?। भगवन् ! तोड़ दिया। इसमें तू क्या देखता है ?। भगवन् ! अणुरूप ये दानें देखता हूं। इन दानों में से एक दाना तोड़ ?। भगवन् ! तोड़ दिया। इसमें तू क्या देखता है ?। भगवन् ! कुछ नहीं देखता देखता ॥१॥ उसे उद्दालक आरुणि बोला हे प्रिय ! जिस सूक्ष्म तत्त्व को तू नहीं देख रहा इसी सूक्ष्म तत्त्व से इस प्रकार का यह महान्य-ग्रोध उत्पन्न हुआ स्थित है ॥२॥ (छान्दो० उप० अ० ६, खं १२, सन्दर्भ १,२)। इसी प्रकार ९कोशों में से ८कोश, मूलभूत ९वें कोश अर्थात् सत्त्व-मय बुद्धि कोश में लीन रहते, और इसी मूल कोश से क्रमशः आविर्भूत होते हैं।]

३५२. रक्षा मार्किर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंसं ईशत।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत ॥६॥

हे रात्रि ! (रक्षा=रक्ष) रक्षाकर । (अघशंसः) पापप्रशंसक अर्थात् पापी (नः) हमारा (ईशत माकिः) अधीश्वर न हो (दुःशंसः) दुर्भावनाओं वाला (नः) हमारा (ईशत मा) अधीश्वर न हो । (अद्य) आज [सोते समय] (स्तेनः) चोर (नः गवाम्) हमारी गौओं का (ईशत मा) अधीश्वर न हो, तथा (वृकः) भेड़िया या लुटेरा (अवीनाम्) भेड़ों का (ईशत मा) अधीश्वर न हो ।

[वृकः=भेड़िया । लुटेरा Robber (आपटे) ।]

३५३. माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः ।
परमेभिः पथिभि स्तेनो धावतु तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥७॥

(भद्रे) हे सुखदायिनि ! (तस्करः) लुटेरा (अश्वानाम्) अश्वों का मा) ईश्वर न हो, अर्थात् हमारे अश्वों पर प्रभुत्व न करे, तथा (यातुधान्यः) यातनादाई दुर्घटनाएं (नृणाम्) हम मनुष्यों पर (मा) प्रभुत्व न करें । (स्तेनः) चोर तथा (तस्करः) लुटेरा [हम से डर कर] (परमेभिः) दूर-दुर के (पथिभिः) मार्गों से (धावतु) भाग जाय । (दत्वती) दान्तोंवाली (रज्जुः) रस्सी अर्थात् सांप (परेण अर्षतु) दूर मार्ग द्वारा चला जाय, (अघायुः) तथा हत्या चाहनेवाला (परेण अर्षतु) दूर के मार्ग द्वारा चला जाय ।

[तस्करः=तत्करः । उस पापकर्म को करनेवाला (निरु० ३।३।१५)। अथवा उपक्षयकारी, तसु (उपक्षये)+करः । दत्वती रज्जुः (रूपकालंकार) ।]

३५४. अध रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु ।
हनू वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥८॥

(अध) तथा (रात्रि) हे रात्रि ! तू (तृष्टधूमम्) पिपासाजनक फुंकारोंवाले (अहिम्) सांप को (अशीर्षाणम्) सिर-रहित (कृणु) करदे । (वृकस्य) भेड़िये के (हनू) दो जबड़ों को (जम्भयाः) ढीले कर दे, तोड़ दे । (तेन) उससे (तम्) उस को (जहि) मार डाल, जैसे कि किसी को (द्रुपदे) काठ अर्थात् पैरों की बेड़ी डाल कर मार दिया जाता है ।

[तृष्टधूमम् =जहरीले सांप के फुंकार भी घातक होते हैं। ऐसे सांप के विष के प्रवेश द्वारा व्यक्ति की जिह्वा और मुख खुश्क हो जाते हैं जिस से प्यास लगती है। प्यास लगने पर पानी देना घातक हो जाता है। धूमम् =धूनोति कम्पयतीति धूमः (उणा० १।१४५)। जम्भयाः=जभ् गात्र विनामे।]

३५५. त्वयि रात्रि वसामसि स्वपिष्यामसि जागृहि ।
गोभ्यो नः शर्म यच्छाश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः ॥९॥

(रात्रि) हे रात्रि ! (त्वयि) तुझ में (वसामसि) हम निवास करते हैं, (स्वपिष्यामसि) तुझ में हम सोएंगे, (जागृहि) तू जागती रह। (नः) हमारी (गोभ्यः) गौओं को (अश्वेभ्यः) अश्वों को (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (शर्म) सुख और आश्रय (यच्छ) प्रदान कर। [शर्म=सुख (निघं० ३।६)। गृह (निघं० ३।४)। वैदिक वर्णन प्रायः कवितामय होते हैं। वर्तमान सूक्त का वर्णन भी कवितामय है। रात्री में चोर लुटेरे तथा हिंस्रप्राणी आक्रमण करते हैं। रात्री में शक्ति नहीं कि वह इन के आक्रमणों को रोक सके। वैदिक कवितामय वर्णनों द्वारा तो कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का निर्देश दिया जाता है। यथा रात्री के समय आक्रमणकारियों को भगा देना चाहिये, और हिंस्रप्राणियों के वध में संकोच न करना चाहिये, और इस निमित्त रात्री में सावधान रहना चाहिये।]

सूक्त ४८

१-६ गोपथः। रात्रीः।

३५६. अथो यानि च यस्मा ह यानि चान्तः परीणहि ।
तानि ते परि दद्मसि ॥१॥

(च) और (अथो) अब (यानि) जो वस्तुएं (यस्मा=यस्मानि ह) प्रयत्न साध्य हैं, (च) और (यानि) जो सिद्ध हुई वस्तुएं (परीणहि अन्तः) सब ओर से बन्धे घर के भीतर हैं, (तानि) उन वस्तुओं को (ते) तेरे प्रति (परि दद्मसि) हम सुपुर्द करते हैं [अर्थात् घर के बाहर और भीतर की वस्तुओं को]। [इस सूक्त में भी रात्री का वर्णन है। यस्मा=यस्मानि, नपुंसके। यस् प्रयत्ने, प्रयत्नसाध्यानि। यस्+मन् (उणा० १।१४०) बाहुलकात्। परीणहि=परि+नह (बन्धने)+इ (सप्तम्येकवचन।]

३५७. रात्रि मातरुषसे नः परि देहि ।
उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥२॥

(मातः) माता के सदृश सुख प्रदायिनी (रात्रि) हे रात्रि ! (उषसे) उषा के प्रति (नः) हमें (परि देहि) सुरक्षित रूप में तू सौंप। (उषाः) उषा (नः) हमें (अह्ने) दिन के प्रति (परि ददातु) सौंपे। (विभावरि) हे चमकीली रात्रि ! (अहः) दिन (तुभ्यम्) तेरे प्रति पुनः हमें सौंपे।

[विभावरि=चान्द, तारागणों के कारण चमकीली रात्री]

३५८. यत् किं चेदं पतयति यत् किं चेदं सरीसृपम् ।
यत् किं च पर्वतायासत्वं तस्मात् त्वं, रात्रि पाहि नः ॥३॥

(इदम्) यह (यत् किं च) जो कुछ (सरीसृपम्) सरकने वाला सर्प आदि है; (यत्) जो (किं च) कुछ (पर्वताय) पर्वत को प्राप्त (असत्वम्) सत्त्वगुण रहित राजस तामस स्वभाव वाले प्राणी प्राप्त हैं। (तस्मात्) उस सब से (रात्रि) हे रात्रि ! (त्वम्) तू (नः) हमें (पाहि) सुरक्षित कर।

३५९. सा पश्चात् पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत ।
गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥४॥

(सा) वह तू (पश्चात्) पश्चिम से, (सा) वह तू (पुरः) सामने से या पूर्व से, (सा) वह तू (उत्तरात्) उत्तर से, (उत) और (अधरात्) दक्षिण से (पाहि) हमें सुरक्षित कर। (विभावरि) हे चमकीली रात्रि ! (नः) हमें (गोपाय) सुरक्षित कर, (इह) यहां पर (ते) तेरे (स्तोतारः) स्तावक अर्थात् प्रशंसक (स्मसि) हैं। अथवा तेरी सुरक्षा में इस जीवन में हम परमेश्वर के स्तवन कीर्तन करनेवाले हों। [विभावरि ! =वि+भा +क्वनिप्+ र्+ङीप् (वनो र च, अष्टा० ४।१।७), अर्थात् दीप्तिवाली। रात्रि में चान्द और तारागण द्वारा चमकीली।]

३६०. ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥५॥

(ये) जो लोग (रात्रिम्) रात्री में (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं योग का अभ्यास करते हैं, (च) और (ये) जो (भूतेषु) प्राणियों की उन्नति के सम्बन्ध में (जाग्रति) जागरूक अर्थात् सावधान रहते हैं, (ये) तथा जो (सर्वान् पशून्) सब पशुओं की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (ते) वे ही (नः) हमारी (आत्मसु) आत्माओं की उन्नति के सम्बन्ध में (जाग्रति) जागरूक अर्थात् सावधान रहते हैं, और (ते) वे (नः) हमारे (पशुषु) पशुओं की उन्नति के सम्बन्ध में (जाग्रति) जागरूक रहते हैं, सदा प्रयत्नशील होते हैं।

[रात्री के प्रकरण में रात्री के शान्त वायुमण्डल में, योगानुष्ठान का वर्णन है। योगिजन सब प्राणियों की सदा उन्नति में लगे रहते हैं। वे पशुओं तक की रक्षा करते और हिंसा से सदा परे रहते हैं, तथा सब लोगों की आत्मिक-उन्नति के लिये यत्नवान् रहते हैं।]

३६१. वेद॒ वै रा॑त्रि ते॒ नाम॑ घृ॒ताची॒ नाम॒ वा अ॑सि ।
तां त्वां भ॒रद्वा॑जो वेद॒ सा नो॑ वि॒त्तेऽधि॑ जाग्रति ॥६॥

(रात्रि) हे रात्रि! (वै) निश्चय से (ते) तेरा (नाम) नाम (वेद) मैं जानता हूं (वै) निश्चय से (घृताची) ज्ञान प्रकाश देनेवाली, (नाम) इस नाम से तू प्रसिद्ध (असि) है। (भरद्वाजः) ज्ञानभरा मेरा मन (तां त्वाम्) उस तुझ को ऐसा (वेद) जानता है, (सा) वह तू (नः) हमें (वित्ते अधि) ज्ञान प्रकाश धन प्रदान के निमित्त (जागृहि, मन्त्र ४) जागरूक सी रह, जैसे कि रात्री में योगानुष्ठान करनेवाले (मन्त्र ५) अध्यात्मदान देने के लिये (जाग्रति) जागरूक रहते हैं। [घृताची =घृत (प्रकाश, घृ दीप्तौ) +क्त+अञ्च् गतौ। रात्री के प्रशान्त "अश्विनौ काल" में अभ्यास का विधान है। (निरु० १२।१।१-५)] गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। भरद्वाजः=भरत्+वाजः (ज्ञान)। वाजः=वज् गतौ, **गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानम् गतिः प्राप्तिश्च**। भरद्वाजः=मनः। "भरद्वाज ऋषिः— ... मनोगृह्णामि" (यजु० १३।५५)। वित्तेऽधि=ज्ञानदीप्तरूपी धन के सम्बन्ध में। रात्री के वर्णन द्वारा हमें निर्देश मिलते हैं कि हमें रात्री में सांप आदि से आत्म रक्षा करनी चाहिये। रात्रि में परमेश्वर का स्तवन तथा योगानुष्ठान लाभप्रद है। योगानुष्ठान करनेवालों को प्राणिवर्ग की सेवा तथा पशुओं की रक्षा करनी चाहिये पशु हिंसा नहीं करनी चाहिये। तथा निज

आत्मोन्नति करके प्रजाजनों की आत्मोन्नति में प्रयत्नशील होना चाहिये। रात्री के प्रशान्त-काल में योगानुष्ठान द्वारा ज्ञान-दीप्ति सुगम होती है।]

सूक्त ४६

१–१० गोपथः। रात्रिः।

३६२. इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य ।
अश्वक्षभा सुहवा संभृतश्रीरा पप्रौ द्यावापृथिवी महित्वा ॥१॥

(दमूनाः) गृहकार्यों में दत्तचित्त, (युवतिः) युवावस्थावाली, (देवस्य सवितुः भगस्य) दिव्य गुणों वाले, सन्तानोत्पादन में समर्थ तथा सेवनीय या भाग्यशाली पति की (योषा) पत्नी के सदृश (रात्री) रात्री (इषिरा) सदा सक्रिय है, उद्यमशील है। (अश्वक्षभा) सूर्य के क्षय होने पर चमकने वाली, (सुहवा) सुगमतया पारस्परिक आह्वान में सहायक, (संभृतश्रीः) शोभाभरी रात्री ने (महित्वा) निज महत्ता के कारण (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक को (आ पप्रौ) पूर्णतया भर दिया हैं, व्याप्त कर लिया है। [इषिरा=इष गतौ+किरच् (उणा० १।५१), सदा गतिशील। रात्री भूमण्डल के चारों ओर निजोत्पत्ति काल से ही चक्कर लगा रही है, कभी विश्राम नहीं करती। दमूनाः="अपि वा दम इति गृहनाम, तन्मनाः" (निरु० ४।१।५), अर्थात् गृह में मनवाली। सवितुः=षू प्रसवे। अश्वक्षभा =अश्व (सूर्य) यथा—"एकः अश्वो वहति सप्तनामा" (निरु० ४।५।२७) में "एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः (निरु० ४।५।२७)+क्ष (क्षय)+भा (दीप्तौ)। सुहवा=रात्री के प्रशान्त वायुमण्डल में आवाज दूर तक सुगमता से पहुंच जाती है। संभृतश्रीः=चान्द और नक्षत्रों तथा तारागणों की शोभावाली रात्रि।]

३६३. अति विश्वान्यरुहद् गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः ।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः ॥२॥

(गम्भीरः) प्रशान्त हुआ सूर्य (विश्वानि) पूर्व के सब भूखण्डों का

(अति) अतिक्रमण करके (अरुहत्) पश्चिम के आकाश में उदित हुआ है। और (श्रविष्ठाः) श्रवणीय यशवाले तारागण (वर्षिष्ठम्) पूर्व के महाकाश में (अरुहन्त) उदित हुए हैं। (भद्रा) सुखदायिनी (सा रात्री) वह रात्री (अनु उशती) मानो हमारा निरन्तर कल्याण चाहती हुई, (स्वधाभिः) अपनी धारक और पोषक-शक्तियों समेत (अभि) हमारी ओर (तिष्ठते) आ स्थित हुई है। (इव मित्रः) जैसे कि कोई मित्र, अपने मित्र की सहायता के लिये, निज धारक और पोषक-सामग्री के साथ, आ उपस्थित होता है।

[गम्भीरः=शान्तः (उणा० ४।३६), महर्षि दयानन्द। वर्षिष्ठम्=वृद्धम्, प्रवृद्धम्। श्रविष्ठाः=श्रवः श्रवणीयं यशः (निरु० ११।१।९)। श्रविष्ठाः का अभिप्राय "नक्षत्र" भी सम्भव है, देखो—(अथर्व० १९।७।४)। भद्रा=भदि कल्याणे सुखे च। स्वधाभिः=स्व+धा (धारणपोषणयोः)।]

३६४. वर्ये॒ वन्दे॒ सुभ॑गे॒ सुजा॑त॒ आज॑गन् रात्रि॒ सुमना॑ इ॒ह स्या॑म्।
अ॒स्मांस्त्रा॑यस्व॒ नर्या॑णि॒ जा॒ता अथो॒ यानि॒ गव्या॑नि पु॒ष्ट्या ॥३॥

(वर्ये) हे श्रेष्ठ रात्रि ! (वन्दे) मैं तेरा अभिवादन करता हूं। (सुभगे) हे उत्तम यश और श्री से सम्पन्न (सुजाते रात्रि) उत्तम जन्म वाली रात्रि ! (इह आ अजगन्) यहां तू आई है, (सुमनाः स्याम्) इसलिये मैं प्रसन्नचित्त होऊं। तू (पुष्टचा) पुष्टि द्वारा (अस्मान्) हमारा, (नर्याणि, जाता=जातानि) नरहितकारी उत्पन्न वस्तुओं का, (अथो) और (यानि, गव्या=गव्यानि) जो गोहितकारी वस्तुएं हैं उन का (त्रायस्व) त्राण करे।

[मन्त्र द्वारा वधू का भी निर्देश किया है। वर कहता है कि हे वरण करने योग्य, सौभाग्यवती, उत्तम कुलोत्पन्न वधु ! तू मेरे कुल में आई है, मैं तेरा अभिवादन करता हूं। और तेरे आने से मैं प्रसन्नचित्त रहूं। तू अन्नादि की पुष्टि द्वारा हम कुलवासियों की रक्षा करती रह।]

३६५. सि॒ह॒स्य॒ रात्र्यु॑श॒ती पीं॒षस्य॑ व्या॒घ्रस्य॑ द्वी॒पिनो॒ वर्च॒ आ द॑दे।
अश्व॑स्य ब्र॒ध्नं पुरु॑षस्य मा॒युं पु॒रु रू॒पाणि॑ कृणुषे वि॒भा॒ती ॥४॥

(रात्री उशती) रात्री मानो चाहती हुई सी, (सिंहस्य, पींषस्य, व्याघ्रस्य, द्वीपिनः) शेर के, पीस देनेवाले अर्थात् पैरो तले रोन्ध देनेवाले

हाथी के, बाघ और चीते के (वर्चः) तेज को (आददे) हर लेती है। (अश्वस्य) अश्व के (ब्रघ्नम्) प्रवृद्ध वेग को, और (पुरुषस्य) पुरुष की (मायुम्) बोलचाल को भी हर लेती है। हे रात्री! तू (विभाती) रात्रिकाल में चमकती हुई (पुरु रूपाणि) अपने नानारूपों को (कृणुषे) प्रकट करती है।

[ब्रघ्नम्=अथर्व० ६।३८।४ में "अश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ" पाठ है। तदनुसार "ब्रध्न" पद द्वारा "वाज" अर्थात् "वेग" अर्थ प्रतीत होता है। ब्रध्न=प्रवृद्ध, महान्। पुरु रूपाणि=नक्षत्र, ग्रह, तारागण आदि नाना रूप। मायुः=वाक् (निघं० १।११)।]

३६६. शिवां रात्रिमनुसूर्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ॥८॥

(च) और (अनुसूर्यम्) सूर्यास्त होने के पश्चात्, (शिवां रात्रिं वन्दे) सुखदायिनी रात्रि के सदृश वर्तमान कल्याणकारिणी जगन्माता का (वन्दे) मैं अभिवादन करता हूं। (हिमस्य माता) रात्री के समान शीतल शान्ति की माता, (नः) हमारे लिये (सुहवा) सुगमतया आह्वानयोग्या (अस्तु) होवे। (सुभगे) हे उत्तमोत्तम ऐश्वर्यों, धर्म यश श्री ज्ञान और वैराग्य की स्वामिनि! (अस्य) इस (स्तोमस्य) मेरी स्तुति को (निबोध) पहचानिये। (येन) जिस स्तुति द्वारा (विश्वासु दिक्षु) सब दिशाओं में व्याप्त (त्वा) आप का (वन्दे) मैं अभिवादन करता हूं। [मन्त्र में रात्री को उपमान और जगन्माता को उपमेय मानकर वर्णन किया गया है। अनुसूर्यम्=सूर्यास्त के पीछे सायं सन्ध्या का वर्णन हुआ है। हिमस्य=उपासना में प्राप्त शान्ति को हिमसदृश कहा है। सुहवा=प्रशान्त रात्री-काल में निश्चल-ध्यान द्वारा की गई उपासना में, परमेश्वर सम्बन्धी अनुभूति सुगम होती है। विश्वासु दिक्षु=सब दिशाओं में व्याप्त परमेश्वर का "मनसा परिक्रमा" की विधि द्वारा स्तवन करना चाहिये।]

३६७. स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे ।
आसाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनूषसः ॥९॥

(रात्रि) हे रात्री के समान सुखदायिके, (विभावरि) ज्योतिर्मयी जगन्मातः! (राजा इव) राजा के सदृश (नः) हमारी (स्तोमस्य) स्तुति

का (जोषसे) आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये । आपकी स्तुति द्वारा (सर्ववीराः) हम सब धर्मवीर (आसाम) हो जायें। (सर्ववेदसः) सम्पूर्ण आध्यात्मिक सम्पत्ति वाले (भवाम) हो जायें ।(व्युच्छन्तीः) अन्धकार को हटाती हुई (उषसः) उषाओं को (अनु) लक्ष्य करके, अर्थात् उषाकाल के चमकते रहते, और सूर्योदय से पूर्व तक प्रातः सन्ध्या में रत रहना चाहिये ।

[रात्रि=राति सुखं ददातीति रात्री (उणा० ४।६८), महर्षि दयानन्द । अनूषसः=प्रातःकाल की सन्ध्योपासना का वर्णन किया गया है। जब तक सूर्योदय न हो, तब तक उपासनारत रहना चाहिये ।]

३६८. शम्या॑ ह॒ नाम॑ दधि॒षे मम॒ दिप्स॑न्ति॒ ये धना॑ ।

रात्री॒हि ता॑नसुत॒पा य स्ते॒नो न वि॒द्यते॒ यत्॒ पुन॒र्न वि॒द्यते॑ ॥७॥

(रात्रि) हे रात्रि ! तू (ह) निश्चय से (शम्या नाम) शत्रुओं को शान्त कर देनेवाली, उन का वध करनेवाली है, (दधिषे) इस प्रकार हमारा तू धारण-पोषण करती है । (ये) जो (मम) मेरे (धना=धनानि) धनों को (दिप्सन्ति) दम्भ द्वारा हथियाना चाहते हैं, (तान्) उन्हें (असुतपाः) उनके प्राणों को तपानेवाली होकर, (इहि) प्राप्त हो । ताकि (यः) जो कोई भी (स्तेनः) चोर हो, वह (न विद्यते) हमारे मध्य में न रहे। (यत्) यदि (पुनः) फिर, अर्थात् दोबारा चोर बने, तो वह (न विद्यते) जीवित न रहे।[शम्या=शम्नाति वधकर्मा(निघं०२।१९)। मन्त्रद्वारा निर्देश मिलता है कि चोरों को अपनी बस्ती में रहने न देना चाहिये । यदि वे दोबारा चोरी करें, तो उन्हें मृत्युदण्ड देना चाहिये ।]

अथवा—हे रात्रि ! तू 'शम्या' नाम धारण करती है, चूंकि तू स्वयं शान्तस्वरूपा है, और सब को शान्ति पहुंचाती है । जो मेरे धनों को दम्भ द्वारा हथियाना चाहते हैं,उन के भी प्राणों को न तपाती हुई,अर्थात् रात्री में शयन द्वारा शान्त करती हुई, तू उन्हें प्राप्त हो । सब को ऐसा शान्त कर दे कि रात्री में कोई चोर भी न रहे, कोई चोरी न करे । यदि एक बार चोरी करे भी, तो वह बार-बार चोरी न करे, शान्त सोया रहे । [शम्या= शम् (शान्ति)+या(प्रापणे) । असुतपाः=अ+सु+तपाः ।]

३६९. भ॒द्रासि॑ रात्रि चम॒सो न वि॒ष्टो वि॒ष्वङ्॒ गोरू॑पं यु॒वति॒र्बि॑भर्षि ।

चक्षु॑ष्मती मे उश॒ती वपूं॑षि॒ प्रति॒ त्वं दि॒व्या न क्षाम॑मुक्थाः ॥८॥

(विष्टः) परोसे हुए (चमसः न) अन्नपात्र के सदृश (रात्रि) हे रात्रि ! तू (भद्रा) सुखप्रदा (असि) है। (युवतिः) युवावस्थावाली हुई तू (विष्वङ्) सर्वत्र फैलकर (गोरूपम्) गो के स्वभाव को (बिभर्षि) धारण करती है। (चक्षुष्मती) सूर्यरूपी प्रशस्त आंखवाली होकर, (उशती) कामना करती हुई (त्वम्) तूने, (मे) मेरे लिये (दिव्या=दिव्यानि, न) मानो दिव्य (वपूंषि) देहों को (प्रति अमुक्थाः) धारण किया है। जब कि तू ने (क्षाम्) पृथिवी को (प्रति अमुक्थाः) त्याग दिया।

[चमसः=चमु अदने। चमसः=चमति भक्षयति येन सः (उणा० ३।११७)। युवतिः=मध्यरात्रिकाल में। गोरूपम्=गौ जैसे पालती है, वैसे मध्यरात्री सब को विश्राम द्वारा पालती है। प्रति अमुक्थाः=प्रति मुच्=धारण करना, तथा त्याग देना। यथा—"यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्च शुभ्रम्"; तथा "गृहीतप्रतिमुक्तस्य" (रघुवंश ४।४३), "अमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि" (रघुवंश३।४६)। दिव्या वपूंषि=दिन में दिव्यरूपों को। ये रूप या देह हैं—पर्वत, नदियां, वृक्ष तथा पार्थिव नानारूप। ये रूप दिन में ही दृष्टि-गोचर होते हैं। यह कल्पना की गई है कि मानो रात्री ने रात्रीरूप को छोड़ कर दिन का रूप धारण कर लिया है। यहां यह निर्देश दिया है कि युवती स्त्री भी रात्री के वस्त्रों को त्यागकर, दिन में विविध वेश-भूषा द्वारा अलंकृत होकर नानारूपों को धारण करे।]

३७०. यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः।
रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥९॥

(अघायुः) हत्या चाहने वाला, (यः) जो (रिपुः मर्त्यः) शत्रु मनुष्य, (स्तेनः) चोर बन कर, (अद्य) आज (आयति) आता है, (रात्री) रात्री (प्रतीत्य) उसे पूरी तरह से जान-पहिचान कर (तस्य) उस की (ग्रीवाः) गर्दन-नाड़ियों को (प्र हनत्) तोड़ दे, (शिरः) और सिर को (प्रहनत्) तोड़ दे।

[पहिले ठीक प्रकार से जांच कर लेनी चाहिये कि अमुक आगत व्यक्ति वस्तुतः हमारी हत्या की इच्छा से चोर बन कर आया है। तदनन्तर उस के सिर तक को उतार देना भी वेदानुमोदित है। वेद कठोर दण्ड की आज्ञा देता है, ताकि पापकर्मों की पुनरावृत्ति न होती रहे।]

३७१. प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत् ।
यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति ।
अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥१०॥

[रात्री चोर के] (पादौ) दोनों पैर (प्र हनत्) काट दे, (यथा) जिस से कि वह (न अयति) न चल सके। (हस्तौ) दोनों हाथ (प्रहनत्) काट दे, (यथा) जिस से कि वह (न आशिषत्) खा न सके। (यः) जो (मलिम्लुः =मलिम्लुचः) मलिनाचार वाला लुटेरा (उपायति) हमारे समीप आए, (सः) वह (संपिष्टः) मारपीट खाकर (अपायति) दूर चला जाय। (अपायति) दूर चला जाय (सु अपायति) बहुत दूर चला जाय। (शुष्के) सूखे (स्थाणौ) स्थावरों अर्थात् जङ्गल में (अपायति) चला जाय।

[मन्त्र ९ में प्राणदण्ड का विधान है। मन्त्र १० में अङ्ग-भङ्ग का, तथा किसी सुदूर एकान्त और सूखे जङ्गल में कैदी के रूप में उसके अवरुद्ध करने का विधान है।]

सूक्त ५०

१-७ गोपथः। रात्री।

३७२. अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु ।
अक्षौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥१॥

(अध) और (रात्रि) हे रात्रि! (तृष्टधूमम्) पिपासाजनक फुंकार वाले (अहिम्) सांप को (अशीर्षाणम्) सिररहित (कृणु) करदे। (वृकस्य) लुटेरे की (अक्षौ) दोनों आंखों को (निर्जह्याः) निकाल फेंक। (तेन) इस प्रकार (तम्) उसे (द्रुपदे) काठ की बेड़ी में डालकर (जहि) मार डाल।

[वृकस्य=वृकः Robber (आपटे), अर्थात् लुटेरा। सांप और लुटेरे को दण्ड का विधान किया है। पैप्पलाद संहिता (अथर्ववेद) में "द्रुपदे जहि" के स्थान में "नृपते जहि" पाठ है। इससे प्रतीत होता है कि दण्ड-विधान राजनियमों द्वारा होना चाहिये।]

३७३. ये ते रात्र्यनुड्वाहुस्तीक्ष्णशृङ्गाः स्वाशवः ।
तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा ॥२॥

(ये) जो (ते) वे (तीक्ष्णशृङ्गाः) तेज सींगोंवाले, (स्वाशवः) अति शीघ्रगामी, (अनड्वाहः) रथ का वहन करने में समर्थ बैल हैं, (तेभिः) उन के द्वारा (अद्य) आज और (विश्वहा) सब दिन अर्थात् सदा (रात्रि) हे रात्रि ! (नः) हमें (दुर्गाणि) दुर्गम मार्गों को (अति) लंघा कर (पारय) पार कर दे ।

[रात्री में यात्रा करने पर यह निर्देश दिया है कि रथ के बैल प्रौढ़ावस्था के तेज सींगोंवाले, शीघ्रगामी, तथा रथ को ले चलने में समर्थ होने चाहियें । रात्री की यात्रा में यदि कोई हिंस्र वन्य-पशु, बैलों पर आक्रमण करे, तो उन से रक्षार्थ, बैल तीक्ष्णशृङ्गोंवाले होने चाहियें ।]

३७४. रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम् ।
गम्भीरमप्लवा इव न तरेयुररातयः ॥३॥

(तन्वा) शरीर से (अरिष्यन्तः) अहिंसित होते हुए (वयम्) हम (रात्रिम् रात्रिम्) प्रत्येक रात्री से (तरेम) पार हो जायें। (अरातयः) अदानी अर्थात् शत्रु (न तरेयुः) न पार हों । (इव) जैसे कि (अप्लवाः) नौकाविहीन व्यक्ति (गम्भीरम्) गहरे समुद्र से पार नहीं हो सकते ।

[अरातयः=अ+रा (दाने)+ति । वैदिक सभ्यता में दान की बड़ी महिमा है । अराति शब्द शत्रु अर्थ में प्रयुक्त होता है । अदानी समाज और राष्ट्र के शत्रु गिने गए हैं । वैदिक सभ्यता के अनुसार प्रत्येक गृहस्थी को पञ्चमहायज्ञ करने होते हैं । अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, बलियज्ञ या भूतयज्ञ, तथा ब्रह्मयज्ञ या स्वाध्याययज्ञ । अतिथियज्ञ में अन्नादि द्वारा अतिथियों की सेवा, पितृयज्ञ में जीवित माता-पिता, आचार्य तथा अन्य बुजुर्गों की अन्नादि द्वारा सेवा, देवयज्ञ में अग्निहोत्र द्वारा वायु आदि की शुद्धि से समग्र समाज की सेवा, तथा बलियज्ञ या भूतयज्ञ द्वारा पशु-पक्षी कीट-पतंग आदि प्राणियों की अन्न द्वारा सेवा करनी होती है । ये सेवाएं दानभावना पर निर्भर हैं । इसीलिये "अराति" को समाज और राष्ट्र का

शत्रु कहा है। यह दान धार्मिक दान है, राजनैतिक दृष्टि से दिया गया या बांटा गया धन, दान नहीं।]

३७५. यथा श्याम्याकः प्रपतन्नपवान् नानुविद्यते।

एवा रात्रि प्र पातय यो अस्माँ अभ्यघायति ॥४॥

(यथा) जैसे (श्याम्याकः) सामा अन्न का दाना (प्रपतन्) भूमि पर गिरता हुआ, या (अपवान्) वायु द्वारा परे फेंका हुआ (अनुविद्यते न) पुनः लब्ध नहीं होता, (एवा=एवम्) इसी प्रकार (रात्रि) हे रात्रि ! (प्रपातय) गिरा दे, (यः) जो कि (अस्मान्) हमें (अभ्यघायति) मारना चाहता है, या हमारे प्रति पापकर्म करना चाहता है, ताकि वह पुनः प्राप्त न हो सके।

[श्याम्याकः="सामा" नामक अन्न का दाना बहुत सूक्ष्म होता है, अतः गिरे हुए को, या वायु द्वारा परे फेंके गए को फिर पाना नहीं हो सकता। अपवान्=अप+वा (गतौ)+शतृ।]

३७६. अप स्तेनं वासो गोअजमुत तस्करम्।

अथो यो अर्वतः शिरोऽभिधाय निनीषति ॥५॥

(गो अजम्) गौ को हांक कर ले जाने वाले (स्तेनम्) चोर को; (उत) और (तस्करम्) उपक्षयकारी लुटेरे को; (अथो) तथा (यः) जो (अर्वतः) अश्व के (शिरः) सिर को (अभिधाय) रस्सी से बान्ध कर (विनीषति) ले जाना चाहता है, उस को (अप वासः) अलग बसा।

[अभिधाय; अभिधानी=रस्सी। अपवासः=अलग बसाना सामाजिक बहिष्कार है। गोअजम्=गो+अज (गतिक्षेपणयोः)+पचाद्यच्। अज्=To drive; to lead (आपटे)।]

३७७. यदद्या रात्रि सुभगे विभजन्त्ययो वसु।

यदेतदस्मान् भोजय यथेदन्यानुपायसि ॥६॥

(सुभगे रात्रि) हे उत्तमशोभावाली रात्रि ! (यद्) जिस (अयः) सुवर्ण, और (वसु) धन को [उत्तराधिकारी] (अद्य) शीघ्र (विभजन्ति) आपस में बांट लेते हैं, (यत् एतत्) जो यह [उत्तराधिकार में प्राप्त] धन है इसे, तथा (यथा) जिस प्रकार (इत्) ही तू (अन्यान्) अन्य [धनिकों]

को (उपायसि) उपायनरूप में धन प्राप्त कराती है, इसे (अस्मान्) हमें भी (भोजय) भोगने दे। [अद्य=सद्यः, निरु० १३ (१४) । पा० २ (१) । खं० ३२ (१९) । सुवर्ण और धन दो प्रकार का है—उत्तराधिकार में प्राप्त, तथा परिश्रम द्वारा कर्मानुसार प्राप्त[1] । अयः=हिरण्यनाम (निघं० १।२) ।]

३७८. उषसे नः परि देहि सर्वान् रात्र्यनागसः ।
उषा नो अह्ने आ भजादहस्तुभ्यं विभावरि ॥७॥

(नः सर्वान्) हम सब (अनागसः) निष्पापों को (रात्रि) हे रात्रि ! तू (उषसे) उषा के प्रति (परि देहि) सौंप दे। (उषाः) उषा (नः) हमें (अह्ने) दिन के प्रति, (अहः) और दिन (तुभ्यम्) तेरे प्रति (आ भजात्) सौंप दे, (विभावरि) हे चमकीली रात्रि !

[अनागसः=निष्पापियों का जीवन दीर्घकाल का होता है। विभावरि=चान्द और तारागणों द्वारा चमकीली। अथवा अनागसः=विना हिंसित हुए।]

सूक्त ५१

१-२ ब्रह्मा । १ आत्मा, २ सविता च ।

३७९. अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे
प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥१॥

(अयुतः) दोषरहित (अहम्) मैं हो गया हूं, (अयुतः) दोषरहित (मे) मेरा (आत्मा) आत्मा हो गया है, (अयुतम्) दोषरहित (मे) मेरी (चक्षुः) आंख हो गई है, (अयुतम्) दोषरहित (मे) मेरी (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति हो गई है, (अयुतः) दोषरहित (मे) मेरा (प्राणः) प्राण हो गया है, (अयुतः) दोषरहित (मे) मेरा (अपानः) अपान हो गया है, (अयुतः)

१. रात्री हमें जीवित रखे, ताकि हम इन दोनों प्रकार के धनों का उपभोग कर सकें।

दोषरहित (मे) मेरा (व्यानः) व्यान हो गया है। (अहम्) मैं (सर्वः) सब (अयुतः) दोषरहित हो गया हूं।

[अयुतः=अ+यु (जुगुप्सा)+क्तः। प्राणः=भीतर आनेवाला श्वास। अपानः=बाहिर निकलनेवाला प्रश्वास, या पेट की अपानवायु। व्यानः=सर्वशरीरसंचारी वायु।

तथा—अयुत अर्थात् हजारों मनुष्यों और प्राणियों के रूप में, मैं मानो हो गया हूं। मैं मानो विभक्त होकर हजारों रूप धारण किये हुए हूं। हजारों आंखें, कान, प्राण, अपान, व्यान मानो मेरे ही रूप हैं। मैं ही सर्व-रूप हूं। अर्थात् भूमण्डल का प्रत्येक मनुष्य अन्य प्राणियों में आत्मबुद्धि और आत्मीयता की भावना करके यह समझे कि वह मानो अन्यों की सेवा में अपनी, तथा अपनों की ही सेवा कर रहा है। इस प्रकार प्रेम और सहानुभूति द्वारा भूमण्डल के सभी मनुष्य परस्पर एक संगठन में संगठित हो सकेंगे। मन्त्रोक्त इस सर्वात्मभावना से ऊंची और कोई सर्वात्मभावना सम्भव नहीं। यह सर्वात्मभावना सार्वभौमभावना की पराकाष्ठा है। इस सर्वात्मभावना में पशु-पक्षी तथा कीट-पतङ्ग तक समाते हैं। इसी भावना को सुदृढ़ बनाए रखने के लिये वेदों तथा सच्छास्त्रों में सर्वभूतमैत्री, पितृ-यज्ञ, अतिथियज्ञ तथा बलिवैश्वयज्ञ आदि का विधान किया गया है। बलि-वैश्वदेवयज्ञ में समग्र प्राणियों की रक्षा की भावना ओत-प्रोत है। यथा—**"शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकै-र्निर्वपेद् भुवि"**(मनु० ३।९२)। अर्थात् कुत्तों, पतितों, कुत्तों का मांस पकाकर खानेवालों, पापकर्म के कारण हुए रोगियों, कौओं, कृमियों तक को भोजन देने की भावना है। ये भावनाएं प्रत्येक गृहस्थी के दैनिक धर्मकृत्यों की नींवरूप हैं। अयुत=१० हजार। Ten Thousand (आपटे)।]

३८०. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥२॥

(सवितुः) समग्र ऐश्वर्यों के स्वामी, सर्वोत्पादक तथा सर्वप्रेरक (देवस्य) दिव्यगुणी परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न जगत् में वर्तमान, तथा (प्रसूतः) परमेश्वर द्वारा प्रेरित हुआ मैं (अश्विनोः) अश्विदेवताओं की (बाहुभ्याम्) बाहुओं द्वारा, और (पूष्णः) पूषा देवता के (हस्ताभ्याम्) हाथों द्वारा (त्वा) तुझ प्रत्येक कर्म को (आ रभे) मैं आरम्भ करता हूं।

[सवितुः=षु प्रसवैश्वर्ययोः, षू प्रेरणे । प्रसवः=उत्पन्नं जगत् । अश्विनौ="यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः—सूर्याचन्द्रमसौ" (निरु० १२।१।१)। अर्थात् अश्विनौ हैं—सूर्य और चन्द्रमा । क्योंकि ये दोनों समग्र पार्थिव कार्यों में व्याप्त हैं, चन्द्रमा रसप्रदान द्वारा तथा सूर्य ज्योति-प्रदान द्वारा । मनुष्य को प्रत्येक कार्य के आरम्भ में यह भावना करनी चाहिये कि सूर्य और चन्द्रमा जैसे निज किरणोंरूपी बाहुओं द्वारा सब का उपकार करते हैं, वैसे मैं भी सब के उपकार के लिये निज बाहुओं द्वारा कार्यारम्भ करता हूं, निज स्वार्थ के लिये ही नहीं । पूष्णः=पूषा का अर्थ है—वायु (उणा० १।१५९) महर्षि दयानन्द । वायु प्राणशक्ति-प्रदान द्वारा, तथा वर्षा-प्रदान द्वारा सब का पालन-पोषण कर रही है । मनुष्य अपने हाथों में वायु के हाथों की भावना करता हुआ सर्वोपकार के कार्यों का आरम्भ करे । प्रसूतः=प्रत्येक कार्य के आरम्भ में मनुष्य यह भावना करे कि मैं परमेश्वर द्वारा प्रेरणा पाकर कार्यारम्भ करता हूं, न कि निज राग-द्वेष द्वारा प्रेरित हुआ । इस प्रकार मन्त्र १ और २ में उक्त भावनाएं जीवनमार्ग का प्रदर्शन कराती हैं । 'पूषा' का अर्थ पृथिवी भी है । पृथिवी सब को समग्र पोषक पदार्थों का प्रदान करती है । मनुष्य अपने हाथों को पृथिवी के हाथ समझकर इन हाथों के द्वारा सभी प्राणियों के पोषण के निमित्त कार्यों का आरम्भ करे । पृथिवी को माता कहा है—"भूमिः माता पुत्रो अहं पृथिव्याः" (अथर्व० १२।१।१२) । जैसे पृथिवी में माता की कल्पना की गई है, वैसे पृथिवी के हाथों की भी कल्पना की गई है ।]

सूक्त ५२

१-५ ब्रह्मा । कामः ।

३८१. काम॒स्तदग्रे॒ सम॑वर्तत॒ मन॑सो॒ रेतः॑ प्रथ॒मं यदासी॑त् ।
स का॑म॒ कामे॑न बृह॒ता सयो॑नी रा॒यस्पोषं॒ यज॑मानाय धेहि ॥१॥

(अग्रे) सृष्टि के आरम्भकाल में (कामः) ईश्वरीय काम [कामना=इच्छा] (समवर्तत) सम्यक्रूप में प्रकट हुआ । (यत्) जो काम कि (मनसः) परमेश्वर के मनन अर्थात् "ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य" से प्रकट हुआ, (तत् प्रथमम्) वह काम प्रथम (रेतः) बीज (आसीत्) था । (काम) हे मेरे काम ! [कामना वा इच्छा] (सः) वह तू (बृहता कामेन) बृहत् काम

अर्थात् परमेश्वर के काम के साथ (सयोनिः) समानयोनि वाला अर्थात् तत्सदृश होकर (यजमानाय) यज्ञ के कर्त्ता मुझे (रायस्पोषम्) आध्या-सम्पत्ति की पुष्टि अर्थात् समृद्धि (धेहि) प्रदान कर।

[सृष्टि के आरम्भ में सृष्टयुत्पादन के लिये परमेश्वर में काम अर्थात् कामना या इच्छा प्रकट होती है। यथा—"सोऽकामयत्" (बृह० उप० ब्रा०२; खं० ४,६,७); तथा="स ऐच्छत्" (बृह० उप० ब्रा० ४। खं० ३)। मनसः=इसका अर्थ "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" के "सृष्टिविद्याविषय" में, तथा यजुर्वेद ३१।१२ में "मनसः" शब्द के किये अर्थ के अनुसार किया है। परमेश्वर मन द्वारा कार्य नहीं करता, जैसे कि मनुष्य मन द्वारा कार्य करते हैं। परमेश्वर अस्मत्सदृश मन से रहित है। मन्त्र का अभिप्राय है कि सृष्टयुत्पत्ति में परमेश्वर के ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से, जिसे कि ईक्षण (तदैक्षत बहु स्याम्; छां० ६।२।३) भी कहते हैं—"काम" अर्थात् कामना प्रकट हुई, और यह काम [या कामना] सृष्टयुत्पत्ति का प्रथम बीज (रेतः) था। कामेन बृहता=यजमान भी यजन करता है, यज्ञस्वरूप कर्मों को करता है। इन यज्ञिय कर्मों का कारण भी "काम" है। यज्ञिय कर्मों के करने के लिये "काम" भी यज्ञिय भावनाओं वाला होना चाहिये। देवपूजा, सत्-संगति तथा दानभावना आदि से ओत-प्रोत होना चाहिये, जैसे कि पर-मेश्वरीय काम परोपकार न्याय दानभावना आदि से ओत-प्रोत है। पर-मेश्वरीय काम को "बृहत्-काम" कहा है। यज्ञिय कर्मों के करने के लिये यज्ञकर्त्ता का "काम" भी परमेश्वरीय "बृहत्-काम" के सदृश सात्विक होना चाहिये। तभी यजमान को आध्यात्मिक-सम्पत्तियों की पुष्टि अर्थात् समृद्धि प्राप्त हो सकती हैं।]

३८२. त्वं का॑म॒ सह॑सासि॒ प्रति॑ष्ठितो वि॒भुर्वि॒भावा॑ सख॒ आ स॑खीय॒ते। त्वमु॒ग्रः पृत॑नासु सास॒हिः सह॒ ओजो॒ यज॑मानाय धेहि ॥२॥

(काम) हे सात्विक काम! [कामना वा इच्छा] (त्वम्) तू (सहसा) मानसिक बल द्वारा (प्रतिष्ठितः) दृढ़स्थित होता है, (विभुः) विभूतिरूप तथा (विभावा) तेजःसम्पन्न (असि) होता है। (सखे) हे मित्र सात्विक काम! (सखीयते) तेरे साथ सख्यभाव चाहनेवाले के लिये (त्वम्) तू (उग्रः) उग्ररूप होकर (पृतनासु) देवासुरसंग्रामों की आसुरी सेनाओं के

उपस्थित होने पर उन का (सासहिः) पराभव करता है। (यजमानाय) आध्यात्मिक यज्ञ के कर्त्ता के लिये तू उसमें (सहः) मानसिक बल और (ओजः) पराक्रम (आधेहि) स्थापित कर। [सहः=बलनाम (निघं० २।९)। सात्त्विक कामनाओं की दृढ़ स्थिति बनी रहे, इसके लिये मनोबल, दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है। सात्विक कामनाओं द्वारा विभूतियां प्रकट होतीं, तथा पापों के पराभव करने का पराक्रम प्राप्त होता है।]

३८३. दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः ॥३॥

(अक्षये) अमृतत्व के निमित्त (दूरात्) चिरकाल से (चकमानाय) कामना करनेवाले, (प्रतिपाणाय) तथा तन्निमित्त व्रतों-नियमों का प्रतिपालन करनेवाले (अस्मै) इस पुरुष के लिये (आशाः) इसकी आशाओं ने (आ अशृण्वन्) इसकी कामना को पूर्णतया सुन लिया है, और (कामेन) इस की कामना के द्वारा (स्वः) अमृतत्व का सुख (अजनयन्) प्रकट कर दिया है।

[काम है—सात्विक इच्छा, और सात्विक कामना। और आशा है फल-प्राप्ति की सम्भावना=उमेद, या फलाकांक्षा। आशा के विना काम में प्रवृत्ति नहीं होती। दृढ़ सात्विक कामना द्वारा उद्देश्य की प्राप्ति के लिये यत्न करने से आशाएं सफल हो जाती हैं, फल-प्राप्ति कराती हैं। दूरात्= कालिक दूरता, अर्थात् चिरकाल से। दूरात्=From a remote period (आपटे)।]

३८४. कामेन मा काम आगन् हृदयाद् हृदयं परि।
यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह ॥४॥

(कामेन) मेरी सात्विक कामना द्वारा (मा) मुझे (कामः) काम्य अमृतत्व (आ अगन्) प्राप्त हो गया है। अर्थात् (हृदयात् परि) मेरी हार्दिक अभिलाषा से (हृदयम्) अभिलषित हार्दिक फल प्राप्त हो गया है। (अमीषाम्) अमृतत्व को प्राप्त इन योगिजनों का (यद्) जो (अदः) वह (मनः) सात्विक मन है, (तत्) वैसा मन (इह) इस जीवन में (माम्) मुझे (उप ऐतु) प्राप्त रहे।

[कामः=काम्यफल । यथा—"सर्वान् कामान् समश्नुते" (मनुस्मृति २।५) । काम=Object & desire (आपटे) । तथा "कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठाम्" (कठोप० अध्या० १, वल्ली २, श्लोक ११ ।)]

३८५. यत् काम कामयमाना इदं कृण्मसि ते हविः ।

तन्नः सर्वं समृध्यतामथैतस्य हविषो वीहि स्वाहा ॥५॥

(काम) हे सात्त्विक काम ! [कामना वा इच्छा] (यत्) जिस फल की (कामयमानाः) कामना करते हुए हम (ते) तेरे प्रति (इदम्) यह (हविः) हवि (कृण्मसि) समर्पित करते हैं, (तत् सर्वम्) वह हविः समग्र-रूप में (नः) हमारे लिये (समृध्यताम्) समृद्धि प्राप्त कराए । (अथ) इस-लिये (एतस्य) इस (हविषः) हवि को (वीहि) हे काम ! तू प्राप्त कर, स्वीकार कर । (स्वाहा) हमारी यह हवि तेरे प्रति आहुत हो ।

[मन्त्र में "हविः" द्वारा उन साधनों का कथन किया है, जिनकी सहायता द्वारा उद्देश्य की प्राप्ति होती है । उद्देश्य है—"अमृतत्त्व की प्राप्ति" । समग्र सूक्त में 'काम' द्वारा सात्त्विक काम का वर्णन हुआ है, जो कि "बृहता कामेन सयोनिः" (मन्त्र १) है । स्वाहा=इस शब्द द्वारा यह दर्शाया है कि जैसे उद्देश्य और इच्छा सात्विक होने चाहियें, वैसे साधन भी सात्त्विक आहुतिरूप होने चाहियें ।]

सूक्त ५३

१-१० भृगुः । कालः ।

३८६. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।

तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥१॥

(सप्तरश्मिः) सात प्रकार की किरणों वाला (अश्वः) आदित्य जैसे (वहति) सौरमण्डल का वहन करता है, वैसे (सहस्राक्षः) हजारों का क्षय करनेवाला, (भूरिरेताः) प्रभूतोत्पादन शक्तिवाला, (अजरः) जरारहित, जीर्ण न होनेवाला, सदागतिक (कालः) काल (वहति) संसार-रथ का (वहति) वहन कर रहा है । (कवयः) क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी (विपश्चितः) मेधावी (तम्) उस पर (आ रोहन्ति) आरोहण करते हैं, उसे नियन्त्रित

करते हैं। (तस्य) उस रथ के (चक्रा=चक्राणि) चक्र हैं, (विश्वा=विश्वानि, भुवनानि) सब भुवन, अर्थात् सत्तावाले तारागण नक्षत्र आदित्य चन्द्र ग्रह आदि।

[अश्वः="एको अश्वो वहति सप्तनामादित्यः" (निरु० ४।४।२७)। सप्तरश्मिः=सात प्रकार की किरणें हैं—लाल, पीत, नारङ्गी वर्ण, हरित, नीली, इण्डिगो वर्ण, बैंगनी। सहस्राक्षः=सहस्रा-, क्ष (क्षय)। अजरः=जरारहित; अज (गतौ)+र(वाला)। कवयः; कविः=क्रान्तदर्शनः (उणा० ४।१४१), महर्षि दयानन्द। भुवनानि=सूर्य, चान्द, नक्षत्र, तारागण, ग्रह आदि गोलाकृति हैं, अतः इन्हें चक्र कहा है। अभिप्राय यह कि काल अश्व के समान मेधावियों का सहायक होता है, मेधावियों द्वारा नियन्त्रित होता है।]

३८७. सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥२॥

(एषः कालः) यह काल (सप्त चक्रान्) सात चक्रों को (वहति) वहन करता है, उन्हें चला रहा है। (अस्य) इस काल के चक्रों की (सप्त नाभीः) सात नाभियां [Navals] हैं। (नु) और निश्चय से (अमृतम्) अमर परमेश्वर (अक्षः) इन नाभियों में लगी धुरा है। (सः) वह काल (इमा विश्वा भुवनानि) इन सब अर्थात् सात चक्राकार भुवनों को (अञ्जत्) अभिव्यक्त करता है। (सः कालः) यह काल मानो (प्रथमः देवः) प्रथम देव अर्थात् परमेश्वर के (नु) सदृश (ईयते) सक्रिय हो रहा है।

[सप्त चक्रान्=चक्राकार भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—ये सात[1] चक्राकार लोक। इन चक्रों में प्रत्येक की एक-एक नाभि [Navel या centre केन्द्र] है, और इन नाभियों में परमेश्वररूपी धुरा इन सातों को परस्पर सम्बद्ध कर रही है। अञ्जत्=वस्तुओं और भुवनों की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति नियत कालों में ही होता है। नु=उपमावाचक।

१. अथवा सप्त=सर्पणात् अर्थात् विस्तृत फैले हुए तारा, नक्षत्र, आदित्य, ग्रह, उपग्रह आदि चक्राकार=गोलाकृति लोक।

यथा—"वृक्षस्य नु ते पुरुहुत वयाः:" (ऋ० ६।२४।३), पर "वृक्षस्य इव ते पुरुहूत शाखाः" (निरु० १।२।४) । अक्षः=Axis, Axle ।]

३८८. पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥३॥

(पूर्णः कुम्भः) पूर्ण कुम्भ राशि (काले) काल के आश्रय (अधि) ऊपर अर्थात् द्युलोक में (आहितः) स्थापित हुई है। (सन्तः) विद्यमान अर्थात् जीवित हम (वै नु) निश्चय से (तम्) उस कुम्भ राशि को (बहुधा) प्रायः या बहुत प्रकार से (पश्यामः) देखते हैं । (सः) वह काल (इमा विश्वा भुवनानि) इन सब भुवनों में, (प्रत्यङ्) तथा प्रति पदार्थ में व्याप्त है। (तम्) उस (कालम्) काल को (आहुः) कहते हैं कि वह (परमे व्योमन्) परम तथा विविध पदार्थों के रक्षक परमेश्वर के आश्रय में आश्रित है।

[कुम्भः=मन्त्र १,२ में भुवनों का वणन है। इस लिये प्रकरणानुसार कुम्भ का सम्बन्ध भी भुवनों के साथ ही समझना चाहिये। कुम्भराशि, राशिचक्र में ११वीं है। यथा—"मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर कुम्भ, मीन। कुम्भ=A quarius, The elevanth sign of zoiac (आपटे)।

बहुधा=पृथिवी राशिचक्र में गति करती हुई स्थान बदलती रहती है। इसलिये पृथिवीस्थ स्थानिक मनुष्यों को कभी तो कुम्भराशि दृष्टि-गोचर होती है, और कभी दृष्टिगोचर नहीं होती। तथा पृथिवी के स्थान-परिवर्तन से कुम्भराशि भी स्थान बदलती हुई प्रतीत होती है। "कुम्भ" शब्द अन्य राशियों तथा तारामण्डलों का भी उपलक्षक है। प्रत्यङ्=प्रतिपदार्थ-मञ्चति व्याप्नोतीति। व्योमन्=वि+अव्(रक्षणे)+मनिन्(उणा०४।१५२)। "**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्**" (ऋ०१।१६४।३९) की व्याख्या में "**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्.....कतमत्तदेतदक्षरमोमित्येषा वागिति शाकपूणिः**" (निरु० १३।१।१२)। तथा "(ऋचः) ऋग्वेदादि वेदमात्र से प्रतिपादित (अक्षरे) नाशरहित (परमे) उत्तम (व्योमन्) आकाश के बीच व्यापक परमेश्वर में" (ऋग्भाष्य, महर्षि दयानन्द)।

मन्त्र में कुम्भराशि का ही क्यों वर्णन किया गया, अन्य किसी राशि का वर्णन क्यों नहीं किया, इसका एक विशेष कारण है। वह यह कि सूर्य

लगभग २१ जनवरी को कुम्भराशि में प्रवेश करता है, और एक मास कुम्भराशि में रहकर लगभग २१फरवरी को १२वीं राशि "मीन" में प्रवेश करता है। जब तक सूर्य कुम्भराशि में रहता है, तब तक कुम्भ का दर्शन द्युलोक में नहीं हो सकता।कारण यह है कि कुम्भराशि का उदय और अस्त सूर्य के उदय और अस्त के साथ ही होता है।इसलिये सूर्य की ज्योति में कुम्भ राशि की ज्योति अभिभूत रहती है। मन्त्र में यतः "पूर्णः कुम्भः" और "पश्यामः" शब्द हैं,जिन के अर्थ हैं कि "सम्पूर्ण कुम्भ को हम देखते हैं", यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि सूर्य इतनी दूर चला जाय कि उसकी ज्योति तथा प्रभा कुम्भराशि पर न पड़ सके। मीन राशि को समाप्ति के लगभग जब सूर्य पहुंच जाता है, तभी कुम्भराशि का पूर्ण दर्शन हो सकता है। मेषराशि में सूर्य लगभग २१ मार्च में प्रवेश करता है, और २१ मार्च से पूर्व ही अर्थात् मार्च के तीसरे सप्ताह के आरम्भ में चैत्र का प्रारम्भ होता है, जो कि संवत्सर का आरम्भिक मास है। इस संवत्सरारम्भ को सूचित करने के लिये मन्त्र में "पूर्णं कुम्भराशि" तथा "पश्यामः" का वर्णन हुआ है।

अथवा—विवाह तथा नवशाला प्रवेश का अपना-अपना निश्चित काल होता है। जिस काल में जिसका विवाह हो, तथा जिस काल में नव-शाला में प्रवेश करना हो, वह-वह काल उस-उस विवाह का, तथा उस-उस नवशाला प्रवेश का नियतकाल है। स्वर्गीय गृहस्थ सूक्त(अथर्व०४।३४। ६-७) में चार कुम्भों का वर्णन है। **यथा—"घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना"**; तथा **"चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना"**। इन मन्त्रों में "घृतह्रदाः तथा मधुकूलाः' द्वारा गौओं का वर्णन है। ह्रद और कूल का एक ही अर्थ है—सरोवर। कूलम्=A pond (आपटे), गौएं घृत की सरोवर हैं, और मधुर दूध की सरोवर हैं। मन्त्र ४।३४।७ में चार प्रकार के चार कुम्भों को घर में रखने का विधान किया हैं। ये कुम्भ सुरोदक क्षीर (=दूध) उदक और दधि से पूर्ण होने चाहियें। "सुरोदक" का अभिप्राय है"सुरावत्=अभिषव (Distillation) क्रिया द्वारा प्राप्त विशुद्ध जल। तथा "उदक" द्वारा सामान्य जल अभिप्रेत है। ये चार कुम्भ पूर्ण कुम्भ हैं। इसी प्रकार नवशाला प्रवेश (अथर्व० ३। १२।८) सम्बन्धी निम्नलिखित मन्त्र एक पूर्ण-कुम्भ का वर्णन करता है।

यथा—"पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतं घृतस्य धारामममृतेन संभृताम्। इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्" ।। अर्थात्—हे नारि ! तू अमृत से भरे पिघले घृत की धारा वाले इस पूर्ण-कुम्भ अर्थात् भरे-कुम्भ को ला, और घृतपायी इन शालानिवासियों को अमृत घृत द्वारा कान्ति-सम्पन्न कर। और घृत द्वारा सम्पन्न इष्टियां (यज्ञ) और परोपकार के कार्य (आपूर्त) इस शाला की रक्षा करें। इमां पातॄन्=इमान् पातॄन्। धाराम्=धारां धारयन्तम्।]

३८९. स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः ।।४।।

(सः एव) उस काल ने ही (भुवनानि) भुवनों को (सम्) सम्यक् प्रकार से (आ भरत्) पूर्णतया धारित किया हुआ है। (सः एव) उस काल ने ही (भुवनानि) भुवनों को (सम्) सम्यक् (परि ऐत्) घेरा हुआ है। (पिता) वह काल पिता (सन्) होता हुआ (एषाम्) इन भुवनों का (पुत्रः) पुत्र (अभवत्) हुआ है। (वै) निश्चय से (तस्मात्) उस से (परम्) उत्कृष्ट (अन्यत्) और कोई (तेजः) भौतिक तेज (नः अस्ति) नहीं है।

[एषाम्=काल भिन्न-भिन्न भुवनों को भिन्न-भिन्न काल में पैदा करता है, अतः काल इन का पिता हैं। भुवनों की विविध गतियों से वसन्त काल आदि तथा प्रातःकाल सायंकाल आदि पैदा हो रहे हैं, अतः काल इनका पुत्र भी है। तेजः=सभी भूत-भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति प्रलय काल द्वारा नियन्त्रित है। इसलिये कोई भी भूत भौतिक पदार्थ काल की अपेक्षा उत्कृष्ट तेजवाला नहीं। केवल परमेश्वर ही काल से उत्कृष्ट तेज-वालाहै। क्यों कि काल परमेश्वराश्रित है (मन्त्र३)। इसलिये परमेश्वर को "कालकालः" अर्थात् काल का भी काल कहा है। यथा—"ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः" (श्वेता० उप० ६।२)।]

३९०. कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ।।५।।

(कालः) काल ने (अमूम्) उस (दिवम्) द्युलोक को (अजनयत्) पैदा किया है। (उत) और (कालः) काल ने (इमाः) इन (पृथिवीः) पृथिवियों अर्थात् पृथिवी चन्द्र और ग्रहों को पैदा किया है। (काले)

काल में (ह) ही (भूतम् भव्यम्) भूत और भविष्यत्, (च) और (इषितम्) प्रेरित हुआ वर्तमान जगत् (ह) निश्चय से (वि तिष्ठते) स्थित है । [पृथिवीः=पृथिवी शब्द यहां बहुवचनान्त है, इसलिये नाना पृथिवियों का सूचक है । ये नाना पृथिवियां ग्रह-उपग्रह रूप हैं ।]

३९१. कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।

काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥६॥

(कालः) काल ने (भूतिम्) जगत् की सत्ता, समृद्धि, धन, और योग-जन्य विभूतियों की (असृजत) सृष्टि की है । (काले) ग्रीष्मकाल में (सूर्यः तपति) सूर्य तपता है । (काले ह) काल में ही (विश्वा भूतानि) सब भूत-भौतिक जगत् स्थित है । (काले) काल में (चक्षुः) आंख (वि पश्यति) विविध जगत् को देखती है । [स्वप्नकाल में नहीं देखती, जागरित काल में देखती है ।]

३९२. काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।

कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥

(काले) काल में (मनः) मननशक्ति, (काले) काल में (प्राणः) प्राण-शक्ति, और (काले) काल में (नाम) नाम (समाहितम्) रखा जाता है । (आगतेन कालेन) आए काल द्वारा (इमाः) ये (सर्वाः) सब (प्रजाः) प्रजाएं (नन्दन्ति) प्रसन्न तथा समृद्ध होती हैं ।

[मनः=सृष्टि के सर्जन के निमित्त परमेश्वरनिष्ठ मनन । प्राणः =प्राणवायु की उत्पत्ति । नाम=वैदिक शब्दावलि, अर्थात् वेदों[1] का आवि-र्भाव। अथवा—शिशु की उत्पत्ति के निश्चित काल में ही उसमें मननशक्ति, गर्भावस्था में प्राणशक्ति, तथा निश्चित काल में ही उसका नामकरण होता है। नन्दन्ति=आए शुभ अवसरों पर प्रजाजन प्रसन्न तथा समृद्ध होते हैं ।]

३९३. काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥८॥

---

१. ऋग्वेद में वेदों को "नामधेयम्" कहा है । नामदेय और नाम—एकार्थक हैं । यथा—"बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः" (१०।७१।१) ।

(काले) काल में (तपः) ब्रह्म का ज्ञानमय तप, (काले) काल में (ज्येष्ठम्) ब्रह्म का ज्येष्ठपन, (काले) काल में (ब्रह्म) ब्रह्म का प्रवृद्धपन (समाहितम्) समाश्रित है। (कालः) काल (ह) निश्चय से (सर्वस्य) सब का (ईश्वरः) शासक है, (यः) जो काल कि (प्रजापतेः) प्रजापति का (पिता आसीत्) पिता हुआ है।

[ज्येष्ठ ब्रह्म और प्रजापति ये नाम परमेश्वर के सूचक हैं। इस दृष्टि से "तपः" शब्द भी परमेश्वर सम्बन्धी प्रतीत होता है। "**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः**" (मुण्ड० उप० १।१) के अनुसार परमेश्वर के सम्बन्ध में तप को ज्ञानमय कहा है। जगत् के सर्जन में परमेश्वर में प्रथम "ईक्षण" प्रकट होता है, जिसे उपनिषद् में "ईक्षांचक्रे" द्वारा सूचित किया है (अथर्व० १८।५२।१की व्याख्या)। इस ईक्षण को उपनिषद् में "ज्ञानमय तप" कहा है। "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (वेदान्त)द्वारा भी "ईक्षति" द्वारा "ज्ञान-मय तप" निर्दिष्ट हुआ है।

ज्येष्ठम्=ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व कालापेक्षित हैं। प्रथमोत्पन्न ज्येष्ठ कहलाता है, और पश्चादुत्पन्न कनिष्ठ। काल में जब कनिष्ठ पदार्थ उत्पन्न हुए, तब कनिष्ठत्व की अपेक्षा से परमेश्वर में ज्येष्ठत्व का भान हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रवृद्धपन भी अप्रवृद्ध पदार्थों की सत्ता की अपेक्षा करता है। और ये अप्रवृद्ध पदार्थ कालानुसार ही प्रकट होते हैं। ब्रह्म=बृंहति वर्धते सत् (उणा० ४।१४७)। प्रजापतेः=प्रजापति नाम भी तभी सार्थक हो सकता है,जब प्रजाएं हों। और प्रजाओं का होना काला-पेक्षित है। इसलिये "काल" प्रजापति के प्रजापतित्व का पिता अर्थात् उत्पादक है।

अथवा—तपः=ग्रीष्मर्तुः। ज्येष्ठम्=ज्येष्ठमास या कालापेक्षया बड़ा होना। ब्रह्म=वैदिक मन्त्र या वेद। यथा—"अयं ब्रह्म सनातनम्...ऋग्यजुः-सामलक्षणम्" (मनु०)। वेद भी काल में ही प्रकट होते हैं। प्रजापतेः=प्रजा-जनों का रक्षक राजा, या सन्तानों का रक्षक गृहस्थी। इन दोनों में पतित्व-भावना प्रजाजनों तथा सन्तानों की सत्ता पर आश्रित है, और इन की सत्ता कालाश्रित है।]

३९४. तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥९॥

(तेन) उस काल द्वारा (इषितम्) प्रेरित, (तेन) उस काल द्वारा (जातम्) उत्पन्न (तत्) वह जगत् (तस्मिन्) उस काल में (उ) निश्चय से (प्रतिष्ठितम्) स्थित है। (कालः ह) काल ही मानो (ब्रह्म भूत्वा) ब्रह्मरूप होकर (परमेष्ठिनम्) परम स्थान अर्थात् द्युलोक में स्थित नक्षत्रादि का भी धारण पोषण करता है।

["भूत्वा" द्वारा स्पष्ट है कि काल वस्तुतः ब्रह्म नहीं, अपितु लगभग ब्रह्मवत् शक्तिशाली है। क्योंकि जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय काल के अधीन है। परमेश्वर भी कालबद्धसा होकर उत्पत्ति आदि करता है।]

३९५. कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयंभूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥१०॥

(कालः) काल ने (प्रजाः) प्रजाओं का (असृजत) सर्जन किया। (कालः) काल ने (अग्रे) आरम्भ में (प्रजापतिम्) परमेश्वर में प्रजापतिपन का सर्जन किया। (स्वयंभू) स्वाश्रित-सत्ता वाला परमेश्वर (कालात्) काल से (कश्यपः) पश्यक अर्थात् ईक्षण करने वाला हुआ, तथा (कालात्) काल से ही (तपः) जगदुत्पादन का तप (अजायत) पैदा हुआ।

[कश्यपः=पश्यकः=पश्यः अर्थात् द्रष्टा। तपः= तप्त विराट्; वि+राज् (दीप्तौ), चमकता हुआ अण्ड। यथा—"**तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्**" (मनु०) इसे ही "**विराडग्रे समभवत् विराजो अधिपूरुषः**" (अथर्व० १९।६।९) द्वारा विराट् कहा है। वर्तमान वैज्ञानिक इसे Nebula कहते हैं, देखो (अथर्व०१९।६।९)। महर्षि दयानन्द के अनुसार परमेश्वर का निज नाम ओ३म् है। शेषनाम गुणकृत और कर्मकृत हैं। अतः गौणिक और कार्मिक नाम काल से सम्बद्ध हैं।]

सूक्त ५४

१–५ भृगुः। कालः।

३९६. कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥१॥

(कालात्) काल से (आपः) जल (समभवन्) प्रकट हुए। (कालात्)

काल से (ब्रह्म) वेद, (तपः) प्रतप्त सूर्य, और (दिशः) दिशाएं प्रकट हुईं। (कालेन) काल से (सूर्यः उदेति) सूर्य उदित होता है। (काले) और काल में (पुनः) फिर (नि विशते) प्रवेश पा जाता है, अस्त हो जाता है।

[आपः="तस्माद्वा एतस्मादात्मनःआकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी" (उपनिषद्) के अनुसार अग्नि से आपः प्रकट हुए। मन्त्र १९।५३।१० में "तपः" द्वारा अग्नि की उत्पत्ति दर्शाई है, और १९।५४।१ में 'आपः' की। यह क्रम उपनिषद् द्वारा भी निर्दिष्ट किया गया है। ब्रह्म=वेद, देखो (१९।५३।८)। दिशः=दिशाओं का परिज्ञान सूर्योदय की दिशा की दृष्टि से होता है, इसलिये तपः=प्रतप्त सूर्य।]

३९७. कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता ॥२॥

(कालेन) समय पर (वातः) वायुः (पवते) बहती है। (कालेन) समय पर (पृथिवी) पृथिवी (मही) महापरिमाण वाली हुई है। (मही) महापरिमाण वाला (द्यौः) द्युलोक (काले) समय पर (आहिता) स्थापित हुआ है [आकाश में]।

[वातः पवते=कभी पूर्वी वायु बहती है, कभी मानसून वायु, कभी ग्रीष्म ऋतु की झंझावात आदि। मही=पृथिवी कभी आग्नेयरूप थी, फिर द्रवरूप हुई, अब "दृढा" होकर महापरिमाणवाली हुई दीखती है। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" (यजु० ३२।६)। द्युलोक अभी तक उग्र अर्थात् आग्नेयरूप है।]

३९८. कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥३॥

(पुत्रः) पुत्ररूप (कालः ह) काल ने निश्चय से (भूतम् भव्यम् च) भूत और भविष्यत् को (पुरा) पहले भी (अजनयत्) पैदा किया। (कालात्) काल से (ऋचः) वेदों की छन्दोमयी रचना (समभवत्) प्रकट हुई। (यजुः) और वेदों की गद्यमयी रचना (कालात्) काल से (अजायत) पैदा हुई।

[पुत्रः=इस से प्रतीत होता है कि काल का भी कोई पिता है, जिसका कि

काल पुत्र है। वह पिता परमेश्वर ही है। अथवा—देखो मन्त्र(१९।५३।४)। परमेश्वर से काल पैदा हुआ, और अन्य सृष्टि काल द्वारा नियन्त्रित होकर पैदा हुई। भूतं भव्यं पुरा=सृष्टि के आरम्भ से ही "भूत और भव्य" की स्थिति रही है, जो कि अब से भविष्यत् में भी चलती जायेगी। अथर्व० १९।५३।४ में काल का पितृत्व और पुत्रत्व दार्शनिक दृष्टि से हुआ है, और १९।५४।३ में काल का पुत्रपन वास्तविक है।]

३९९. कालो यज्ञं समैरयद् देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥४॥

(कालः) काल अर्थात् समय (देवेभ्यः) देवों के लिये, उन के (अक्षितम्) अनश्वर (भागम्) भागरूप (यज्ञम्) यज्ञ को (समैरयत्) प्रेरित करता है,अर्थात् उन्हें प्रदान करता है।(काले)काल अर्थात् समय में (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सराएं, तथा(काले)काल अर्थात् समय में (लोकाः) तीनों लोक (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं।

[यज्ञम्=अग्निहोत्र चातुर्मास्य आदि यज्ञों का अपना-अपना काल अर्थात् समय नियत है। यज्ञ किये जाते हैं, देवों अर्थात् वायु जल वनस्पति आदि की विशुद्धि तथा परिपुष्टि के लिये। यज्ञों में दी गई आहुतियां विनष्ट नहीं होतीं, अपितु ये अग्नि द्वारा सूक्ष्मरूप होकर पदार्थों में दिव्य-गुण स्थापित करती हैं। इसलिये देवों के यज्ञभाग को "अक्षितम्" कहा है, अर्थात् क्षीण न होनेवाला भाग।

गन्धर्वाप्सरसः=यजुर्वेदोक्त गन्धर्वों और अप्सराओं के स्वरूप—

(१) "**अग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम**" (१८।३८), अर्थात्—गन्धर्वः=अग्नि; और अप्सरसः=ओषधियां। (२)"**सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम**"(१८।३९), अर्थात्—गन्धर्वः=सूर्य; और अप्सरसः=मरीचयः=किरणें। (३) "**चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम**" (१८।४०), अर्थात्—गन्धर्वः=चन्द्रमा; और अप्सरसः =नक्षत्राणि। (४) "**वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽप्सरस ऊर्जो नाम**" (१८।४१), अर्थात्—गन्धर्वः=वातः=वायु; और अप्सरसः=आपः=जल। ऊर्जः=बल और प्राणशक्तियों का प्रदाता अन्न।क्योंकि वायु द्वारा वर्षा होती,और वर्षा से अन्न होता है। (५) "**यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम**"

(१८।४२), अर्थात्—गन्धर्वः=यज्ञ; और अप्सरसः=दक्षिणाएं। (६) "मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम" (१८।४३); अर्थात्—गन्धर्वः=मन; और अप्सरसः=ऋक् और साम। इन सब गन्धर्वों और इन की अप्सराओं अर्थात् शक्तियों का विकास काल द्वारा नियन्त्रित होता है। ओषधियों को "मुदः" कहा है, क्योंकि इन के होते ही जीवन में मोद-प्रमोद होते हैं। मरीचियों को "आयुवः" कहा है, क्योंकि ये वस्तुओं में परस्पर मिश्रण और अमिश्रण करती हैं। आयुवः=आ+यु (मिश्रणे, अमिश्रणे)। नक्षत्रों को "भेकुरयः" कहा है, क्योंकि ये द्युलोक में प्रभासम्पन्न हैं। आपः और ऊर्जः का सम्बन्ध स्पष्ट ही है। दक्षिणाओं को "स्तावाः" कहा है, क्योंकि दक्षिणा के आधार पर ऋत्विक् यज्ञ करते, और यज्ञ में स्तवन करते हैं। ऋक् और साम को "एष्टयः" कहा है, क्योंकि ये अभीष्टों को सिद्ध करते हैं, अभिलाषाओं को सिद्ध करते हैं।]

४००. कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥५॥

(अयम्) यह (देवः) दिव्य (अङ्गिराः) अङ्गिरा, (च) और दिव्य (अथर्वा) अथर्वा (कालेऽधि) काल में (तिष्ठतः) स्थित हैं। (च इमं लोकम्) और इस लोक अर्थात् पृथिवी को, (च परमं लोकम्) तथा परमलोक अर्थात् द्युलोक को, (च पुण्यान् लोकान्) और पुण्यलोकों को, (च पुण्याः विधृतीः) तथा पुण्य धारक साधनों को, तथा (ब्रह्मणा) ब्रह्म के सहारे (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (अभिजित्य) जीत कर (सः कालः) वह काल (परमः देवः) परमदेव अर्थात् ब्रह्म के (न) सदृश हुआ-हुआ (ईयते) विचरता है।

[देवः=इससे ज्ञात होता है कि अङ्गिरा और अथर्वा ऋषि कोटि के मनुष्य नहीं, अपि तु ये सूर्य चन्द्र आदि की तरह देव हैं। अङ्गिराः=अग्नि और प्राणवायु। "तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य" (यजु० ३।३] द्वारा यज्ञियाग्नि को समिधाओं तथा घृत से बढ़ाने का विधान है। इस अग्नि को मन्त्र में "अङ्गिरः" कहा है, जोकि सम्बुध्यन्त पद है। अतः अङ्गिराः=पार्थिव अग्नि। तथा "अच्छा हि

त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे" (अथर्व० २०।१०३।३) में अङ्गिरा को यज्ञ में घृताहुति देने का वर्णन है। अतः अङ्गिरा=पार्थिव अग्नि है। तथा अङ्गिराः=प्राण (शतपथ० ६।१।२।८) का भी नाम है।

अथर्वा=सूर्य; क्योंकि सूर्य अपने स्थान में स्थित रहता है। अथर्वा= थर्वतिः चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः(निरु०११।३।१९)। अर्थात् अथर्वा वह है, जो कि चलता नहीं, अपना स्थान नहीं बदलता। उपग्रहों समेत ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं, परन्तु सूर्य सौरमण्डल में निज सापेक्षिक स्थिति को नहीं बदलता। तथा "दिवि देवा अथर्वाणः" (अथर्व० ११।६।१३) द्वारा अथर्वा देवों की स्थिति द्युलोक में दर्शाई है। सम्भवतः इस मन्त्र में "अथर्वाणः" द्वारा अथर्वा-सूर्य की किरणें अभिप्रेत हों। इस मन्त्र में भी अथर्वाणः को देवाः कहा है, ऋषयः नहीं। इस प्रकार पृथिवीस्थ अग्नि, या अन्तरिक्षस्थ प्राणवायु, और द्युलोकस्थ सूर्य भी काल में ही स्थित हैं। ये नियत कालों में पैदा हुए, तथा नियत कालों तक स्थित रहेंगे।

पुण्यान् लोकान्=यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ (यजु० २०।२५)—अर्थात् जिस देश में ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवेत्ता वैदिक विद्वान्, तथा क्षत्र अर्थात् क्षतों से प्रजा का त्राण करने वाले क्षत्रिय, परस्पर प्रीतिपूर्वक साथ-साथ विचरते हैं, तथा जिस देश में प्रजा के विद्वान् तथा दिव्य प्रजाजन यज्ञियाग्नि के साथ और अग्रनेताओं के साथ ऐकमत्य में रहते है, उस देश को मैं "पुण्यलोक" जानता हूं।

विधृतीः पुण्याः=ऐसे पुण्यलोकों या पुण्यप्रदेशों का धारण करनेवाले हैं—मन्त्रोक्त उपाय। अर्थात् (१) ब्राह्मणों और क्षत्रियों का परस्पर प्रेम-पूर्वक वर्ताव या व्यवहार; (२) तथा इनका परस्पर विचरना अर्थात् परस्पर सहयोग देना; (३)यज्ञों का करना; (४)राष्ट्रों के अग्रनेताओं के साथ ऐकमत्य में रहना। ये उपाय हैं स्वयं पुण्यरूप। ये उपाय हैं—"विधृतीः रूप" अर्थात् राष्ट्रों का विशेष रूप में धारण करनेवाले।

इन दोनों काल सूक्तों में यह दर्शाया है कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय काल द्वारा नियन्त्रित है। परन्तु स्वयं काल परमेश्वराश्रित है, तथा परमेश्वर की सहायता द्वारा कार्यक्षम होता है।]

छठा अनुवाक समाप्त॥

सूक्त ५५

१-६ भृगुः । अग्निः ।

४०१. रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥१॥

(रात्रिरात्रिम्) प्रत्येक रात्रि (अप्रयातम्) विना प्रमाद किये (इव) जैसे (तिष्ठते) स्थित (अस्मै) इस (अश्वाय) अश्व के लिये (घासम्) घास (भरन्तः) लाते हैं, वैसे (अग्ने) हे अग्रणी राजन्! (ते) आप के लिये (घासम्) अन्नादि सामग्री की (भरन्तः) भेंट करते हुए, (ते प्रतिवेशाः) आपके समीपवासी हम प्रजाजन (रायस्पोषेण) धन की परिपुष्टि द्वारा, तथा (इषा) अन्नों और अभीष्टों द्वारा (सम् मदन्तः) सम्यक् प्रसन्न होते हुए (रिषाम मा) दुःखित पीड़ित न हों।

[इस सूक्त में अग्नि, रुद्र (मन्त्र ५), इन्द्र (मन्त्र ६), तथा सभ्य, सभा, सभ्याः और सभासदः (मन्त्र ५) का वर्णन है। समग्र सूक्त के समन्वित अर्थ की दृष्टि से "इन्द्र" इस सूक्त का प्रतिपाद्य प्रतीत होता है। इन्द्र का अर्थ है—राजा। यथा—"इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७)। अग्नि और रुद्र द्वारा इन्द्र का ही वर्णन हुआ है। अग्नि=अग्रणीः (निरु०७।४।१४) अर्थात् राष्ट्र का अग्र-नेता। रुद्र है—दुष्ट शत्रुओं को रुलानेवाला, अर्थात् सेनाओं का पति। वेद में इन्द्र को सेनापति के रूप में भी वर्णित किया है। यथा—"इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्' (अथर्व०३।१।५); तथा "इन्द्रः सेनां मोहयतु" (अथर्व० ३।१।६)। घासम्=घास तथा भोजन सामग्री अन्नादि; घस्लृ अदने। घासम्=भोगने योग्य पदार्थों को (यजु० ११।७५) महर्षि दयानन्द भाष्य। अप्रयातम्=विना विच्छेद के, सदा।]

४०२. या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥२॥

(अग्ने) हे अग्रणी राजन्! (वसोः) प्रजाजनों को बसानेवाले (ते) आप की (या) जो (वातः इषुः) वातरूपी इषु है, (एषा सा) यह वह (ते)

आप के अधिकार में है, (तया) उस के प्रयोग द्वारा (नः) हमें (मृड) सुखी कीजिये । (रायस्पोषेण...... रिषाम) पूर्ववत् ।

[वातः इषुः=वायव्यास्त्र । यथा—"इन्द्र...... वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय" (अथर्व० ३।१।५)—अर्थात् हे राजन् ! वायु के वेग द्वारा नाना दिशाओं में व्याप्त या भागनेवाले उन शत्रु सैनिकों का विनाश कर । "अप्वा" भी एक प्रकार का वायव्यास्त्र है । यथा—"अमीषां चित्तानि प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि । अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्राँस्तमसा विध्य शत्रून्" ॥ (अथर्व०३।२।५)। तथा तामसास्त्र, यथा—"असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना । तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्" ॥ (अथर्व० ३।२।६)—हे अप्वास्त्र ! दूर जा, इन शत्रुओं के चित्तों को व्यामोहित, अर्थात् किंकर्त्तव्यविमूढ़ करता हुआ इनके अङ्गों को जकड़ दे । शत्रुओं की ओर जा, शोकों द्वारा इन के हृदयों को दग्ध कर । हे अङ्गों को जकड़नेवाले ! तू अमित्र=शत्रुओं को अन्धकार द्वारा वींध (३।२।५) । तामसास्त्र यथा—"हे वायु के समान वेग वाले या मारने में कुशल सैनिको ! स्पर्धा करती हुई वह जो पराई सेना वेग से हमारी ओर आती है, उसे अकर्मण्य कर देने वाले अन्धकार द्वारा वींध डालो । ताकि इन में से परस्पर एक-दूसरे को न जान पहिचान पाएं" । अप्वा=अप+वा (गतौ) । तमसा=अप्वा अस्त्र चित्तों को ज्ञानशून्य करता, अङ्गों को जकड़ देता, और शत्रुदल में अन्धकार फैला देता है । ऐसे शस्त्रास्त्रों के प्रयोग करने या न करने का अधिकार राजा को होना चाहिये (ते एषा)।]

४०३. सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥३॥

(अग्निः) अग्रणी राजा (सायंसायम्) प्रत्येक सायंकाल (नः) हमारे (गृहपतिः) गृह आदि सम्पत्तियों की रक्षा करनेवाला हो । और (प्रातः-प्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल (सौमनसस्य) मानसिक प्रसन्नता का (दाता) देनेवाला हो । हे अग्रणि ! (वसोः वसोः) हर प्रकार की अभीष्ट वस्तुओं के (वसुदानः) दाता (एधि) आप हूजिये । (वयम्) हम प्रजाजन (त्वा) आप को (इन्धानाः) समुज्ज्वल करते हुए, आप की कीर्ति को बढ़ाते हुए

(तन्वम्) आपकी तथा अपनी तनू को (पुषेम) परिपुष्ट करें।

[सायंसायम्=सायंकाल से लेकर प्रातःकाल तक। प्रातःप्रातः=प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक। यह मन्त्र सायंकाल के अग्निहोत्र और उपासना का भी सूचक है। परन्तु सूक्त के समन्वित अर्थ की दृष्टि से राजापरक अर्थ किया है। मन्त्रों के त्रिविध अर्थ हो सकते हैं—आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक। तन्वम्=राजा की तनू के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र भी प्रकाश डालता है—

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
उरू प्ररत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥ (यजु० २०।८)

हे प्रजाजनो ! मेरा राष्ट्र मेरी पीठ के सदृश है; और पेट, स्कन्ध, कण्ठप्रदेश, कटिप्रदेश, जंघा, भुजाओं का मध्यप्रदेश, गोड़ के मध्यप्रदेश, तथा सब ओर के मेरे अङ्ग प्रजाजन हैं"। (यजुर्भाष्य, महर्षि दयानन्द) भावार्थ—जो अपने अङ्गों के तुल्य प्रजा को जाने, वही राजा सर्वदा बढ़ता रहता है (महर्षि दयानन्द)। अर्थात् राजा की तनू है—राष्ट्र और प्रजाजन।]

४०४. प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥४॥

(अग्निः) अग्रणी राजा (प्रातःप्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल (नः) हमारे (गृहपतिः) घर आदि सम्पत्तियों का रक्षक हो। और (सायंसायम्) प्रत्येक सायंकाल (सौमनसस्य) मानसिक प्रसन्नता का (दाता) देनेवाला हो। हे अग्रणी राजन् ! (वसोः वसोः) हर प्रकार की अभीष्ट वस्तुओं के (वसुदानः) दाता (एधि) आप हूजिये। (त्वा) आपको (इन्धानाः) समुज्ज्वल करते हुए, आप की कीर्ति को बढ़ाते हुए हम (शतं हिमाः) सौ हेमन्त-ऋतुओं तक (ऋधेम) बढ़ते रहें।

[प्रातःप्रातः, सायंसायम्=अर्थात् प्रति प्रातःकाल से प्रति सायंकाल तक हमारी सम्पत्तियां सुरक्षित रहें, और प्रति सायंकाल से प्रति प्रातःकाल तक हम प्रसन्नचित रहकर सौ वर्षों तक बढ़ते रहें। मन्त्र प्रातःकाल के अग्निहोत्र और उपासना का भी सूचक है।]

मन्त्र ३-४ के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ

(सायंसायम्) प्रतिदिन प्रातः-सायं श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त (गृहपतिः) यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक (अग्निः) भौतिक अग्नि और परमेश्वर (सौमनसस्य) आरोग्य आनन्द और (वसोर्वसोः) वसु अर्थात् धन का (दाता) देनेवाला है। इसी से परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित (एधि) रहो। यहां भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है। हे परमेश्वर! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से (वयम्) हम (त्वा) आप को (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए (तन्वं पुषेम) अपने शरीर से पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी (इन्धानाः) प्रज्वलित करते हुए परिपुष्ट हों। (प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्यन्त अर्थात् सौ वर्षों तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों।

[ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, पञ्चमहायज्ञ-विषय, महर्षि दयानन्द को व्याख्यानुसार।]

४०७. अपश्चा दुग्धान्नस्य भूयासम्। अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये। सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥८॥

(सभ्यः) मैं सभाध्यक्ष (दग्धान्नस्य) खेत-पके अन्न से (अपश्चा) पिछड़ा हुआ न (भूयासम्) होऊं। ताकि (अन्नादाय) अन्नभाग का आदान करनेवाले, (अन्नपतये) अन्नों के स्वामी; (रुद्राय) शत्रुओं को रुलानेवाले, (अग्नये) अग्रनेता राजा के लिये (नमः) अन्न मैं भेंट कर सकूं। हे सभाध्यक्ष! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा कर। (च) और (ये) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभा में बैठे हैं, वे भी मेरी सभा की रक्षा करें।

[दग्धान्नस्य=दग्ध का यहां अर्थ है—"पका हुआ"; अभिप्राय है "खेत में पका हुआ" अन्न। दग्ध शब्द का प्रयोग "जले हुए" अर्थ में ही नहीं होता। यथा—"विदग्ध" का अर्थ है विद्वान् तथा चतुर। इसी प्रकार शोक-

दग्धहृदयः—दग्धोदरस्यार्थे, नाद्यापि मे दग्धदेहः पतति । इस प्रकार भिन्न-भिन्न अभिप्रायों में दग्ध शब्द का प्रयोग होता है । अथवा—"अपश्च+अद-ग्धान्नस्य" । अदग्धान्न=अच्छा अन्न । अन्नादाय=अन्नमादत्ते इत्यन्नादः[1] (छान्दसः कः प्रत्ययः) तस्मै । मनुस्मृति के अनुसार उपज का षष्ठभाग राज्यकर के रूप में राजा ग्रहण करता है । राजा को मन्त्र में "अन्नपति" कहा है । नमः=अन्नम् (निघं० २।७) । सभाध्यक्ष सभास्वीकृत नियम द्वारा उपज के षष्ठांश को लेकर राज्यकोष में देता है ।]

४०६. त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत् ।
अहरहर्बलिमित् ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।।६।।

(पुरुहूत) बहुधा निमन्त्रित (इन्द्र) राजन् ! (त्वम्) आप (विश्व-मायुः) सम्पूर्ण आयु को (व्यश्नवत्=व्यश्नवः=अश्नुहि) प्राप्त करें, अर्थात् १००वर्षों तक जीवित रहकर राज्य करें । (इव) जैसे (तिष्ठते अश्वाय) स्थिर अश्व के लिये (अहरहः) प्रतिदिन अर्थात् नियमपूर्वक (घासम्) घास-चारा (हरन्तः) लाते हैं, वैसे (अग्ने) हे अग्रणी राजन् ! (तिष्ठते) राज्यगद्दी पर स्थिररूप में स्थित (ते) आप के लिये (इत्) निश्चय ही (बलिम्) राज्यकर (हरन्तः) लानेवाले हम हों ।

[विश्वम् आयुः; तिष्ठते=वेदोक्त आज्ञानुसार निर्वाचित योग्य राजा आयुभर राजा रह सकता है । यथा—

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ।।अथर्व० ३।४।७।।

अर्थात् सन्मार्गगामी, ऐश्वर्यों से सम्पन्न, बहुधा विविधरूपोंवाली सब प्रजाओं ने मिलकर, तेरा वरण अर्थात् निर्वाचन किया है । वे सब एकमत होकर आपका आह्वान करें । आप प्रसन्नचित्त होकर, और शासन में उग्र होकर, इस राष्ट्र में दसवीं अवस्था अर्थात् ९० वर्षों से ऊपर की अवस्था तक ,प्रजा को अपने वश में रखें । बलिम्—राज्यकर, अन्न के रूप में । यथा—"**प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्**" (रघुवंश १।१८); तथा (मनुस्मृति ७।८०; ८।३०७) ।]

१. यथा—"आह्वः प्रह्वः" । अथवा अन्न+अद+चतुर्थी । अन्न खानेवाला स्वस्थ, ऐसे राजा के लिये ।

सूक्त ५६

१–६ यमः । स्वप्नः ।

**४०७. यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्षि धीरः ।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥१॥**

(यमस्य) जागरित वृत्तियों से उपराम वाले (लोकात्) लोक अर्थात् चित्त से (अधि) अधिकारपूर्वक हे स्वप्न ! तू (आ बभूविथ) आ प्रकट हुआ है। (धीरः)स्वाप्निक कर्मों का प्रेरक तू (मर्त्यान्)मनुष्यों को(प्रमदा) प्रमाद से (प्र युनक्षि) युक्त कर देता है। (असुरस्य) प्राणवान् अर्थात् जीवित मर्त्य के(योनौ) शरीर-गृह में (स्वप्नम्) सुषुप्ति का (मिमानः) निर्माण करता हुआ, (विद्वान्) और चित्त में विद्यमान होता हुआ तू (एकाकिना) जागरित वृत्तियों से वञ्चित हुए, और इसलिये अकेले हुए जीवात्मा के साथ (सरथम्) एक ही चित्तरथ में (यासि) विचरता है।

[यमस्य=यम उपरमे,अर्थात् जागरित वृत्तियों का उपराम=अभाव। स्वप्नावस्था में जागरित चित्तवृत्तियां नही होतीं। अधि=स्वप्न मानो निजाधिकारपूर्वक चित्त में प्रवेश पा लेता है। समय पर न चाहते हुए को भी स्वप्न आ घेरता है। धीरः=धी कर्मनाम (निघं० २।१)+ईरः प्रेरक (ईर् गतौ)। असुरस्य="**असुरिति प्राणनाम, अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वान् असुरः**" (निरु० ३।२।८)। योनौ=गृहनाम (निघं० ३।४)। सरथम्=निज प्रतिबिम्ब या शक्तिरूप से जीवात्मा चित्त में विद्यमान होता है,और उसी चित्त में स्वप्न भी विद्यमान होता है। इसलिये जीवात्मा और मन "समान" अर्थात् एक चित्तरथ में विचर रहे होते हैं। स्वप्नं मिमानः =स्वप्नावस्था के बाद सुषुप्ति की अवस्था अवश्य आती है, चाहे स्वल्प-काल के लिये ही आए। इसलिये स्वप्नावस्था, सुषुप्त्यवस्था का निर्माण करती है।]

**४०८. बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि।
ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः ॥२॥**

(रात्र्याः) मृत्युरूपी रात्री के (जनितोः पुरा) प्रकट होने से पूर्व, अर्थात् जीवनकाल में (बन्धः) बद्ध जीवात्मा ने (अग्रे) पहिले (विश्व-

चयाः) सब प्रकार के संस्कारों का चयन किया था, तब (एके अह्नि) एक दिन अर्थात् शिशु की उत्पत्ति के दिन हे स्वप्न ! (त्वा) तुझे बद्ध जीवात्मा ने (अपश्यत्) देखा। (स्वप्न) हे स्वप्न! (ततः) तब से अर्थात् शिशु की उत्पत्ति के काल से (इदम्) इस शरीर में (आ बभूविथ) तू आ प्रकट हुआ है। (भिषग्भ्यः) चिकित्सकों से भी तू (रूपम्) निज स्वरूप को (अप गूहमानः) छिपाये हुए है, अर्थात् चिकित्सक भी तेरे स्वरूप को नहीं जानते।

[अभिप्राय यह कि जीवितकाल में बद्ध जीवात्मा स्वप्न के कारणीभूत संस्कारों का चयन करता रहता है। मृत्यु के पश्चात् जिस दिन शिशुरूप में जन्म लेता है, उसी दिन से जीवात्मा स्वप्नरूप में उन संस्कारों को देखने लगता है। उत्पन्न शिशु में भी मुस्करान तथा रोना आदि कर्म देखे जाते हैं, जोकि पूर्वजन्म में संचित-संस्कारों का उद्बोधन अर्थात् स्वप्नरूप होते हैं। भिषग्भ्यः=अर्थात् चिकित्सक तो शरीर और मन के विशेषज्ञ होते हैं, परन्तु ऐसे विज्ञ भी स्वप्नों के रहस्यों को वास्तविकरूप में नहीं जानते।]

तथा—(रात्र्याः) आगामी प्रलय-रात्री की (जनितोः) उत्पत्ति से (पुरा) पहिले ही (एके अह्नि) एक दिन अर्थात् सृष्टित्युत्पत्ति के दिन (अग्रे) प्रारम्भ में (विश्वचयाः) विश्व का चयन अर्थात् निर्माण करनेवाले (बन्धुः) और उत्पन्न होनेवाले पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध पैदा करनेवाले परमेश्वर ने, हे स्वप्न ! (त्वा) तुझे (अपश्यत्) देखा था। (ततः) तत्पश्चात् (स्वप्न) हे स्वप्न ! (इदम्) इस जगत् में (अधि) स्वाधिकार रूप में (आ बभूविथ) तू आ प्रकट हुआ है। (भिषग्भ्यः—गूहमानः) पूर्ववत्।

[सृष्ट्युत्पादन से पूर्व परमेश्वर में सृष्ट्युत्पादन की "कामना" तथा तदर्थ "ईक्षण" होते हैं। यह "कामना" और "ईक्षण" स्वप्नरूप हैं। क्योंकि कामना और ईक्षण काल में जगत् की सत्ता नहीं होती। जगत् उस अवस्था में कल्पनारूप होता है, जैसे कि हमारे स्वप्नों में स्वाप्निक पदार्थों की सत्ता नहीं होती, और उन की सत्ता काल्पनिक ही होती है। सृष्ट्युत्पत्ति के समय ही सृष्टि के प्रलय का समय भी निश्चित हो जाता है। परमेश्वर के स्वप्न के अनन्तर जब सृष्टि हुई, और हम पैदा हुए, तदनन्तर ही पूर्व तथा नई वासनाओं के कारण हम में स्वप्नोदगम होते हैं। देखो—मन्त्र (अथर्व० ११।५।२।१)।]

४०९. बृहद्गावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन् ।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः ॥३॥

(महिमानम् इच्छन्) महिमा चाहता हुआ (बृहद्गावा) बड़ी गति अर्थात् वेगवाला स्वप्न, (असुरेभ्यः अधि) प्राणपोषणतत्पर लोगों से मानो पृथक् होकर, (देवान्) दिव्यगुणियों के (उप) पास (अवर्तत) चला गया। तब (स्वः) स्वर्गीय सुख को (आनशानाः) प्राप्त (त्रयस्त्रिंशासः) ३३ देवताओं ने (तस्मै स्वप्नाय) उस स्वप्न को (आधिपत्यम्) अधिपतिपन (दधुः) प्रदान किया।

[स्वप्न बड़ी गतिवाला है, महावेगी है, दूरंगम है। यह स्वप्न लेने वाले को क्षण में ही कहीं का कहीं पहुंचा देता है। बृहद्गावा=बृहद्+गावा (गाङ् गतौ)। कविता में स्वप्न को चेतनसा मान कर कहा है कि स्वप्न ने जब महिमा प्राप्त करनी चाही, तब यह प्राणपोषणतत्पर लोगों से पृथक् होकर देवों के पास चला गया। असुरों के स्वप्न आसुरी भावनाओं से ओतप्रोत होते हैं, तब स्वप्नों की महिमा नहीं होती। दिव्यगुणियों के स्वप्न सात्विक होते हैं, दिव्य गुणों वाले होते हैं, जो कि स्वर्गीय सुख तक पहुंचाने में सहायक होते हैं। इसलिये देवों ने ऐसे दिव्य स्वप्नों को अपने पर आधिपत्य का अधिकार दे दिया। जैसे ३३ देवता आधिदैविक हैं, वैसे ३३ देवता आध्यात्मिक भी हैं, जिन का कि निवास शरीर में भी है—यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे।]

४१०. नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम् ।
त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥४॥

(एताम्) स्वप्न की इस सात्विक अवस्था को (न) न तो (पितरः) गृहस्थ में आसक्त (विदुः) जान पाते हैं, (उत न) और न (देवाः) अपर-विद्या के विद्वान्, (येषाम्) जिन विद्वानों के कि (इदम् अन्तरा) इस चित्त के भीतर (जल्पिः) व्यर्थ का वाद-विवाद (चरति) चलता रहता है। (वरुणेन) श्रेष्ठ आचार्य द्वारा (अनुशिष्टाः) शिक्षित (आदित्यासः नरः) आदित्य ब्रह्मचारी पुरुष (स्वप्नम्) निज स्वप्नों को (त्रिते) अत्यन्त

मेधावी, या तीन लोकों का विस्तार करनेवाले, या तीन लोकों में व्याप्त (आप्त्ये) आप्तों में परम आप्त परमेश्वर में (अदधुः) स्थापित कर देते हैं।

[वाद जल्प वितण्डा में जल्प और वितण्डा अनुपादेय हैं, और वाद उपादेय है। वरुणेन="**आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः**" (अथर्व० ११।५।१४) में आचार्य को वरुण भी कहा है। तथा "**अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद् यदैच्छत् प्रजापतौ**" (अथर्व० ११।५।१५), इस मन्त्र में भी वरुण को आचार्य कहा है। त्रिते="**त्रितः तीर्णतमो मेधया**" (निरु० ४।१।७)। तथा त्रि+तन् (विस्तारे)। स्वप्नमदधुः=आदित्य ब्रह्मचारियों जैसे पवित्र लोगों के स्वप्नों में परमेश्वर पर ही ध्यान होता है, न कि सांसारिक पदार्थों पर। यह है परमेश्वर में स्वप्नों का स्थापन।]

४११. यस्य॑ क्रूरमभ॑जन्त दु॒ष्कृतो॒ऽस्वप्ने॑न सु॒कृत॒ः पुण्य॒मायु॑ः ।
स्व॒र्मद॑सि प॒रमे॑ण ब॒न्धुना॑ त॒प्यमा॑नस्य॒ मन॒सोऽधि॑ जज्ञिषे ॥८॥

(दुष्कृतः) दुष्कर्मी (यस्य) जिस दुःस्वप्न की (क्रूरम् अभजन्त) क्रूरता के भागी होते हैं; और हे स्वप्न! जब तू (स्वः) सुखस्वरूप (परमेण बन्धुना) परमबन्धु परमेश्वर के साथ बन्धुत्व को प्राप्त कर (मदसि) संतृप्त हो जाता है, तब (अस्वप्नेन) स्वप्नाभाव के कारण (सुकृतः) सुकर्मी जन (पुण्यम् आयुः अभजन्त) पुण्य अर्थात् पवित्र जीवन के भागी हो जाते हैं। और हे स्वप्न! तू (तप्यमानस्य) दुष्कर्मों के कारण सन्तप्त हो रहे मनुष्य के (मनसः अधि) मन से (जज्ञिषे) उत्पन्न होता रहता है, या हुआ है।

[क्रूरम्=रात्रि को स्वप्नावस्था में दुर्घटनाओं के स्वप्न लेते हुए डरना, रोना-चिल्लाना, घबरा जाना, और चिन्तित होना—यह दुःस्वप्नों की क्रूरता है। अस्वप्नेन=योगीजन निद्रावृत्ति और स्वप्नवृत्तियों तथा विचारों का निरोध कर परमेश्वर के ध्यान में जब लीन हो जाते हैं, तब उन की स्वप्नशक्तियां भी परमेश्वर में लीन होकर मानो संतृप्त होकर अभावरूप हो जाती हैं। तब योगी का जीवन पवित्र हो जाता है, परन्तु दुष्कर्मी लोग सांसारिक भोगों से संतप्त हुए स्वप्नों के शिकार बने रहते हैं। स्वः=अव्यय होने से तृतीयान्तरूप भी सम्भव है। मदसि=मद तृप्तियोगे।]

४१२. विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद् विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते। यशस्विनो नो यशसेह पाह्याराद् द्विषेभिरप याहि दूरम् ॥६॥

(पुरस्तात्) पहिले से (ते) तेरे (सर्वाः) सब (परिजाः) परिजनों अर्थात् परिवारों को (विद्म) हम जानते हैं।(स्वप्न)हे स्वप्न ! (विद्म) हम जानते हैं उसे, (यः) जो कि (इह) इस जीवन में (ते) तेरा (अधिपाः) पालक है। (नः) हम (यशस्विनः) यशवालों को (यशसा) यश के साथ (इह) इस जीवन में (पाहि) सुरक्षित कर। (द्विषेभिः) द्वेष और द्वेषजन्य भावनाओं समेत तू (आरात्) हमारे समीप से (दूरम्) हम से दूर (अप याहि) चला जा।

[परिजाः=स्वप्न में जो अवाञ्छित घटनाएं होती रहती हैं, वे स्वप्न के परिवार हैं। स्वप्न का अधिपा अर्थात् पालक है—रजोगुण और तमोगुण। स्वप्न में जो द्वेषवृत्तियां जागरित हो जाती हैं, उन समेत स्वप्न को दूर भगाने का वर्णन मन्त्र में है। स्वप्नों से रहित होने के लिये दृढ़संकल्प, रागद्वेष से शून्य, तथा निरालस होना चाहिये। मन्त्र में दुःस्वप्न का वर्णन है।]

सूक्त ५७

१—५ यमः। स्वप्नः।

४१३. यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि ॥१॥

(यथा) जिस प्रकार (कलाम्) ऋण के १६ वें हिस्से को, (यथा) जिस प्रकार (शफम्) ऋण के आठवें और चौथे हिस्से को, और (यथा)जिस प्रकार (ऋणम्) शेष ऋण को (सम् नयन्ति) सम्यक्तया ऋणदाता के प्रति पहुंचा देते हैं, (एवा) इसी प्रकार शनैःशनैः (सर्वम्) सब (दुष्वप्न्यम्) दुःस्वप्न और उस के परिणामों को (अप्रिये) अप्रिय पक्ष में (सं नयामसि) सम्यक् प्रकार से अर्थात् शनैः शनैः हम पहुंचा देते हैं।

[कलाम्=Interest on capital (आपटे)। चन्द्रमा की १६ कलाओं की दृष्टि से एक कला है १६वां भाग। शफम्=गौ के चार शफ (=खुर) फटे होते हैं, अतः इस दृष्टि से शफ से अभिप्राय है आठवां भाग, और अश्व

के शफों की दृष्टि से शफ से अभिप्राय है चौथा भाग। अर्थात् ऋण को जैसे विभागशः शनैःशनैः चुका दिया जाता है, वैसे ही संकल्प करके दुःस्वप्न को भी शनैः शनैः अप्रिय जानकर, उसे सदा के लिये अप्रियपक्ष में डाल कर दुःस्वप्नों से छुटकारा पाया जा सकता है।]

४१४. सं राजा॑नो अगुः॒ समृ॒णान्य॑गुः॒ सं कु॒ष्ठा अ॑गुः॒ सं क॒ला अ॑गुः।
सम॒स्मासु॒ यद् दु॒ष्वप्न्यं॒ निर्द्वि॑ष॒ते दु॒ष्वप्न्यँ॑ सुवाम ॥२॥

(राजानः) राजा लोग (सम् अगुः) इकट्ठे हो जाते हैं, (ऋणानि) ऋण (सम् अगुः) इकट्ठे हो जाते हैं, (कुष्ठाः) कुष्ठ रोग (सम अगुः) इकट्ठे हो जाते हैं, (कलाः) चन्द्रमा की कलाएं (सम् अगुः) इकट्ठी हो जाती हैं, इसी प्रकार (दुष्वप्न्यम्) दुःस्वप्नों के संस्कार भी (सम्) इकट्ठे हो जाते हैं। (अस्मासु) हम में (यत्) जो (दुष्वप्न्यम्) इकट्ठे हुए दुःस्वप्नों के संस्कार हैं, उन्हें (द्विषते) द्वेष्य पक्ष में (सुवाम) हम प्रेरित करते हैं, और (निः) अपने में से बाहर निकाल देते हैं।

[राजानः="यत्रौषधीः समगमत राजानः समिताविव" (यजु० १२। ८०), अर्थात् राजा लोग समिति में इकट्ठे होते हैं। ऋणानि=यदि ऋणों को शनैः शनैः न चुकाया जाय, तो सूद-दर-सूद द्वारा ऋण बढ़ जाते हैं। कुष्ठाः=कुष्ठ १८प्रकार के होते हैं। यदि आरम्भ में ही कुष्ठ की चिकित्सा न की जाय,तो इन १८प्रकार के कुष्ठों के आक्रमण की संभावना बनी रहती है। कलाः=पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा की १६ कलाएं इकट्ठी हो जाती हैं। इसी प्रकार मनोबल आदि द्वारा यदि दुःस्वप्नों का संयम न किया जाय, तो इन के भी संस्कार इकट्ठे होकर दुःखदायी हो जाते हैं। इस लिये दुःस्वप्नों को अपने दुश्मन जानकर, दृढ़ संकल्प द्वारा उन्हें चित्तभूमि से बाहर कर देने का यत्न करते रहना चाहिये।]

४१५. दे॒वानां॒ पत्नी॑नां॒ गर्भ॒ यम॑स्य॒ कर॒ यो भ॒द्रः स्व॑प्न।
स मम॒ यः पा॒पस्तद् द्वि॑ष॒ते प्र हि॑ण्मः ।
मा तृ॒ष्टाना॑मसि कृ॒ष्णश॑कु॒नेर्मुख॑म् ॥३॥

(देवानाम्) दिव्यगुणी उपासकों की (पत्नीनाम्) रक्षिका चित्तवृत्तियों के (गर्भ) हे गर्भभूत !, तथा (यमस्य) यमनियमों के परिपालक के (कर)

हस्तरूप से सहायक (स्वप्न) हे सात्त्विक स्वप्न ! (यः) जो तू (भद्रः) सुखदायक और कल्याणकारी है, (सः) वह तू (मम) मेरा हो गया है। (यः) और जो (पापः) पापमय दुःस्वप्न है (तद्) उसे (द्विषते) द्वेष्यपक्ष में (प्र हिण्मः) हम प्रेषित करते हैं। हे दुःस्वप्न ! (तृष्टानाम्) अध्यात्म तृष्णावालों का (मा असि) तू अब नहीं है। तू (कृष्णशकुनेः) काले पक्षी के (मुखम्) काले मुख के सदृश है।

[देवानाम्=दिव्यगुणी उपासक। यथा—"**यत्र देवा अमृतमानशाना-स्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त**" (यजु० ३२।१०); तथा "देवाः=साध्याः =साधना-सम्पन्न तथा, ऋषि लोग =वेदार्थ साक्षात्कर्त्ता। यथा—"**तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये**" (यजु० ३१।९)। गर्भ=जैसे माताओं के गर्भभूत शिशु माताओं से पैदा होते हैं, वैसे सात्विक स्वप्न सात्विक चित्तवृत्तियों से प्रकट होते हैं। कर=हस्त। भद्रस्वप्न हस्तवत् सहायक होते हैं। भद्र स्वप्न यमनियमों के पालक को ऐसे सहायक होते हैं, जैसे कि काम करने और वीरता में हाथ। दुःस्वप्न तामसिक हैं, तमोगुण के परिणाम हैं। तमोगुण को कृष्णवर्ण का कहा गया है। यथा—"**अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णाम्**" (श्वेता० उप० ४।५); लोहित=रजोगुण; शुक्ल=सत्त्वगुण; कृष्ण=तमोगुण। अजा=अजन्मा नित्य प्रकृति। काला पक्षी=अर्थात् कौए का मुख काला होता है, और इस मुख के द्वारा वह चोरी से पड़े अन्न को खा जाता है। तमोगुण भी काला होता है, और चोरी आदि करने का कारण बनता है, और तदनुरूप दुःस्वप्नों को उत्पन्न करता है।]

४१६. तं त्वा॑ स्वप्न॒ तथा॒ सं वि॑द्म॒ स त्वं स्वप्ना॑श्व॑ इव का॒यमश्व॑ इव नीना॒हम्। अ॒ना॒स्मा॒कं दे॑वपी॒युं पिया॑रुं वप॒ यद॒स्मासु॑ दु॒ष्वप्न्यं॒ यद् गोषु॒ यच्च॑ नो गृ॒हे ॥४॥

(स्वप्न) हे भद्र स्वप्न ! [मन्त्र ३] (तं त्वा) उस तुझ को (तथा) वैसा अर्थात् भद्र ही (सं विद्म) हम सम्यक् रूप से जानते हैं। (सः त्वं स्वप्न) वह तू हे भद्र स्वप्न ! (अश्व इव) अश्व जैसे (कायम्) शरीर को, तथा (अश्व इव) अश्व जैसे (नीनाहम्) बन्धी रस्सी या काठी को झुंझला देता है, वैसे तू उस (दुष्वप्न्यम्) दुःस्वप्न को झुंझला दे, (यत्) जोकि अब (अनास्माकम्) हमारा नहीं है। (देवपीयुम्) जो दिव्य विचारों और दिव्य

भावनाओं का विनाशक, तथा (पियारुम्) दुःखदायी है। तथा (यद्) जो दुःस्वप्न अभी (अस्मासु) हम में (गृहे) तथा हमारे गृहवासियों में है, (च यद्) और जो (गोषु) पार्थिव भूखण्डों में है, उसे (वप) छिन्न-भिन्न कर दे।

[भद्र स्वप्न=स्वप्न दो प्रकार के होते हैं-भद्र और अभद्र। भद्र तो वे हैं जो कि सुखदायक और कल्याणकारी हैं। यथा स्वप्न में भी सद्विचारों का उठना, महात्माओ का संग करना, मन्त्रों तथा ओ३म् का जप आदि। तथा अभद्र स्वप्न वे होते है जो कि दुःखदायक और अकल्याणकारी हैं। भद्र स्वप्नों के द्वारा अभद्र स्वप्नों का शनैः शनैः विनाश करना चाहिये। जागरित अवस्था में सद्विचार, सत्संग, स्वाध्याय, ईश्वरीय भावना आदि द्वारा सत्संस्कार जैसे-जैसे सुदृढ़ होते जायेंगे, वैसे-वैसे स्वप्न भद्र होते जायेंगे, और अभद्र स्वप्न ढीले पड़ते जायेंगे। इस विधि को "**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्**" (योग० २।३३) द्वारा भी निर्दिष्ट किया है। देवपीयुम्, पियारुम्=**पीयतिः हिंसाकर्मा** (निरु० ४।४।२५)। गोषु="**गौरिति पृथिव्या नामधेयम्**" (निरु०२।२।५)। गोषु=भूखण्डेषु,भूप्रदेशेषु।]

४१७. अनास्माकस्तद् देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव प्रति मुञ्चताम्।
नवारत्नीनपमया अस्माकं ततः परि।
दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते निर्दयामसि ॥८॥

जो दुःस्वप्न (अनास्माकः) हमारा नहीं रहा, (तत्) उस (देवपीयुः) दिव्यगुणनाशक (पियारुः) दुःखदायक दुःस्वप्न को [हम में से प्रत्येक] (प्रतिमुञ्चताम्) त्याग दे। (न) जैसे [कि मृत व्यक्ति] (निष्कम्) सुवर्ण-निर्मित हार को त्याग देता है। (ततः परि) तत्पश्चात् (अस्माकम्) हमारी (नव अरत्नीन्) नौ अरत्नियां दूर (अपमयाः) हे दुःस्वप्न ! तू चला जा। (सर्वम्) सब (दुष्वप्न्यम्) दुःस्वप्नों और उनके दुष्परिणामों को (द्विषते) द्वेष्यपक्ष में (निर्दयामसि) हम सब निर्दयपूर्वक फैंक देते हैं।

[प्रतिमुञ्चताम्=इस पद के दो अर्थ होते हैं, पहिनना तथा त्याग देना। दुःस्वप्न को त्यागा जाता है, पहिना नहीं जाता। प्रतिमुञ्च्=यथा —"**गृहीतप्रतिमुक्तस्य**" (रघुवंश ४।४३), तथा—"**अमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि**" (रघुवंश ३।४६) में "**प्रतिमुञ्च्**" का अर्थ है—त्यागना, छोड़ना।

दुःस्वप्न की दृष्टि से ही "मृतक व्यक्ति" का अध्याहार किया है। "नव अरत्नीन्"=अरत्नि का अर्थ "मुट्ठि" भी होता है। यथा अरत्निः=sometimes the fist itself (आपटे), अर्थात् कभी-कभी अरत्नि का अर्थ मुट्ठि भी होता है। अङ्गूठे के मूलभाग से यदि मुट्ठि को नापा जाय, तो प्रायः करके औसतन ९ मुट्ठियों के परिमाण वाला शरीर होता है। अतः "नव अरत्नीन्" का अभिप्राय है—९ मुट्ठि परिमाण वाला शरीर। उस समग्र शरीर से दुःस्वप्न को निकाल देना, यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। अपमयाः=अप+मय् (गतौ)। निर्दयामसि=निर्+दय् (गतौ, हिंसा)।]

सूक्त ५८

१-६ ब्रह्मा । यज्ञः, बहुदैवत्यम् ।

४१८. घृतस्य॑ जू॒तिः सम॑ना सदे॑वा संवत्स॒रं ह॒विषा॑ व॒र्धय॑न्ती ।

श्रोत्रं॒ चक्षुः॑ प्रा॒णोऽच्छि॑न्नो नो अ॒स्त्वच्छि॑न्ना व॒यमायु॑षो॒ वर्च॑सः ॥१॥

(समना) मननपूर्वक, तथा (सदेवा) यज्ञवेत्ता विद्वानों के सहयोग-पूर्वक (संवत्सरम्) वर्षभर सम्पादित (हविषा) हविः समेत (घृतस्य) घृत [की आहुतियों] का (जूतिः) वेग (संवत्सरम्) वर्षभर (वर्धयन्ती) वृद्धि करता रहता है। इस से (नः) हमारा (श्रोत्रम्) श्रवणसामर्थ्य (चक्षुः) चक्षुःसामर्थ्य (प्राणः) प्राण (अच्छिन्नः अस्तु) निरन्तर बना रहता है; और (वयम्) हम (आयुषः) आयु से (वर्चसः) तेज से (अच्छिन्नाः) वियुक्त नहीं होते।

[बड़े-बड़े यज्ञों में वर्षभर दी गई आहुतियां, वेग से ऊंचे अन्तरिक्ष में पहुंच कर, चारों ओर फैल कर, सब के लिये सुखदायक होतीं, और दीर्घ आयु करती हैं।]

४१९. उपा॒स्मान् प्रा॒णो ह्व॑यता॒मुप॑ व॒यं प्रा॒णं ह॑वामहे ।

वर्चो॑ जग्राह पृथि॒व्य॒१न्तरि॑क्षं॒ वर्चः॒ सोमो॒ बृह॒स्पति॑र्विध॒त्ता ॥२॥

(प्राणः) प्राणों का प्राण परमेश्वर [यज्ञों द्वारा प्रसन्न होकर] (अस्मान्) हम यज्ञकर्त्ताओं को (उप ह्वयताम्) अपने समीप बुला ले [यह हमारी प्रार्थना है]। और (वयम्) हम भी (प्राणम्) प्राणों के प्राण परमेश्वर को (उप) उपासना विधि द्वारा (हवामहे) सहायतार्थ पुकारते

हैं। यज्ञों द्वारा (पृथिवी) पृथिवीस्थ पदार्थों तथा पृथिवीस्थ प्रजाजन ने (वर्चः) तेज (जग्राह) ग्रहण किया है। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्थ वायु आदि ने, (सोमः) चन्द्रमा की किरणों ने, (विधत्ता=विधर्ता) तथा सब का धारण करनेवाले (बृहस्पतिः) सूर्य ने, उसकी किरणों ने (वर्चः जग्राह) तेज ग्रहण किया है।

[यज्ञों द्वारा परमेश्वर प्रसन्न होता है, क्योंकि यज्ञों द्वारा परोपकार होता है। यज्ञों द्वारा सांसारिक अर्थात् सौरमण्डल के तत्त्व तेजः-सम्पन्न हो जाते हैं।]

४२०. वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्वर्चो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम। यशसं गावो गोपतिमुप तिष्ठन्त्यायतीर्यशो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम ॥३॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (वर्चसः) तेज के (संग्रहणो) संग्रह या सम्यक्-ग्रहण करनेवाले (बभूवथुः=बभूवतुः) हो गए हैं। (वर्चः) तेज का (गृहीत्वा) ग्रहण करके (पृथिवीम्) पृथीवी पर (अनु) निरन्तर (संचरेम) हम संचार करें, मिलकर विचरें। (आयतीः) गोचर से आती हुई (गावः) गौएं (यशसम्) अन्नवाले अर्थात् घास चारेवाले (गोपतिम्) गोस्वामी के (उप) समीप (तिष्ठन्ति) स्थित होती हैं। (यशः) अन्न को (गृहीत्वा) ग्रहण करके (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) निरन्तर (संचरेम) हम संचार करें, मिल कर विचरें।

[यज्ञों द्वारा द्युलोक की किरणें बलिष्ठ होकर वर्षा करतीं हैं, और पृथिवी अन्नादि का ग्रहण करती है। यज्ञों द्वारा घास चारा उत्पन्न होता है, और इस कारण गोपति गौओं का संग्रह कर सकता है। अन्नों के प्रभूत होने पर हम प्रसन्नतापूर्वक पृथिवी पर विचरते हैं। यशः=अन्न (निघं० २।७); धन (निघं० २।१०); उदक (निघं० १।१२)। यशसम्=अर्श-आद्यच्।]

४२१. व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि। पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोचमसो दृंहता तम् ॥४॥

(व्रजम्) गोशाला (कृणुध्वम्) बनाओ, (सः) वह गोशाला (हि) निश्चय से (वः नृपाणः) तुम मनुष्यों के दुग्धपान तथा रक्षा का साधन है। (बहुला=बहुलानि) बहुत तथा (पृथूनि) शरीर-विस्तारी (वर्मा=वर्माणि) कवचों या वस्त्रों को (सीव्यध्वम्) निर्मित करो, या सीओ। (आयसीः) लोहसमान मजबूत, अथवा लोहे के अस्त्रशस्त्रों से भरपूर, (अधृष्टाः) शत्रुओं द्वारा अपराभवनीय (पुरः) नगरों तथा दुर्गों का (कृणुध्वम्) निर्माण करो। (वः) तुम्हारे (चमसः) खानपान का पात्र (मा सुस्रोत्) न टपके, इसलिये (तम्) उसे (दृंहता) सुदृढ़ बनाओ।

[यज्ञों द्वारा स्वस्थ दीर्घायु वर्चस्वी तथा अन्नादि से सुरक्षित हो जाने पर, यत्न करो कि शत्रु तुम पर आक्रमण न कर सके। अतः शस्त्रास्त्रों कवचों, सुदृढ़ नगरों तथा दुर्गों का निर्माण भी करो।

४२२. यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥८॥

विश्वकर्मा (यज्ञस्य) संसार-यज्ञ का (चक्षुः) चक्षु है, (प्रभृतिः) आरम्भक है, (च) और (मुखम्) मुख है। उस के प्रति (वाचा) वाणी द्वारा, (श्रोत्रेण) श्रोत्र द्वारा, तथा (मनसा) मन द्वारा (जुहोमि) मैं आहुतियां देता हूं। (विश्वकर्मणा) विश्व के कर्त्ता द्वारा (विततम्) फैले हुए (इमं यज्ञम्) इस संसार-यज्ञ को (देवाः) विद्वान् तथा दिव्यगुणी जन (सुमनस्यमानाः) प्रसन्नचित्त होकर (यन्तु) प्राप्त हों।

[संसार को यज्ञ कहा है। संसार में यज्ञभावना करनी चाहिये। इस लिये संसार को पवित्र जानकर पवित्र भावना से संसार में कर्म करने चाहियें। संसार-यज्ञ का रचानेवाला विश्वकर्मा परमेश्वर है। संसार-यज्ञ के रचाने में परमेश्वर प्रथम चक्षुःरूप में संसार-यज्ञ के निर्मीयमाण स्वरूप का आलोचन अर्थात् ईक्षण करता है। तदनन्तर संसार-यज्ञ की रचना प्रारम्भ करता है। वही विश्वकर्मा संसारयज्ञ का आरम्भक है। मनुष्य-सृष्टि पैदा हो जाने पर वही विश्वकर्मा मानो मुखवाला होकर वेदों के द्वारा संसार-यज्ञ के रहस्यों का उपदेश करता है। यथा—"**प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः**" (यजु० ३२।४)। ऐसे विश्वकर्मा के प्रति प्रत्येक

मनुष्य को वाणी द्वारा स्तवन, श्रोत्र द्वारा उसका श्रवण, और मन द्वारा उस का मनन भेंट करने चाहियें। देव लोग प्रसन्नतापूर्वक इस संसार-यज्ञ में आवें, और इसे अभ्युदय निःश्रेयस का साधन समझ कर इसमें विचरें। प्रभृतिः=अथवा भरण-पोषण करने वाला[1]।]

४२३. ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम्।
इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥६॥

(देवानाम्) देवकोटि के (ये) जो देव (ऋत्विजः) ऋतु-ऋतु के अनुसार ऋतु-यज्ञ करते हैं, (च) और (ये) जो देव (यज्ञियाः) ऋतुयज्ञ न कर अध्यात्म-यज्ञ करते हैं, (येभ्यः) जिन इन दोनों प्रकार के देवों के लिये (हव्यं भागधेयम्) धारण-पोषणयोग्य हविष्यान्न का निश्चित भाग (क्रियते) दिया जाता है, (यावन्तः देवाः) ये जितने देव हैं, वे (पत्नीभिः सह) अपनी-अपनी पत्नियों के (सह) सहित (इमं यज्ञम्) इस ऋतुयज्ञ और अध्यात्म-यज्ञ में (एत्य) संमिलित होकर (तविषाः) वृद्धि को प्राप्त हों, और (मादयन्ताम्) हम प्रजाजनों को प्रसन्न करें।

[तविषाः=**तवतेर्वा स्याद् वृद्धिकर्मणः** (निरु० ९।३।२५)। ऋतु-याजी जल वायु अन्न आदि की शुद्धि तथा रोगनिवारण द्वारा; तथा अध्यात्मयाजी नैतिक-जीवन तथा निःश्रेयस के सदुपदेशों द्वारा समाजसेवा करते हैं। अतः उन के धारण-पोषण का भार भी प्रजाजनों को उठाना होता है। हविष्यान्न है—सात्विक अन्न।]

सूक्त ५९

१-३ ब्रह्म। अग्निः।

४२४. त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥१॥

(अग्ने) हे जगदीश्वर! (त्वम् देवः) आप देव (मर्त्येषु आ) मनुष्यों में (व्रतपाः) उनके सत्यधर्माचरण की रक्षा करनेवाले (असि) हैं। और (त्वम्) आप (यज्ञेषु आ) यज्ञों में (ईड्यः) स्तुति के योग्य हैं। [महर्षि

१. अथवा विश्वकर्मा संसार-यज्ञ का द्रष्टा अर्थात् निरीक्षक, आरम्भक या धारण-पोषण करनेवाला, तथा मुखिया है।

दयानन्द, यजुर्वेदभाष्य ४।१६ के आधार पर। आ=अध्यर्थे (निरु० आ (३२), ५।१।५)।]

४२८. यद् वों वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
अग्निष्टद् विश्वादा पृणातु विद्वान्त्सोमस्य यो ब्राह्मणाँ आविवेश ।।२।।

(देवाः) हे दिव्यगुणी विद्वानो ! (वः विदुषाम्) आप विद्वानों के दर्शाए (व्रतानि) सत्यधर्माचरण आदि व्रतों को (वयम्) हमने (यद्) जो (प्रमिनाम) तोड़ा है, जो हम कि (अविदुष्टरासः) आप की अपेक्षया अविद्या अर्थात् अज्ञानवाले हैं, (तत्) उसे (विश्वाद्) प्रलय में सब का भक्षण करनेवाला, (अग्निः) धर्मपथ पर चलानेवाला परमेश्वर (आ पृणातु) हमें शक्ति प्रदान करके पूरित करदे, (यः) जो परमेश्वर कि(सोमस्य विद्वान्) भक्तिरस को जानता हुआ, (ब्राह्मणान्) ब्रह्मवेत्ताओं में (आ विवेश) आ प्रकट होता है। [अग्निः="अग्ने नय सुपथा" (यजु० ४०।१६।)]

४२६. आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम् ।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात् स इद्धोता सोऽध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति ।।३।।

(देवानाम्) प्राकृतिक देवों के (पन्थाम्) मार्ग को (अपि) भी (आ अगन्म) हम प्राप्त हुए हैं, उस मार्ग पर भी हम चले हैं, (यद्) यदि (तद्) उस मार्ग को (अनु) निरन्तर (प्रवोढुम्) निभा सकने, उस पर चल सकने में (शक्नवाम) हम समर्थ हो जांय। (विद्वान्) सर्वज्ञ (सः) वह (अग्निः) व्रतों के पथ पर ले चलनेवाला, चलानेवाला परमेश्वर (यजात्) हमारे इन व्रतयज्ञों को सफल करे। क्योंकि (सः इत्) वह ही (होता) शक्तिदाता है, (सः) वह (अध्वरान्) हिंसारहित यज्ञों को (कल्पयाति) सामर्थ्य-सम्पन्न करता है। (सः) वही (ऋतून्) तदनुकूल समयों को सामर्थ्य-सम्पन्न करता है।

[मन्त्र २ में "विदुषां देवानाम्" के व्रतों पर चलने का वर्णन हुआ है। मन्त्र ३ में प्राकृतिक देवों के पथ पर चलने का वर्णन है। प्राकृतिक देवों, अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु के व्रत अर्थात् कर्म परमेश्वर के अधीन हैं। इसलिये इन के व्रत अटूट हैं। इन पर निरन्तर चल सकना मनुष्यों के लिये अति कठिन है। इसलिये परमेश्वर से शक्ति की प्रार्थना की गई है।]

सूक्त ६०

१-२ ब्रह्मा । वाक्, अङ्गानि च ।

४२७. वाङ् म आसन् नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।

अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥१॥

हे परमेश्वर ! (मे) मेरे (आसन्) मुख में (वाक्) वक्तृत्वशक्ति हो, (नसोः) दोनों नथुनों में (प्राणः) प्राणशक्ति तथा प्राणवायु का संचार हो, (अक्ष्णोः) दोनों आंखों में (चक्षुः) दृष्टिशक्ति हो, (कर्णयोः) दोनों कानों में (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति हो। (केशाः) मेरे केश (अपलिताः) भूरे-सुफेद न हों, (दन्ताः) दान्त (अशोणाः) न हिलें, अर्थात् दृढ़ हों, और न शोणितवर्ण के हों, (बाह्वोः) दोनों बाहुओं में (बहु बलम्) बहुत बल हो।

४२८. ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।

प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥२॥

(ऊर्वोः) दोनों पट्ठों में (ओजः) ओज हो, (जङ्घयोः) दोनों टांगों में (जवः) वेग हो, (पादयोः) दोनों पैरों में (प्रतिष्ठा) दृढ़ स्थिति की शक्ति हो। (मे) मेरे (सर्वा=सर्वाणि) सब अङ्ग (अरिष्टानि) स्वस्थ हों। (आत्मा) मेरी आत्मा (अनिभृष्टः) अधःपतित न हो। [अनिभृष्टः=अ+नि+भृश् (अधःपतने)। अरिष्टानि=अ+रिष् (हिंसायाम्)।]

सूक्त ६१

१ ब्रह्मा । ब्रह्मणस्पतिः ।

४२९. तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय ।

स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥१॥

(तन्वा) सूक्ष्मशरीरसमेत (मे तनूः) मेरा स्थूल शरीर (सहे) सहनशक्ति से सम्पन्न हो; (दतः) प्रत्येक दान्त की (सर्वम् आयुः) पूर्ण आयु (अशीय) मैं प्राप्त करूं। (मे) मेरे (स्योनम्) सुखसम्पन्न हृदय में, हे परमेश्वर ! (सीद) आप विराजिये। (पुरुः) पालन करनेवाले आप (पृणस्व) मेरी पालना कीजिये; (स्वर्गे) और सुखी हृदय में (पवमानः) वास कर मुझे पवित्र कीजिये।

[मन्त्र का देवता है—"ब्रह्मणस्पतिः", ब्रह्म अर्थात् वेदों का पति स्वामी और रक्षक परमेश्वर। स्वर्ग=**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ अथर्व० १०।२।३१)**। अर्थात् आठ चक्रों वाली, नौ द्वारों वाली देवों की पुरी है, जो कि अयोध्या है। उस पुरी (=शरीर) में सुवर्णघटित एक कोश (=हृदय) है, जिसे कि स्वर्ग कहते है, जो कि ब्राह्मी ज्योति से घिरा हुआ है।

सूक्त ६० और ६१ में परमेश्वरीय सहायता के साथ-साथ, स्वयं भी दृढ़ संकल्प और तदनुकूल उपायों के अवलम्बन द्वारा इष्टसिद्धि हो सकती है—इस का वर्णन हुआ है।]

सूक्त ६२

१ ब्रह्मा। ब्रह्मणस्पतिः।

४३०. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥१॥

हे परमेश्वर! (देवेषु) दिव्यगुणी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों में (मा) मुझे (प्रियं कृणु) प्रिय कीजिये। (राजसु) राजाओं तथा क्षत्रियों में (मा) मुझे (प्रियं कृणु) प्रिय कीजिये। (उत) और (शूद्रे) शूद्रों में, (उत) तथा (आर्ये=अर्ये) श्रेष्ठ आचरण वाले वैश्यों में, और (पश्यतः) देखने सुननेवाले (सर्वस्य) सब प्राणियों का (प्रियम्) प्रिय मुझे कीजिये।

[मन्त्र में सर्वभूतमैत्री की भावना ओतप्रोत है। देवेषु=ब्राह्मण को "भूदेवाः" भी कहते हैं। शूद्रे=शु(आशु) द्रवति कार्येषु इति शूद्रः=स्वस्थ शरीर होने के कारण शिल्प आदि कार्यों में शीघ्रतापूर्वक काम करनेवाले। आर्ये=अर्ये=आर्य (श्रेष्ठ), अर्य=स्वामी और वैश्य।]

सूक्त ६३

१ ब्रह्मा। ब्रह्मणस्पतिः।

४३१. उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥१॥

(ब्रह्मणस्पते) हे वेदों के पति विद्वान् ! (उत् तिष्ठ) आप उठिये, सक्रिय हूजिये, और (यज्ञेन) निज यज्ञिय व्यवहारों द्वारा (देवान्) दिव्य-गुणी जनों को (बोधय) जगाइये। (च) और (यजमानम्) यज्ञियकर्मों के करनेवाले को, (आयुः) तथा हमारी आयुओं, (प्राणम्) जीवनों, (प्रजाम्) सन्तानों, (पशून्) पशुओं, (कीर्तिम्) और कीर्ति को (वर्धय) बढ़ाइये।

[वैदिक विद्वानों को चाहिये कि वे निज यज्ञिय-आचरणों द्वारा दिव्य-गुणी जनों को सजग कर सब जनों की वृद्धि करें। मन्त्र में ब्रह्मणस्पति पद द्वारा ब्रह्माण्ड तथा वेदों के स्वामी परमेश्वर का भी वर्णन है। परमेश्वरार्थ में "उत् तिष्ठ" का अभिप्राय "हृदय में प्रकट होना" है; तथा "यज्ञेन" का अभिप्राय है—"यज्ञिय भावनाओं की प्रेरणा द्वारा"।]

सूक्त ६४

१–४ ब्रह्मा। अग्निः।

४३२. अग्ने॑ स॒मिध॒माहा॑र्षं बृह॒ते जा॒तवे॑दसे।
स मे॑ श्र॒द्धां च॑ मे॒धां च॑ जा॒तवे॑दाः॒ प्र य॑च्छतु ॥१॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (जातवेदसे) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान, (बृहते) तथा महान् तेरे प्रति (समिधम्) समिधा (आहार्षम्) मैं लाया हूं। (सः) वह (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्नि (मे) मुझे (श्रद्धाम्) सत्य को धारण करने की शक्ति, (च) और (मेधाम्) बुद्धि (प्र यच्छतु) प्रदान करे।

[इस सूक्त द्वारा ब्रह्मचारी अग्नि में इन्धन तथा समिधाओं का आधान करता है, जो काष्ठौषध सात्त्विक और मेधाजनक हों। उनके इन्धन और उनकी समिधाओं के प्रयोग से यज्ञोत्थ धूम्र मन को श्रद्धामय, और बुद्धि को पढ़े-सुने को धारण करने में समर्थ बनाता है। श्रद्धा=श्रत् सत्यनाम (निघं० ३।१०)+धा (धारणे)। मेधा=धीः धारणावती, बुद्धि मेधृ संगमे।]

४३३. इ॒ध्मेन॑ त्वा जातवेदः स॒मिधा॑ वर्धयामसि।
तथा॒ त्वम॒स्मान् व॑र्धय प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च ॥२॥

(जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्नि ! (इध्मेन) इन्धन द्वारा, और (समिधा) समिधाओं द्वारा (त्वा) तुझे (वर्धयामसि) हम बढ़ाते हैं। (तथा) उसी प्रकार (त्वम्) तू (अस्मान्) हमें (वर्धय) बढ़ा, (प्रजया च) प्रजा द्वारा (च धनेन) और धन द्वारा।

[आचार्यकुल के ब्रह्मचारियों में सत्कार्यों के सम्बन्ध में श्रद्धा और मेधावृद्धि द्वारा पढ़ने में समुन्नति देखकर आचार्यकुल में ब्रह्मचारी (प्रजा) अधिकाधिक प्रविष्ट होकर संख्या बढ़ाते, और राज्य तथा प्रजाजनों द्वारा उन्हें धन की सहायता मिलती रहती है।]

४३४. यदग्ने यानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥३॥

(यविष्ठ्य) वस्तुओं के संयोग-विभाग अर्थात् मिश्रण और अमिश्रण में समर्थ (अग्ने) हे अग्नि ! (ते) तेरे लिये (यानि कानिचिद्) जो कोई भी (दारूणि) काष्ठ अर्थात् इन्धन और समिधाएं (आ दध्मसि) तुझ में हम आधान करते हैं, (तद् सर्वम्) वह सब प्रकार का काष्ठ (मे) मुझ प्रत्येक ब्रह्मचारी को (शिवम्) कल्याणकारी (अस्तु) हो, (तत्) उस काष्ठ को (जुषस्व) तू सेवन कर।

[कविता की दृष्टि से जड़ अग्नि का सम्बोधन किया गया है। सात्त्विक और मेधावर्धक ओषधि-वनस्पतियों के इन्धन और समिधाओं के अभाव में, किसी भी काष्ठ का प्रयोग अग्निहोत्र के लिये किया जा सकता है, ताकि अग्निहोत्र-व्रत भंग न होने पाए। यविष्ठ्य=यु मिश्रणामिश्रणयोः।]

४३५. एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद् भव ।
आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय ॥४॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (एताः) ये (ते) तेरे लिये (समिधः) समिधाएं हैं, इन के द्वारा (त्वम्) तू (इद्धः) संदीप्त होकर (समिद् भव) हमें संदीप्त कर, कान्तिमान् कर। (अस्मासु) हम ब्रह्मचारियों में (आयुः) दीर्घ और स्वस्थ आयु (धेहि) स्थापित कर। और (आचार्याय) आचार्य के लिये (अमृतत्वम्) दीर्घजीवन प्राप्त कर।

[यज्ञों और अग्निहोत्र के द्वारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से

व्यक्ति कान्ति-सम्पन्न होता, और दीर्घ तथा स्वस्थ आयु प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी निज आचार्य के लिये भी दीर्घ और स्वस्थ आयु चाहते हैं।]

सूक्त ६५

१ ब्रह्मा । जातवेदाः ।

४३६. हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्। अव तां जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमा रोह सूर्य ॥१॥

(सूर्य) हे आदित्य ब्रह्मचारिन ! तू (हरिः) अविद्यास्मिता आदि क्लेशों का अपहरण किये हुये है, (सुपर्णः) तू रश्मि के सदृश प्रकाशमान है, (अर्चिषा) और योगजन्य ज्योति के सहारे (दिवम्) शिरःस्थ सहस्रार चक्र तक (आरुहः) तू आरोहण कर चुका है। दैनिक योगाभ्यास में (दिवम्) शिरःस्थ सहस्रार चक्र की ओर (उत् पतन्तम्) ऊपर आरोहण करते हुए (त्वा) तेरे साथ (ये) जो राजसी-तामसी शक्तियां (दिप्सन्ति) दम्भाचरण करती हैं, (तान्) उन्हें (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ ! (हरसा) निज प्रत्याहार या अपहरणशक्ति द्वारा (अव जहि) मार गिरा। और (अबिभ्यत्) भयरहित होकर। (अर्चिषा उग्रः) तथा योगजन्य ज्योति द्वारा उग्र होकर (दिवम्) शिरःस्थ सहस्रार चक्र तक (आ रोह) आरोहण करता रह।

[सूक्त ६४में ब्रह्मचारियों का वर्णन हुआ है। उच्च कोटि का ब्रह्मचारी आदित्य ब्रह्मचारी होता है, जिसे कि ६५वें सूक्त में सूर्य कहा है। सुषुम्णा नाड़ी में आठ चक्र होते हैं, जो कि प्रकाश के केन्द्र हैं। मूलाधार चक्र से ऊपर के चक्रों में आरोहण करते हुए योगी को सहस्रार चक्र तक आरोहण करना होता है, जो कि शिरःस्थ मस्तिष्क में विद्यमान है। तदनन्तर योगी ऊर्ध्व-नाड़ी द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। मन्त्र में "दिवम्" द्वारा शिरःस्थ सहस्रार चक्र का वर्णन हुआ है। दिव्=सिर। यथा—"**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजु०३१।१३); तथा "**दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**" (अथर्व० १०।७।३२)। आध्यात्मिक दृष्टि में दिव् या द्यौः सिर या मस्तिष्क है, जिसमें सहस्रार चक्र सूर्यरूप में स्थित है। योगाभ्यास में राजसी और तामसी प्रलोभन योगी को पथभ्रष्ट भी कर सकते हैं, जिनकी ओर कि योगदर्शन में "**स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-**

प्रसंगात्" (३।५१) द्वारा दर्शाया है। इन प्रलोभनों से योगी को बचे रहना चाहिये। आधिदैविक दृष्टि में द्युलोकस्थ सूर्य का भी वर्णन है। सूर्य क्षितिज से उठकर द्युलोक की ओर आरोहण करता है। कभी-कभी बादलों कोहरे धूल तथा सूर्य-ग्रहण आदि के कारण उदित हुआ-हुआ सूर्य दृष्टि-गोचर नहीं भी होता। ये मानो सूर्योदय के दर्शन में बाधक होते हैं। सूर्य की उग्र किरणें जब बादल आदि का अपहरण कर देती हैं, तो सूर्य द्युलोक में आरूढ़ हुआ दृष्टिगोचर होने लगता है। मन्त्र में मुख्य भावना आध्यात्मिक है। सुपर्णाः रश्मिनाम (निघं० १।५)।]

सूक्त ६६

१ ब्रह्मा। जातवेदाः, सूर्यो वज्रश्च।

४३७. अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति।
तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रऋष्टिः सपत्नान् प्रमृणन्
पाहि वज्रः ॥१॥

(अयोजालाः) सुवर्णरूपी जालोंवाले, (मायिनः) छल-कपट से युक्त, (अयस्मयैः) सुवर्णप्रचुर (पाशैः) फंदों द्वारा (अङ्किनः) अङ्कित अर्थात् चिह्नित (ये) जो (असुराः) आसुर विचार (चरन्ति) तेरे मन में विचरते हैं, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ! (ते) तेरे (तान्) उन आसुर विचारों को (हरसा) निज हरण करने के सामर्थ्य द्वारा (रन्धयामि) मैं परमेश्वर तेरे वश में करता हूं। तू (सहस्रऋषिः) हजार धाराओं वाला (वज्रः) वज्र हो कर (सपत्नान्) आसुर विचाररूपी शत्रुओं का (प्रमृणन्) हनन करता हुआ (पाहि) आत्म-रक्षा कर।

[अयः=अयस्=हिरण्यनाम (निघं० १।२)। योगाभ्यासी को धन-सम्पत् प्राप्ति की लालसा योगविरोधिनी है। धन-सम्पत् प्राप्ति के विचार आसुर विचार हैं। योग में सफलता के लिये पूर्ण वैराग्य की आवश्यकता होती है। धन-सम्पत् को जाल और पाश कहा है। धन के जाल में बन्धा, और धन के फंदो में फंसा "मन" योग में उन्नति नहीं कर सकता। परमेश्वर की सहायता तो सच्चे योगाभ्यासी को ही प्राप्त होती है, परन्तु तभी

जब कि अभ्यासी स्वयं भी उग्ररूप होकर, वज्ररूप होकर, आसुर विचारों का हनन करता रहे ।]

सूक्त ६७

१—८ ब्रह्मा । सूर्यः ।

४३८. पश्येम शरदः शतम् ॥१॥ ४३९. जीवेम शरदः शतम् ॥२॥

४४०. बुध्येम शरदः शतम् ॥३॥ ४४१. रोहेम शरदः शतम् ॥४॥

४४२. पूषेम शरदः शतम् ॥५॥ ४४३. भवेम शरदः शतम् ॥६॥

४४४. भूयेम शरदः शतम् ॥७॥ ४४५. भूयसीः शरदः शतात् ॥८॥

(शतं शरद.) सौ वर्ष (पश्येम) हम देखते रहें ॥१॥ (शतं शरदः) सौ वर्ष (जीवेम) हम जीवित रहें ॥२॥ (शतं शरदः) सौ वर्ष (बुध्येम) हम बोध प्राप्त करते रहें ॥३॥ (शतं शरदः) सौ वर्ष (रोहेम) हम समुन्नत होते रहें ॥४॥ (शतं शरदः) सौ वर्ष (पूषेम) हम पुष्ट रहें ॥५॥ (शतं शरदः) सौ वर्ष (भवेम) हम बने रहें ॥६॥ (शतं शरदः) सौ वर्ष (भूयेम) हे परमेश्वर ! आप के आशीर्वाद से हम बने रहें ॥७॥ (शतात्) सौ से (भूयसीः) अधिक (शरदः) वर्ष हम देखते, जीवित रहते, बोध प्राप्त करते, समुन्नत, परिपुष्ट रहें, और सत्तावान् हों ।

[इन ८ मन्त्रों का देवता सूर्य कहा है । सूर्य से अभिप्राय प्रेरक तथा सूर्यों के सूर्य परमेश्वर का है । सौरमण्डलों के केन्द्र सूर्य होते हैं । इन केन्द्रों में परमेश्वरीय शक्ति कार्य कर रही होती है । इसीलिये कहा है कि—"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)।]

सूक्त ६८

१ ब्रह्मा । वेदोक्तं कर्म

४४६. अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया ।
तान्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥१॥

(अव्यसः=अव्यचसः च) अव्यापक के (व्यचसः च) और व्यापक के (बिलम्) भेद को (मायया) वैदिक प्रज्ञा द्वारा (वि ष्यामि) मैं खोलता

हूं, प्रकट करता हूं। (ताभ्याम्) उन अव्यापक और व्यापक के परिज्ञान के लिये (वेदम् उद्धृत्य) वेद का उद्धरण कर या उदाहरण देकर (अथ) तदनन्तर (कर्माणि) कर्मों को (कृण्महे) हम करते हैं।

[व्यचसः=वि+अञ्च् (गतौ)+असुन्। अव्यसः=अ+व्यच्+असुन्। चकारलोपः छान्दसः। बिलम्=बिलमं=भिलमं भासनमिति वा (निरु० १।६।२०); अर्थात् भेद को प्रकाशित करना। व्यापक है परमेश्वर, और अव्यापक है जीवात्मा और जगत्। इन के स्वरूपों का परिज्ञान वेद द्वारा होता है। निज उन्नति और मोक्ष के लिये जो भी कर्म किये जांय, वे वेदोक्त होने चाहियें, उनके लिये वैदिक प्रमाण होने चाहियें।]

सूक्त ६९

१–४ ब्रह्मा। आपः।

४४७. जी॒वा स्थ॑ जी॒व्यासं॒ सर्वं॒मायु॑र्जीव्यासम् ॥१॥

हे आप्तजनो! (जीवाः स्थ) आप वस्तुतः जीवित हैं। (जीव्यासम्) मैं आपके जीवनों जैसा जीऊं, (सर्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु (जीव्यासम्) मैं आप के जीवनों जैसा जीऊं ॥१॥

४४८. उ॒प॒जी॒वा स्थोप॑ जीव्यासं॒ सर्वं॒मायु॑र्जीव्यासम् ॥२॥

आप (उपजीवाः) उपजीव्य अर्थात् जीवनों के आश्रय (स्थ) हैं। (उप जीव्यासम्) मैं भी अन्यों के लिये उपजीव्य अर्थात् जीवन का आश्रय बनकर जीऊं। (सर्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु (जीव्यासम्) ऐसे जीऊं। [उपजीवाः=उपजीव्याः (सायणाचार्य)।]

४४९. सं॒जी॒वा स्थ॒ सं जी॑व्यासं॒ सर्वं॒मायु॑र्जीव्यासम् ॥३॥

आप (संजीवाः) सामाजिक जीवनों वाले (स्थ) हैं। (सं जीव्यासम्) मैं भी सामाजिक जीवनवाला होकर जीऊं। (सर्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु (जीव्यासम्) सामाजिक जीवन में जीऊं।

४५०. जी॒व॒ला स्थ॑ जी॒व्यासं॒ सर्वं॒मायु॑र्जीव्यासम् ॥४॥

आप (जीवलाः) जीवनदाता (स्थ) हैं। (जीव्यासम्) मैं आप के द्वारा जीवन ग्रहण कर जीऊं। (सर्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु इस प्रकार (जीव्यासम्)

जीऊं। [सूक्त का देवता "आपः" कहा है। "आपः" द्वारा जलसदृश शान्त, तथा जीवनोपदेशों द्वारा जीवन प्रदान करनेवाले "आप्तजन" अभिप्रेत हैं। जीवलाः=जीव (जीवन)+ला (दानेऽपि)।]

सूक्त ७०

१ ब्रह्मा। इन्द्रसूर्यादयः।

४५१. इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम्।
सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥१॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्य-सम्पन्न चतुर्थाश्रमिन्! (जीव) आप पूर्ण आयु तक जीवित रहें; (सूर्य) हे सूर्यवत् प्रकाश देनेवाले आदित्य ब्रह्मचारिन्! आप (जीव) पूर्ण आयु तक जीवित रहें; (देवाः) हे माता-पिता तथा आचार्य देवो! (जीवाः, भवत) आप पूर्ण आयु तक जीवित रहें; (अहम्) मैं भी (जीव्यासम्) जीवित रहूं, (सर्वम् आयुः) पूर्ण सौ वर्षों की आयु-पर्यन्त (जीव्यासम्) मैं जीवित रहूं।

[इन्द्र=**आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी** ॥ (अथर्व० ११।५।१६) में ब्रह्मचारी के पश्चात् प्रजापति अर्थात् गृहस्थी होना, प्रजापति के पश्चात् विराट् अर्थात् वान-प्रस्थी होना, और तदनन्तर वशी होकर इन्द्र अर्थात चतुर्थाश्रमी होने का विधान है।]

सूक्त ७१

१ ब्रह्मा। गायत्री।

४५२. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥१॥

(मया) मैंने (वरदा) इष्टफल देनेवाली (वेदमाता) वेदरूपी माता का (स्तुता) स्तवन अर्थात् अध्ययन कर लिया है। (प्र चोदयन्ताम्) हे गुरुजनो! इस का मुझे और प्रवचन कीजिये। (द्विजानाम् पावमानी) द्विजन्मों को यह वेदमाता पवित्र करती है। (आयुः) स्वस्थ और दीर्घ

आयु, (प्राणम्) प्राणविद्या, (प्रजाम्) उत्तम सन्तानों, (पशुम्) पशुपालन, (कीर्तिम्) पुण्य और यश, (द्रविणम्) धनोपार्जनविद्या, (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्म के तेजःस्वरूप का परिज्ञान इनका सदुपदेश (मह्यं दत्त्वा) मुझे दे कर, हे गुरुजनो ! (ब्रह्मलोकम्) आलोकमय ब्रह्म तक (व्रजत=व्राजयत) मुझे पहुंचाइये ।

[वेदमाता=मन्त्र का देवता गायत्री है, इस प्रकार अथर्ववेद-सर्वानुक्रमणीकार को अभिमत है। यदि गायत्री का अभिप्राय है "प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र", तो यह "**स्तुता मया वरदा**" मन्त्र द्वारा अनुक्त है।"**या तेन प्रोच्यते सा देवता**" के अनुसार "देवता" मन्त्रप्रोक्त होनी चाहिये। गायत्री तो स्वयं मन्त्र है। यथा—"**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्**"। इस गायत्रीमन्त्र के सम्बन्ध में कोई वर्णन "**स्तुता मया वरदा**"इस मन्त्र में नहीं है। तथा समग्र अथर्ववेद में कहीं भी प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र पठित भी नहीं हैं। प्रकरणानुसार भी "वेदमाता" का अर्थ वेदरूपी माता ही उपयुक्त प्रतीत होता है। सूक्त ६८ में "**वेदमथ**" द्वारा वेद का वर्णन है। और सूक्त ७२ में भी "**कोशादुदभराम वेदम्**" द्वारा वेद का ही वर्णन है। इसलिये "वेदमाता" शब्द द्वारा वेदरूपी माता अर्थात् "वेदवाणी" ही अभिप्रेत है। वेदवाणी मातृसदृश उपकारिणी है। इस वेदमाता का ही स्तवन अर्थात् अध्ययन अथर्ववेद के १से १९ काण्डों तक अभिप्रेत प्रतीत होता है, जिस की ओर कि निर्देश "**स्तुता मया वरदा वेदमाता**"द्वारा किया गया हैं। अथवा—गायत्री=**गायतः स्तोतृन् त्रायते" इति गायत्री=वेदवाणी** (=वेदः)। इस प्रकार "स्तुता" पद द्वारा गायत्री अर्थात वेदवाणी अभिप्रेत हो सकती है।

व्रजत=णिच् का लोप छान्दस है। ब्रह्मलोकम्=ब्रह्मदर्शन; लोकृ दर्शने यथा—"**सर्वलोकं म इषाण**"(यजु०३१।२२) में सर्वलोकम्="सब के दर्शन को" (महर्षि दयानन्द भाष्य)। "प्र चोदयन्ताम्" तथा "व्रजत ब्रह्मलोकम्" =इन पदों द्वारा अभिकांक्षी और अधिक प्रवचन चाहता हुआ, और ब्रह्म-लोक तक पहुंचना चाहता हुआ, काण्ड २० वें के उपदेश या प्रवचन की प्रार्थना करता है। अभी तक मुख्यरूप से अभिकांक्षी ने आयुः, प्राण, प्रजा पशु, कीर्ति, द्रविण का प्रवचन गुरुमुख से सुना है। ब्रह्मदर्शन(=ब्रह्मलोक) का वह मुख्यरूप से प्रवचन अभी तक नहीं सुन पाया, जिसका कि वर्णन २० काण्ड में है।]

सूक्त ७२

१ भृग्वङ्गिराः ब्रह्मा । परमात्मा देवाश्च ।

४५९३. यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् ।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥१॥

(यस्मात्) जिस (कोशात्) परमात्मरूपी खजाने से (वेदम्) वेद को (उद् अभराम) हम ने लिया था, (तस्मिन् अन्तः) उसी के भीतर (एनम्) इसे (अवदध्मः) हम रख देते हैं उसे समर्पित कर देते हैं । क्योंकि (ब्रह्मणः) वेद या परमेश्वर से प्राप्त (वीर्येण) सामर्थ्य द्वारा हमने (इष्टम्) अभीष्ट सिद्ध (कृतम्) कर लिया है । (तेन तपसा) अब उस प्रसिद्ध आध्यात्मिक तप के कारण (देवाः) हे आध्यात्मिक गुरुदेवो ! (इह) इस जीवन में (मा अवत) मेरी रक्षा कीजिये ।

[मन्त्र के देवता परमात्मा और देव अर्थात् गुरुजन हैं । परमेश्वर के अनुग्रह से हमें वेद की प्राप्ति हुई है । मन्त्र में काण्ड १ से काण्ड १९ तक के वेद का वर्णन है, जिसमें कि अपराविद्या का प्रधानरूप से, और पराविद्या का संक्षेपरूप में वर्णन हुआ है। इतने वेदभाग द्वारा अपराविद्या के कर्मों का वर्णन हुआ है, तभी कहा है कि **"ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे"** (अथर्व० १९।६८) । इस में "कर्माणि कृण्महे" द्वारा अपराविद्या द्वारा निष्पाद्य कर्मों का वर्णन किया है । अपराविद्या द्वारा निष्पादित कर्मों का वर्णन सूक्त ७१ में हुआ है । आयुः, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण—ये अपराविद्या द्वारा साध्य कर्म हैं । "ब्रह्मवर्चस" पराविद्यासाध्य है । आयु आदि ६ कर्म हैं, और "ब्रह्मवर्चस" एक कर्म । इसलिये १ से १९ काण्डों में अपराविद्यासाध्य कर्मों का प्राधान्य है, और पराविद्यासाध्य यौगिक उपायों का अप्राधान्य है । "कृतमिष्टम्" द्वारा आयु आदि अभीष्ट फलों की सिद्धि सम्पन्न हो गई । शेष रहती है आध्यात्मिक इष्टसिद्धि, जिस के लिये आध्यात्मिक गुरुओं से प्रार्थना की गई है । कर्मसाध्य इष्टफलों के लिये एक प्रकार का तप करना होता है, और आध्यात्मिक इष्टफलों की सिद्धि के लिये पूर्ण वैराग्य आदि रूप तप करना होता है । अपराविद्यासाध्य इष्टों के सिद्ध हो जाने पर, इनका साधक १से १९ काण्ड तक के वेद को परमे-

स्वरार्पण कर देता है, यह अभिप्राय "अवदध्म एनम्" द्वारा सूचित किया गया है । "तेन वा तपसावत्तेह" द्वारा आध्यात्मिक तप और तद् द्वारा प्राप्य अभीष्ट सिद्धि के लिये, २०वें कण्ड के परिज्ञान के लिये गुरुओं से प्रार्थना की गई है ॥[1]

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥

श्री पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्त्तण्ड कृत
'अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड का'
अध्यात्म-भाष्य पूरा हुआ ॥

---

१. "उद्धृत्य वेदम्" (सूक्त ६८।१) अर्थात् वेद को ऊपर उठाकर, और "**कोशात् उदभराम वेदम्**" (सूक्त ७२।१) अर्थात् पेटी से वेद को हमने ऊपर उठाया या निकाला है, तथा "**तस्मिन्नन्तरवदध्म एनम्**" (सूक्त ७२।१) अर्थात् उस पेटी में इस वेद को हम नीचे रखते हैं,— इन वर्णनों के द्वारा वेद के लिखित हो सकने की भी सूचना दी गई है । कोश का अर्थ पेटी होता ही है । अथर्व० (७।५२।५) में "**संलिखितम्**" शब्द पठित है । इसका अर्थ है—लिखा गया या लिखा हुआ । "लिख्" का अर्थ होता है—"अक्षरों का विन्यास" । इस के द्वारा भी वेद ने लिखने का निर्देश दिया है । इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का मन्त्र भी महत्त्वपूर्ण है । यथा—"**उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्**" (१०।७१।४) । अर्थात् "एक वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, और एक वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता" । वाणी को "देखना" और वाणी को "सुनना" पृथक्-पृथक् क्रियायें हैं । देखना दृष्टि का काम है, और सुनना कान का । वाणी तभी देखी जा सकती है, जब कि वाणी लिखित रूप में हो ।

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

१.	**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**-सं०-यु०मी०	१००.००
२.	**भूमिकाभास्कर**-स्वा० विद्यानन्द सरस्वती- दो भागों में-	प्रथमभाग ३००.००, द्वितीयभाग २००.००
३.	**ऋग्वेदानुक्रमणी**-वेङ्कटमाधवकृत- व्याख्याकार- पं० विजयपाल जी विद्यावारिधि	५०.००
४.	**कात्यायनीया ऋक्सर्वानुक्रणी**- षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित	१५०.००
५.	**ऋग्वेद की ऋक्संख्या**- युधिष्ठिर मीमांसक	५.००
६.	**ऋग्वेदपरिचय**- पं० विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड	२५.००
७.	**माध्यन्दिनपदपाठः** (यजुर्वेद-पदपाठ)	१००.००
८.	**तैत्तिरीयसंहिता** (मूल) मन्त्रसूचीसहित	१२०.००
९.	**तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः**- दाक्षिणात्य पाठानुसारी	१८०.००
१०.	**अथर्ववेदीय-दन्त्योष्ठ्यविधि** अर्थात् अथर्ववेद का चतुर्थ लक्षण ग्रन्थ-पं० रामगोपाल शास्त्री	५.००
११.	**अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका**- भूमिका तथा सूचियों सहित-पं० रामगोपाल शास्त्री	६०.००
१२.	**गोपथब्राह्मण** (मूल)	८०.००
१३.	**वैदिक-निघण्टु-संग्रह**- डॉ० धर्मवीर	१००.००
१४.	**वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक- वेदविषयक सत्रह निबन्धों का संग्रह-	प्रथमभाग ७५.०० द्वितीयभाग १००.००
१५.	**वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**-	७०.००
१६.	**वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञामीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक	५.००
१७.	**वैदिकछन्दोमीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक	६०.००
१८.	**वैदिकस्वरमीमांसा**- युधिष्ठिर मीमांसक	६०.००
१९.	**वेदार्थभूमिका**- (हिन्दी)- स्वामी विद्यानन्द सरस्वती	२५.००
२०.	**वेदार्थभूमिका**- (संस्कृत)- स्वामी विद्यानन्द सरस्वती	३०.००
२१.	**वेदार्थभूमिका**- (हिन्दी-संस्कृत)- " " " "	५०.००

143867

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access on	V. Kumar	17/10/08
Class on	[signature]	29/10/08
Cat on	[signature]	
Tag etc.	V. Kumar	
Filing		
E.A.R.	[signature]	
Any others		
Checked		

Recommended By....... आचार्य एवं उपकुलपति

Entered in Database
[signature]
Signature with Date 29/10/08

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

भाष्यकार का परिचय

नाम– प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्त्तण्ड।

पत्नी– श्रीमती कुन्तीदेवी।

पिता– श्री लाला प्रीतमदास।

जन्म-स्थान– मार्च, १८८९ ई० में वजीराबाद, गुजरांवाला (पाकिस्तान) में।

शिक्षा– प्रारम्भिक शिक्षा वैदिक पाठाशाला गुजरांवाला में तथा बाद में स्नातक (सन् १९१४) तक गुरुकुल कांगड़ी में।

अध्यापन– सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त तथा सन् १९४२ में वहाँ से सेवामुक्त हुए।

अनुसन्धान– सन् १९२३-२४ में परोपकारिणी सभा अजमेर में। सन् १९५६-५७ आर्य सार्वदेशिक वाटिका में साथ ही 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी।

अन्य लेखन– १. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।
२. सन्ध्या-रहस्य।
३. वैदिक पशु-यज्ञ-समीक्षा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
८. अथर्ववेद-परिचय।

उपाधियाँ एवं पुरस्कार– विद्यालंकार, विद्यामार्त्तण्ड मानोपाधि, वेदवेदांग पुरस्कार (आर्यसमाज, सान्ताक्रुज, मुम्बई), गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार, पं० गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी; आर्यप्रतिनिधि सभा उ०प्र० तथा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा सम्मानित। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शन शास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ स्वर्णपदक और एक रजतपदक प्राप्त हुआ।

निधन– १०३ वर्ष की आयु में ११ मार्च सन् १९९१।